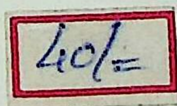
मानवता की ओर

महामण्डलेश्वर स्वामी महेशानन्द गिरि

श्रीदक्षिणामूर्ति ग्रन्थमाला—५

मानवता की ओर

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि महाराज
के
प्रवचनों का संग्रह



सम्पादक—
पण्डित भगीरथ पाण्डेय
आकाशवाणी, देहली

प्रकाशक :
श्री दक्षिणामूर्तिमठ
डी-४९/९, मिश्रपोखरा,
वाराणसी

द्वितीयावृत्ति अगस्त १९८६
दक्षिणामूर्ति जयन्ती, २०४३ वि०

मुद्रक : निर्मल चित्रण आगरा

वक्तव्य

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् (अथर्व वेद १६.१.१४)

इस पुस्तक का प्रकाशन पंडित भगीरथ पाण्डेय के भगीरथ प्रयत्न का फल है। व्याख्यान के समय इसका कोई विचार भी नहीं था। परन्तु अनेक भक्तों के आग्रह से व्याख्यान के पट्टलेखों (Tape-record) के आधार पर इनका संकलन हुआ है। प्रकाशन का सारा भार श्री हरकृष्ण कपूर ने उठाया है। कुमारी नीता पुरी ने मुखपृष्ठांकन को सुन्दर वनाया है। ये सभी भगवान विश्वनाथ की कृपा के अधिकारी हैं।

भारत ने महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ व नेता संसार को दिये हैं। परन्तु जन सामान्य का उत्थान आज के युग की मांग है। भारत में यह उत्थान आध्यात्मिकता ही हो सकता है। आशा है यह माला सामान्य जनवर्ग की उन्नति में सहायक होगी। आनन्दवाद हमारे निगमागम का सार है। यद्यपि इस माला में विशेषतः व्यक्ति को लेकर मानस विज्ञान क्षेत्र में ही विचार किया गया है तथापि आशा है कि शीघ्र ही समष्टि एवं सामाजिक विज्ञान के आधार से भी इसी दृष्टि को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा।

आगरा
कर्कार्क २०२१ वि०

महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि

प्राक्कथन

महामहिम सदाशिव की प्रेरणा से कतिपय नई दिल्ली निवासियों ने अनन्त श्री विभूषित निरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर पूज्यपाद स्वामी महेशानन्दगिरि महाराज जी से यह प्रार्थना की कि केवल ग्यारह दिन अपने वचनामृत से हमें कृतार्थ करें, जो किसी को स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं था कि उन व्याख्यानों का संग्रह भारतीय दर्शन साहित्य में एक अभूत-पूर्व देन सिद्ध होगा। आज इन व्याख्यानों को संकलित करके जिज्ञासुओं को ग्रन्थाकार रूप में भेंट करते समय परम पूज्यनीय महामण्डलेश्वर जी को हम किन शब्दों में अपना आभार प्रकट करें, यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है। उनका अनुग्रह, उनकी अनुकम्पा, उनकी विशालता असीम है।

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छाया समन्वितः
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते।

वे भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड ज्ञाता ही नहीं अपितु पाश्चात्य विचारों के भी सूक्ष्म आलोचक हैं। अमरीका में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में शंकराचार्य और हीगेल का तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन उन्होंने विद्वानों के सम्मुख भाषण रूप से रखा था, पर भारतवर्ष में अपने सतसङ्गों में वेदान्त का केवल भारतीय दृष्टिकोण से ही अधिकांश विचार प्रस्तुत करते हैं। कुछ उनके अधिक समीप रहने के कारण तथा कुछ अपने पाश्चात्य शिक्षा के संस्कारों के वशीभूत होकर मैंने उनसे अनुरोध किया था कि अपनी इस व्याख्यान माला में आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों को दृष्टि में रखते हुए वेदान्त का समन्वय प्रस्थापित करें।

इस व्याख्यान माला के अन्दर किस प्रकार गागर में सागर उँडेला गया है, इसे तो वे सभी सहृदय जानते हैं जो व्याख्यानों को सुनने के लिये नित्य आते थे। कई सज्जनों ने तो मुझसे प्रार्थना भी की थी कि स्वामी जी से उनके प्रवचनों की गति धीमी करने का आग्रह करूँ। आज उन सब लोगों को इस पुस्तक को पाकर प्रसन्नता ही होगी कि मैंने उस समय उनके आग्रह से स्वामी जी की अबाध विचारधारा में गतिहीनता न आने दी।

व्याख्यानों को पुस्तकाकार बनाते समय दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा० दशरथ ओझा जी पढ़ते-पढ़ते झूमने लगते थे। रह-रह कर वे आश्चर्य प्रकट करते थे कि एक घंटे में महाराज इतना सब कैसे बोल जाते थे। किसी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एक घंटे में इतनी ठोस सामग्री अपने छात्रों को नहीं दे पाते। अतः यह हमारा सौभाग्य है कि हमको वेदान्त के पास निगूढ़ तत्त्वों का दिग्दर्शन कराने के लिये आज इस भारतवर्ष में ऐसे विद्वान् उपलब्ध हैं जिनकी सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त विद्या का लाभ केवल विद्वत् जन ही नहीं उठाते अपितु पाश्चात्य विचार शैली से प्रभावित पठित वर्ग भी उनके साक्षात् सम्पर्क में आकर अपनी मान्यताओं को भारतीय दर्शन की कसौटी में परखने का अवसर पाते हैं।

नई दिल्ली का समाज इसी तरह का मध्यम वर्ग है—जो वैदिक विचारधारा से अति दूर और नवीनतम पाश्चात्य विचारधाराओं के सन्निकट होने के कारण अपनी मान्यताओं में असम्बद्धता की अनुभूति तो करता है, पर समन्वय करने की न तो उसमें सामर्थ्य है न सांस्कृतिक साधन। महामण्डलेश्वर महेशानन्द गिरि जी यद्यपि आज कई वर्षों से संन्यासाश्रम में अपने भक्तों पर अनुग्रह करके उनको अपने प्रवचनों द्वारा अनुग्रहीत कर रहे हैं, पर उनके विचारों का संग्रह इस रूप में आज से पहले नहीं हुआ था।

इस संग्रह की दो विशेषतायें हैं। प्रथम तो यह कि यद्यपि भाषण देते समय स्वामी जी को केवल समय का प्रतिबन्ध था कि एक घंटे से अधिक न बोलें, विचारों को प्रकट करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी, और श्रोताओं का समुदाय अधिकांश ऐसा था जो वेदान्त की विचारधारा से कुछ न कुछ पूर्व परिचित था, तथापि मेरा आग्रह था कि शैली प्राचीन न होकर अर्वाचीन होनी चाहिये। अतः इस संग्रह में स्वामी जी के सैकड़ों भाषण सुनने वाले नित्य प्रति के सत्सङ्गी लोगों को भी कुछ नवीनता मिलेगी।

दूसरी विशेषता, जो आधुनिक विचारकों के लिये बड़े महत्व की है, यह है कि पाश्चात्य दर्शन ने मनोविज्ञान के प्रभाव में आकर जो नयी करवट ली, उसका अमिट प्रभाव आज के सब सामाजिक विज्ञानों पर पड़ रहा है।

आज तक उन मान्यताओं को भारतीय दर्शन की कसौटी पर कसने का प्रयास इस कारण नहीं हो पाया था कि भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य मान्यताओं से अनभिज्ञ रहते थे। आज बीसवीं शताब्दी के मध्य में विश्व दर्शन में जहाँ पाश्चात्य दृष्टिकोण सुलभ हो रहा है वहाँ भारतीय चिन्तन प्रणाली से लोगों की अनभिज्ञता बढ़ती चली जा रही है। इस व्याख्यान माला में जो दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है वह वेदान्त की आधारभूत शिला पर मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन का ही नहीं अपितु आधुनिक मनोविज्ञान को दार्शनिक आधार देने का भी है।

मेरी दृष्टि में यह प्रयास सर्व प्रथम हुआ है। यदि किसी अन्य दार्शनिक ग्रन्थ में हुआ हो तो अभी मैं उससे अनभिज्ञ हूँ। विद्वानों के सामने इस पुस्तक को रखने का मेरा साहस भी इसी कारण हो रहा है कि यदि इस पुस्तक ने भारतीय मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों को उन मौलिक तत्वों से अवगत करा दिया जिनके आधार पर जीवन दर्शन का न केवल मूल्यांकन सम्भव है बल्कि पुनर्निर्माण भी होगा, तो आज वे पश्चिम के उच्छिष्ट भोजी न बन कर पुनः स्वतंत्र चिन्तन की ओर अग्रसर होंगे। यदि इस संग्रह को पाकर जिज्ञासुओं की पिपासा बढ़ती है तो कोई आश्चर्य नहीं ! यद्यपि भाषणों में एक क्रम है और विषय को यथासाध्य सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयास है, तथापि इतने विशाल विषय को ग्यारह भाषणों की परिधि में बांधना एक दुष्कर कार्य था। फिर भी जिस वैदग्ध्य के साथ इस कार्य को महामण्डलेश्वर जी ने सम्पन्न किया है उसको देखकर न केवल आश्चर्य होता है बल्कि हमारा उत्साह भी बढ़ता है कि भविष्य में भी वे अपने व्यस्त जीवन के कुछ घंटे हम को इसी प्रकार देते रहेंगे तो भी हमारा परम कल्याण हो जायेगा और भगवती सरस्वती की यदि इच्छा रही तो ज्ञान पिपासुओं को इसी प्रकार की अन्य पुस्तकें सुलभ हो सकेंगी।

भगीरथ पाण्डेय

सिंहार्क १, अगस्त १७, १९६३ शनिवार

विषय-सूची

संघर्ष क्यों ?
विचार का आधार वाक्य १
सहयोग प्रतियोग २
धर्म—अधिकार ४
ना समझी से पाप ५
जीवन की व्यष्टि प्रधानता के कारण सुधार की भी व्यष्टि प्रधानता ७

समाज और व्यक्ति ८
निरोध पदार्थ ८
विरुद्ध दृष्टि वालों का समन्वय कैसे ६
सुख और आनन्द १०
ज्ञान इच्छा क्रिया का सामञ्जस्य ११
उद्देश्य विस्मृति से हार १२

समरसता क्यों ? १४
मानव विजिगीषा १४
ज्ञान मात्र से विजय नहीं १६
इच्छा से ही प्रवृत्ति १७
ज्ञान-इच्छा के वैषम्य से ज्ञान हेय नहीं १८
इच्छा की नियतता १६
श्रद्धा २०
स्वातन्त्र्य और नियोग २१
'स्मार्ट' होना : बिगड़ना २२

दर्शन की आवश्यकता २३
'उत्थान' में उत् का अर्थ २५
अपने विचार का ईश्वर पर आरोप २८
सामरस्य की आवश्यकता ३१

सामरस्य का पथ ३२
ज्ञान इच्छा में क्यों परिणत नहीं होता ३२
प्रेम और वासना में विरोध ३३
प्रेम के तीन भेद ३४
पर प्रेम ३६
प्रेम और अपराध ३७
पूर्ण प्रेम ही अभिलषित है ३९
ज्ञान से पूर्व ही परमेश्वर से प्रेम ४०
प्रेम स्वाभाविक पदार्थ ४१
परमेश्वर काल्पनिक पदार्थ नहीं ४२
जीव से अधिक पारमेश्वर-प्रेम ४२
प्रारम्भ में भय पूर्वक प्रेम ४५
प्रेम से ज्ञान की इच्छा-परिणति ४६
सामरस्य कैसे ? ४८
प्रेम दिखाने की चीज़ नहीं ४९
प्रेम और मोह ५०

समरसता का प्रभाव ५२
चित्त की पाँच अवस्थायें ५२
अवस्थायें क्यों ५४
संस्कार ५५
मनुष्यों में वैविध्य क्यों ५७
दैववाद अवैदिक है ५८
भेद-निर्माण का कारण जीव ५९

प्रेय:सिद्धान्त की आलोचना ५६
मृत्यु-कामना ६१
अहंवृद्धि: ब्रह्मभाव ६२
संस्कार और चेतनांश ६३
संस्कार-वासना चक्र कैसे समाप्त हो ६४
अन्त:करण की वृत्तियाँ ६७
रोध-निरोध ६८
धर्म बन्द पुस्तक नहीं ७०
संस्कार का महात्म्य ७३

दैववाद और संगवाद ७६
सत्संग की कमी क्यों ७७
वासना-विस्तर ७८
भारत में धर्म का केन्द्र व्यक्ति ८१
समाज की तरफ से प्रचार ८२
मार्ग-दर्शक की आवश्यकता ८४
महान् व्यक्ति की सेवा ८७
धैर्य का कारण ९१
विचारों का स्वीकरण ९३
गुरु पदार्थ ९५
मनन-आचरण ९७

संगवाद की ओर ९८
'शं वरुण:' ९८
अग्रवाद ९९
संगवाद-दैववाद १०३
सीखने का ढंग १०५
ज्ञान के लिये जगह चाहिये १०९
अधिकारिभेद से फलभेद १११

पीछे हटने से आगे बढ़ना ११५
प्राप्त का प्रचार ११६
परस्पर-प्रबोध १२१

मानस रोग : भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि १२३
अत्यन्त भेद असिद्ध है १२३
एकाग्रता का फल १२४
मानस रोग १२५
मनोरोग-वृद्धि क्यों १२७
पुरुषार्थ १२८
मद्यपता आदि रोग है १३१
पाप उपेक्ष्य १३२
उच्च-भाव से वर्णाश्रम भंग १३३
पाप में सबका उत्तरदायित्व १३४
दुष्प्रयोग में दृढ़ता भी लाभ हेतु १३७
सुखी आदि के प्रति कर्तव्य दृष्टियाँ १३८
करुणादि की वैयक्तिकता १४४

इच्छा और इच्छा-शक्ति १४८
श्रेय-प्रेय १४६
परिष्कृत स्वेच्छया आचार अनुचित नहीं १५१
ज्ञान के बाद दुराचार असम्भव १५२
स्वेच्छा-परेच्छा को मिलाना १५४
संघर्ष नहीं, आनंद आदर्श है १५५
व्यावहारिक धर्म १५८
स्वप्न को जागृत में लाना १६०
इच्छा-शक्ति पर ज्ञान-शक्ति का नियन्त्रण १६२
मन केवल प्रवृत्त कराता है १६५
बुद्धि का स्वभाव १६७

इच्छा-शक्ति बढ़ाने के अन्य उपाय १७१

कर्म और क्रिया-शक्ति १७४
इच्छा और मनोरथ १७५
कर्म और क्रिया १७६
क्रिया और ज्ञान १८०
आसुर दवाने के लिये दैव-वर्धन १८३
जड़ से चेतनाभिव्यक्ति उपपन्न है १८५
मन बन्ध-हेतु १८६
मुक्ति-स्वरूप १८८
जीव १८६
पूर्णक्रिया की संभवता-विचार १६२
क्रिय की भावाभावात्मकता १६५
क्रिया में वासना जुड़ना १६६
विकासवाद भ्रामक १६८
मुक्ति ऐहिक १६६
परिस्थिति का निर्माण २०२

आनन्दवाद २०४
अर्यमा पदार्थ २०४
अस्वातंत्र्य से भय २०५
दुःखवाद २०७
भोगवाद २११
आनंदवाद २१२
'हम-भी' वाद २१७
आनन्द भीमांस्य है २१८
आनन्द की योग्यना २१६
संसार में आनंद है २२२
आनंद के विभिन्न रूप २२४
त्याग की उपपत्ति २२८
समष्टि दृष्टि से आनंदवाद २३१
कुछ वनना नहीं २३२

ग्रन्थ संकेत

अथर्व वेद (अ० वे०)
अध्यात्म रामायण (अ० रा०)
अभिज्ञान शाकुन्तल (अ० शा०)
ईश उपनिषद् (ई० उ०)
उपदेश साहस्री (उ० सा०)
उपनिषद् (उ०)
ऋग्वेद (ऋ०)
काठक संहितोपनिषद् (क०)
केन उपनिषद् (के० उ०)
भगवद्गीता (गी०)
छान्दोग्योपनिषद् (छा०)
जीवन्मुक्तानन्दलहरी (जी० मु० ल०)
तैत्तिरीय आरण्यक (तै० आ०)
तैत्तिरीय उपनिषद् (तै०)
तैत्तिरीयोपनिषच्छाङ्करभाष्य (तै० भा०)
प्रश्नोपनिषद् (प्रश्न०)
बृहदारण्यक (बृ०)
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (ब्र० सू० भा०) (ब्र० सू० शां० भा०)
श्रीमद्भागवतपुराण (भा०) (भाग०)
महाभारत (म० भा०)
माण्डूक्योपनिषत्कारिका (मा० का०)
मुण्डक उपनिषद् (मुण्ड०) (मु०)
मैत्रेय्युपनिषद् (मैत्रेय्यु०)
योगसूत्र (यो० सू०)
वाजसनेयशाखा यजुर्वेद (वा० यजु०)
वेद (वे०)
वैराग्यशतक (वै० श०)
श्वेताश्वतरोपनिषद् (श्वेता०)
संक्षेप शारीरक (सं० शा०)
सूत्र (सू०)

ॐ

संघर्ष क्यों ?

तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा के ब्राह्मण भाग का उपनिषद् है जिसका प्रथम मंत्र निम्नलिखित है—

ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शंनो भवत्वर्यमा, शं न इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुरुरुक्रमः, नमो ब्रह्मणे, नमस्ते वायो, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु, अवतु माम्, अवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

इस मन्त्र में भगवती श्रुतिने परब्रह्म परमात्मा की कई प्रकार से प्रार्थना की है और साथ ही साथ मानव के सामने एक आदर्श भी उपस्थित किया है कि वास्तव में 'मानव' कैसे बना जाय ।

शं नो मित्रः का अर्थ है—'हे मित्र (ईश्वर) ! तुम हमारे लिये कल्याणकर होओ ।' मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसे समाज को सामने रखकर अपनी उन्नति करने की ऐसी विलक्षण शक्ति प्राप्त है जो अन्य प्राणियों में दृष्टिगोचर नहीं होती । अन्य प्राणी प्रायः अकेले रहते हैं और यदि वे चींटी के समान समाज निर्माण करते भी हैं तो उसमें वह ग्रथित एकरूपता नहीं होती जो मानव समाज में परिलक्षित होती है ।

'शं नो मित्रः' में श्रुति 'नः' पद से इस सामाजिक दृष्टि को बता रही है ।

समाज का अर्थ क्या है ? सम्यक् अञ्चति इति समाजः । इसी बात को ऋग्वेद में आशीर्वादात्मक ढंग से कहा गया है "संगच्छध्वं, संवदध्वं, संवो मनांसि जायताम्" इत्यादि; और यहां कर्म प्रधान यजुर्वेद ने 'शं नो मित्रः' आदि से प्रार्थनात्मक विधि द्वारा इसे अभिव्यक्त किया है ।

दूसरों के साथ हमारा व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिये ? भ्राता के भगिनी के प्रति, मित्र के मित्र के प्रति, तथा देश के देशान्तर के प्रति व्यवहार

को निमित्त बनाकर सामाजिक प्रवृत्ति होती है। अतः समाज के प्रति व्यक्ति का कैसा दृष्टिकोण होना चाहिये ? आज परिस्थिति यह है कि हम में से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने अपने को केन्द्र मानकर व्यक्तिवाद की दृष्टि अपना रक्खी है। हम आज 'समाज' में रहने वाले नहीं रह गये हैं। अतः दुःख तथा कष्ट-कर स्थिति उत्पन्न हो गई है। हमें आज इस दुःख से संरक्षण सामाजिक दृष्टि को अपनाये बिना नहीं मिल सकता। जीवविज्ञान एवं मनोविज्ञान दोनों दृष्टियों से सामाजिक व्यवहार अनिवार्य है । इसी कारण आज भी एकान्त कारावास (Solitary Confinement) को कठोर दण्ड और इसके विपरीत सामाजिक व्यवहार को सुख माना जाता है।

मनुष्य को समाज में अपने उत्थान के लिये सहयोग की आवश्यकता होती है। समाज में व्यक्ति की दो दृष्टियां सम्भव हैं। एक सहयोग की, दूसरी प्रतियोग की। आज हमने प्रतियोग की दृष्टि को अपनाकर उसे उन्नति का पथ स्वीकार कर लिया है। न केवल व्यापार में ही प्रतियोग है बल्कि घर में भी आज पति और पत्नी आपस में प्रतियोग करके एक दूसरे से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु प्राचीन भारत की दृष्टि प्रतियोग की न होकर सहयोग की थी। आज पाश्चात्य संस्कृतियों ने जो बाह्य जगत् में उन्नति कर रखी है वह प्रतियोग पर ही आधारित है; पर वस्तुतः वहाँ के भी विचारक 'एल्टन मे' ने अपनी पुस्तक 'सोशल प्रॉब्लम्स ऑफ इन्डस्ट्रियल सिविलिजेशन्स' (Social Problems of Industrial Civilizations) में लिखा है कि पाश्चात्य विचारधारायें विश्रृङ्खलित हो रही हैं।

औद्योगीकरण के पूर्व लोग दूर-दूर बिखरे हुए ग्रामों में रहते थे। आज केवल न्यूयार्क में ही एक करोड़ लोग रहते हैं। कलकत्ता की जनसंख्या अस्सी लाख है। आज बड़े शहरों में एक ही मकान में रहनेवाला व्यक्ति अपने पड़ोसी के नाम तक को नहीं जानता। इस प्रकार हमारी सामाजिकता अधिकाधिक विश्रृङ्खलित होती जा रही है। प्रतियोग के इस युग में हमने आत्मनिक्षेप (Self-Assertion) को जीवन का केन्द्र मान रखा है। पर आत्मनिक्षेप तभी तक चल सकता है जब तक प्रतियोगी उसी प्रकार का आत्मनिक्षेप नहीं करता। आत्मनिक्षेप में संघर्ष अवश्यम्भावी है।

इससे जो मानसिक तनाव उत्पन्न होता है उसको दूर करने पर जोर देते हुए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सिगमन्ड फ्रॉयड ने अपनी पुस्तक 'बियॉन्ड गुड एन्ड ईविल' (Beyond Good and Evil) में इस समस्या पर प्रकाश डाला है ।

प्रतियोग की भावना से जो दूसरी बुराई पैदा होती है वह है दूसरे को अपने से आगे बढ़ते हुए देखकर उसे पीछे खींचने की इच्छा । जब हम किसी को पीछे खींचना चाहेंगे तो यह अनिवार्य है कि हमें मानसिक जगत् में उससे पीछे खड़ा होना पड़ेगा । महाभारत में प्रसंग आता है कि युद्ध समाप्त होने के बाद जब पांचों पाण्डव तथा द्रौपदी ने स्वर्गारोहण किया और क्रमशः नकुलादि एक एक करके गिरते गये तो युधिष्ठिर ने पीछे की ओर मुड़कर देखा भी नहीं । जब उनके गिरने का कारण भीम पूछते थे तो युधिष्ठिर केवल उसका कारण बता देते थे । अन्त में जब भीम ने पूछा कि मैं क्यों गिर रहा हूँ तो युधिष्ठिर ने आगे चलते हुए ही कहा कि तुम्हारे अन्दर शारीरिक बल का बड़ा अभिमान था। अन्त में युधिष्ठिर के साथ केवल एक कुत्ता रह गया था । जब इन्द्र ने युधिष्ठिर से उस कुत्ते को छोड़कर स्वर्ग जाने के लिए विमान पर चढ़ने की प्रार्थना की तो धर्मराज युधिष्ठिर बोले कि जिसने मेरे साथ अब तक सहयोग किया मैं उसके साथ प्रतियोग नहीं करना चाहता; उसे छोड़कर मैं आगे नहीं बढ़ूंगा ।

सहयोगी समानता वाला ही हो यह नियम नहीं है । हमारा योगी हमसे छोटी स्थिति वाला भी हो सकता है। योगेन सह इति सहयोगः। जहां योग के लिए, किसी एक लक्ष्य की समानता हो उसे सहयोग कहते हैं । जब आप धार्मिक सत्सङ्ग के लिये एकत्रित होते हैं तो राजनैतिक तथा आर्थिक असमानताओं को भूलकर एक साथ बैठना पड़ता है । प. आज विचित्र परिस्थिति है। आज विवाह के पूर्व .पति-पत्नी के वरण में लम्बाई तक नापी जाने लगी है । भारतीय संस्कृति में तो पत्नी का ग्रहण ईश्वर प्राप्ति के लिये होता है । इसके विपरीत आजकल मुख्य विचार दहेज, रुपया, पद इत्यादि का होता है, और परिणामस्वरूप पति तथा पत्नी दोनों दुःखी होते हैं। युधिष्ठिर ने अपने आचरण से यह प्रतिपादित किया कि अपने साथ सहयोग करने वाले कुत्ते को भी छोड़कर स्वर्ग नहीं जाना चाहिये ।

उनके ऐसा कहते ही वह कुत्ता धर्म के रूप में परिणत हो गया। जो पदार्थ हमारे साथ परलोक जायगा वह है केवल धर्म ! आज उस धर्म को हमने जीवन में कुत्ता बना रखा है। उसे हमने जीवन का अन्तिम भाग समझ रखा है—बिल्कुल अनुपयुक्त भाग । सहयोग की भावना का मूल धर्म है । आज धर्म की भावना को समाज ने छोड़ दिया तो उसमें प्रतियोग की भावना आगई ।

हमारे शास्त्रकारों ने स्मृति ग्रंथों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि के अलग-अलग धर्म विस्तार से बतलाये । पर उन ग्रन्थों में केवल धर्मों का वर्णन है, कहीं अधिकार नहीं लिखे गये हैं । आज हमारे देश के संविधान में मौलिक अधिकारों की विस्तृत चर्चा है पर कहीं कर्तव्यों का उल्लेख नहीं है । इसका परिणाम यह है कि व्यक्तिवाद तो बढ़ रहा है, किन्तु समाज के प्रति भावना नहीं । हम कभी यह नहीं सोचते कि समाज के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है । नागरिकों को एक ओर से यह शिकायत है कि राज्य हमारे लिए कुछ नहीं करता और दूसरी ओर से शासक कहते हैं कि उनके साथ नागरिक सहयोग नहीं करते । अत: प्रान्तीयता और प्रतियोग बढ़ रहे हैं । परमेश्वर की दृष्टि सहयोग की है । सूर्य और नदी में प्रान्तीयता नहीं होती । पर हमने इस दृष्टि को स्वयं गन्दा करके व्यष्टिवाद का प्रसार कर लिया है । हम अपने सभी साथियों की समीक्षा करें तो हम पायेंगे कि वे प्रकट भाव से कुछ और हैं तथा यथार्थ रूप से कुछ और । आज हमने आत्मनिक्षेप का सिद्धान्त अपना लिया है ।

पहले गर्वोक्ति बुरी मानी जाती थी । एक बार भर्तृहरि ने गर्वोक्ति की कि पतञ्जलि वाक्यपदी को देखे बिना मर गया, उसे धिक्कार है ! इस गर्वोक्ति का परिणाम यह हुआ कि कोई उस ग्रन्थ को नहीं पढ़ता । इसके विपरीत आज के समाज में अपने को बड़ा मनवाने के लिये हम स्वयं प्रयास करते हैं । जहाँ बड़प्पन (महत् तत्व) का उदय हुआ तो महत् तत्व के बाद बुद्धि तत्व का उदय होता है । महतोऽहंकार: । मैं बड़ा हूं का अर्थ ही यह है कि कोई मुझ से छोटा है ।

समाज व्यष्टियों के समुदाय का नाम नहीं है । अनेक व्यक्तियों के इकट्ठा होने से समाज नहीं बनता । यथा धागे को लपेटते रहने से वह साड़ी नहीं

बन जाता। आज यदि हम अनेक व्यक्ति सब साथ रहते हैं तो केवल प्रतियोग करने के लिए। हम समाज में नहीं रहते। समाज में रहते तो सहयोग करने के लिये रहते। आज दफ्तर से आकर पति सीधे क्लब को भागता है। ऐसा क्यों होता है ? क्यों कि घर में साथ रहते रहते केवल झगड़े ही बढ़े हैं। आप यदि साथ रहते तो प्रेम बढ़ता, आप तो केवल एक छत के नीचे रहे। अतः जीवन विश्रृङ्खलित हो रहा है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्तिगत उन्नति से वह सुख प्राप्त नहीं करेगा। पुरानी दिल्ली को छोड़कर लोग नई दिल्ली को भागते हैं, क्यों कि पुरानी दिल्ली में मकान के चारों ओर गन्दगी है। अतः वे वातावरण बदलना चाहते हैं। जिस प्रकार बाह्य वातावरण तब तक नहीं सुधर सकता जब तक सबका सहयोग प्राप्त न हो, उसी प्रकार मानसिक जगत् में परिवर्तन लाने के लिए भी सहयोग आवश्यक है।

आज हमने झूठ को आचरण का मापदण्ड मान लिया है और झूठ एक नैतिक चीज बन गई है। पहले लोग चोर बाजारी को अनैतिक मानते थे। अतः एक स्वामी जी ऐसे भी थे जो व्यक्तभाव से चोर बाजारी करने वाले के यहां भिक्षा नहीं स्वीकारते थे। जो चोरबाजारी को अनैतिक मानकर उसे छिपाता है वह तो एक दिन सुधर भी सकता है, पर यदि कोई चोरबाजारी को अनैतिक मानता ही नहीं तो उसका नैतिक सुधार असम्भव है।

यथार्थ तो यह है कि हमने संसार के स्वरूप को ठीक तरह से नहीं समझा है। हमने समझ रखा है कि हम अपना कल्याण दूसरों का नुकसान करके कर सकते हैं। परन्तु हम यह नहीं समझते कि निश्चित ही वह नुकसान लौटकर हम तक आयेगा। यह सत्य है कि यदि हम पड़ोसी के घर में कूड़ा फेंकेंगे तो मक्खी उड़कर हमारे घर भी आयेगी। इस व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि को समष्टि दृष्टि में बदलने के लिये यहाँ पर श्रुति ने 'नः' पद का प्रयोग किया।

आज लोग समाज के लिये काम करना चाहते हैं। 'शं नः' कहकर हम सब लोगों की समस्या को श्रुति ने इंगित किया। समस्या को अपने तक लाकर हमें 'नः' अपने अन्दर सुधार करना है। आजकल प्रचार के लिए अपने भाषणों में लोग प्रायः समाजवाद का नाम लेते हैं। हमें समाज का

प्रत्येक धागा मजबूत करना है। जब तक हम अपने को नहीं सुधारेंगे समाज सुधार कैसे होगा ? मैंने यदि अपने को सुधार लिया तो भारत की चालीस करोड़ आबादी का एक हिस्सा तो सुधर गया।

परन्तु आज देखने में यह आता है कि यदि घर में सास बीमार है तो बहू समाज को सुधारने के लिये चलती है। हम समाज-सुधार का केन्द्र बनाना चाहते हैं समष्टि को, पर यह भूल जाते हैं कि सुधार वास्तव में व्यष्टि से शुरू होता है। यदि सूत कमजोर बना तो कपड़ा अवश्य कमजोर होगा। अतः श्रुति ने 'नः' के द्वारा यह कहा कि आपके अपने अन्दर कल्याण की भावना आये।

एक महात्मा एक गांव में पहुंचे। एक नवयुवक मर गया था। सभी कह रहे थे कि युवक बड़ा सुशील था, इससे अच्छा तो यह होता कि हम मर जाते और वह जी जाता। महात्मा ने सोचा कि परीक्षा करें कि क्या वास्तव में ये लोग दूसरों के लिये आत्म-बलिदान कर सकते हैं। आज तो पुत्र भी पिता को भोग्य मानता है। अतः महात्मा ने कहा कि इसकी अपमृत्यु हुई है और यदि कोई अन्य व्यक्ति प्राणदान करे तो यह जी सकता है। अब तो सारे गांव के लोग चुप्पी साध गये, यहां तक कि पूछने पर भी कोई व्यक्ति उस युवक को जिलाने के लिये अपना प्राण देने को राजी नहीं हुआ। महात्मा ने सबसे पूछा। पिता बोले मैं मर जाऊंगा तो मेरी पत्नी को कौन सम्भालेगा ? महात्मा ने बहिन की ओर देखा। वह भी राजी न हुई। छोटे भाई बोले "स्वामी जी यदि कहीं हमने इसे प्राण दे दिया और बाद में इसने माता पिता को न संभाला तो ?" पत्नी ने कहा "ये जीवित होकर दूसरा विवाह करेंगे और यदि सौत बच्चों की देख रेख नहीं करेगी तो ?" सब बोले "भगवन् आप ही अपना प्राण दे दीजिये। महात्मा तो अकारण कृपालु होते हैं। हम आपका भंडारा भी करा देंगे। आप तो जीवन्मुक्त हैं, आपकी समाधि पर शिवलिङ्ग भी बना देंगे।" महात्मा ने मरने के लिये जो औषधि निकाल रखी थी स्वयं पी ली और कहा कि इस शरीर ने योगाभ्यास किया है अतः इसे मरने में समय लगेगा और इसके मरते ही यह लड़का जी उठेगा, और यह कह कर वहां से चल दिये।

आज समष्टि की दृष्टि को हटाकर यदि हमारी दृष्टि व्यष्टि की हो गई

है तो सुधार का केन्द्र भी व्यष्टि को बनाकर ही समाज का कल्याण हो सकता है। श्रुति 'शं' पद का पहले प्रयोग करती है और 'शं नो मित्रः' कह कर सारे समाज के लिये कल्याण के स्वरूप का प्रतिपादन करती है। आज सारा समाज एक चौराहे पर खड़ा है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे छोड़कर हम पशुवत् हो रहे हैं। आज समस्या यह है कि हम मनुष्य कैसे बनें ? क्यों कि हम पशु बन रहे हैं। कल्याण के इस स्वरूप पर आगे विचार किया जायेगा।

समाज और व्यक्ति

'शं नो मित्रः' इस श्रुति में 'शं' शब्द के अनेक अर्थ हैं। शं शब्द का एक अर्थ सुख है अतः 'शं नो मित्रः' का एक अर्थ हुआ कि सुख के लिए हम कर्म करें जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनों मिल सकें। शं—सुख—किस प्रकार प्राप्त हो, यह 'शं' शब्द ही बतलाता है। शं प्रशमने। जहां रोका जाता है, उस अर्थ में शं का प्रयोग होता है। 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणाम्।' (धन्याष्टक १) जो निरोध से प्राप्त होता है वह सुख है। आज हमने निरोध को बुरा समझ रखा है। Repression रोध है। निरोध को अंग्रेजी में Sublimation कहेंगे।

श्रुति शं शब्द से इस दृष्टिकोण को रख रही है कि हम इन्द्रियों को रोककर ही उस सुख को प्राप्त कर सकते हैं। सुख की प्राप्ति रागद्वेष के नियन्त्रण से है क्योंकि रागद्वेष आसुरी सम्पत्ति के अग्रदूत हैं।

रागद्वेष का स्वरूप क्या है? हमने समझ लिया है कि पदार्थों के स्वरूप से रागद्वेष होता है। पर भिन्न स्पृहा वालों का द्विष्टत्व और इष्टत्व एक ही पदार्थ में युगपत् हो सकता है। परिव्राट् को उपरामता, कामुक को भोग्य श्वान को खाद्य बुद्धि एक ही स्त्री में होती है। 'परिव्राट्कामुकशुनां एकस्यां प्रमदातनौ' (नैष्कर्म्य सिद्धि)। 'भिन्नस्पृहाणां। द्विष्टत्वं इष्टत्वं' (योग भाष्य)। व्यास भाष्य में यह समझाया गया है कि सपत्नी पति को सुख तथा अन्य पत्नी को दुःख देने वाली बनेगी। अतः भिन्न स्पृहा से द्वेष और राग रहेंगे। संसार में सभी व्यक्ति सभी चीजों को इष्ट नहीं समझ सकते। आज यह चेष्टा की जा रही है कि सारे लोगों को एक ही वस्तु में सुख प्राप्ति हो। पर यह असंगत है। एक बार चूड़ीदार पायजामा पहनकर एक व्यक्ति न्यूयार्क में जा रहे थे। उन्हें देखकर एक औरत ने कहा 'Heavens! He has forgotten to put his pants on.' अरे, ये महाशय अपनी पैन्ट पहनना भूल गये हैं। रात्रि में पहनने

वाले पाजामे को पहनकर यहां आप दिन में लोगों को सड़कों पर चलते देखते हैं। पर विदेश में वही अनिष्ट है। एक ही चीज द्वारा हम सबको सुख नहीं पहुंचा सकते।

भिन्न स्पृहा रहेगी कहां पर ? व्यक्ति में ही। यदि सारा समाज अपने उद्देश्यों को भिन्न भिन्न रखता चला जाता है तो समाज रहेगा कहां ? इस प्रकार समन्वय कैसे होगा ? इन दोनों व्यवस्थाओं को मिलाने के लिये शास्त्र कहता है 'शं नो मित्रः'। 'शं सुखे क्लीबे शास्त्रे श्रेयसि' (अनेकार्थ मञ्जरी ।।७२।।) शं का अर्थ सुख है और श्रेय भी। सुख श्रेयस्कर होना चाहिए जो बाद में दुःख उत्पन्न न करे। हम एक क्षण के सुख के लिए बाद में अति दीर्घ काल तक दुःख उठाते हैं। शास्त्र 'शं' से नित्य सुख को इंगित करता है।

एक ही व्यक्ति के शरीर में जैसे भिन्न तत्व हैं वैसे ही भिन्न स्पृहायें भी हैं। शरीर में ९० प्रतिशत जल है। पर साथ ही साथ शरीर में अग्नि भी है। वही अग्नि भोजन को पक्व करती है। तापमापक यन्त्र से हम उसे नापते भी हैं। ये जल तथा अग्नि तत्व एक दूसरे के सहायक हैं यदि दोनों में प्रतियोग हो जाता तो अग्नि जल को सुखा देती। वायु तत्व भी हमारे शरीर में है। वह भी जल से सहयोग कर रहा है। इसी प्रकार हमारे शरीर में ३३ देवता हैं। आंख का काम देखना, कान का काम सुनना, ये सब आपस में एक दूसरे से सहयोग कर रहे हैं। 'स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत् प्राणन्निमिषच्च यत्, (अ०वे० १०।८।२) पारमेश्वरी शक्ति ही वह स्तम्भ या अधिष्ठान है जिस से यह सब व्यष्टि जगत् चल रहा है। यथा आकाश में वायु कभी बादलों को तितर बितर कर देती है और कभी जोड़ देती है। ऐसे ही यदि तितर बितर होते हुये समाज का नवनिर्माण करना है तो आधार स्तम्भ को पकड़ कर चलना पड़ेगा।

अतः समस्या यह है कि विरुद्ध दृष्टि वाले लोगों को एक साथ रखने के लिये समन्वय किस प्रकार किया जाय ? एक दृष्टान्त लीजिये। घड़ियां कई प्रकार की हैं, किसी के पास हाथ की घड़ी है, किसी के पास दीवाल की किसी के पास मेज पर रखी जाने वाली अलार्म घड़ी है। घड़ियों में इन सारे

भेदों के होते हुए भी समय सब घड़ियों में समान है। यदि घड़ी में स्वसत्ताभिमानेन स्वनिश्चित समय भी रखने लगें, यदि आप अपनी घड़ी में ९ बजे ६ बजा लें, तो व्यवहार असम्भव हो जायगा। हमारे समाज में आज ऐसी ही परिस्थिति हो गई है। सभी व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुकूल चलते हैं। अतः समाज में अव्यवस्था हो गई है। अब यदि व्यक्तियों के बीच पुनः व्यवस्था लानी है तो समस्त समाज में उद्देश्य की एकता लानी पड़ेगी।

मनुष्य सुख चाहता है, पर उसे नित्य (शाश्वत) सुख का साधन नहीं मिलता। शास्त्र ने परमात्मा को सुख रूप माना है। 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' (बृ० ३·९·२८) आनन्द जीवन का केन्द्र है। सुख और आनन्द में फरक है। सुख वह है जिसमें भविष्य की दृष्टि को हटा लिया जाता है; आनन्द वह है जिसमें आगे भी सुख हो। खाना खाने में सुख की अनुभूति होती है। पर जिसका अभ्यास होगा वही वस्तु स्वादिष्ट लगने लगेगी। भारत में रहते हुए हमको मसाला डाल कर खाने का अभ्यास है। विदेशों में जाने से भोजन फीका लगता है। हम तो मसालों का स्वाद चखते हैं। कभी अच्छा स्वादिष्ट साग खाने के बाद पूछ बैठते हैं 'अरे किस का साग है?' पूछने वाले को साग का नहीं केवल मसाले का स्वाद आ रहा है। पर अभ्यास से परिवर्तन सम्भव है। थोड़े दिनों तक केवल उबाला हुआ आलू निरन्तर सेवन करें तो आलू का अपना स्वाद भी अच्छा लगने लगता है।

हमें सन्तुलन, सामरस्य (balance and integration) लाना है। इस सन्तुलन को लाने के लिये पहले व्यक्ति को लें। व्यक्ति में ज्ञान, इच्छा और क्रिया (Cognition, conition and volition) प्रधान हैं। ज्ञान, इच्छा और क्रिया में ही सारा मनोविज्ञान केन्द्रित है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सिगमन्ड फ्रॉयड ने इच्छा पर ही जोर दिया था। उनके परवर्ती युङ्ग (Jung) ने सिद्ध किया कि मनोवैज्ञानिकों ने ज्ञान और क्रिया से दृष्टि हटा कर भारी भूल की। ब्राइटमैन का कहना है कि किसी समाज के निम्न रूप को देखना है तो भौतिक वादी Hedonist को देखो; (Hedonist हैडोनिस्ट केवल भौतिक सुख पाने में तत्पर रहता है) और यदि समाज की ऊँचाई देखनी है तो आदर्शवादी आध्यात्मिक व्यक्ति को देखो।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती है इच्छा

और क्रिया दूर होती जाती हैं। हमारे देश में दार्शनिक लोग सिद्धान्त जानते हैं पर उनमें इच्छा और क्रिया का सामरस्य न होने के कारण वे स्वयं को शास्त्रीय क्रियात्मक रूप नहीं दे पाते। ऐसा भी देखने में आता है कि धर्म को मानने वाले लोग धर्म के विरुद्ध आचरण करने में सङ्कोच नहीं करते। अतः जब तक हम ज्ञान का इच्छा से समन्वय न कर लें तब तक इस प्रकार की गलती होती रहेगी।

जानाति, इच्छति, यतते के द्वारा शास्त्र कहता है कि यदि हमने किसी तत्व को जान लिया है तो उसके लिये इच्छा भी होनी चाहिये, नहीं तो हमने उसको सम्यग्रूपेण जाना ही नहीं। प्रथम विश्वमहायुद्ध के अनंतर अमरीका में दार्शनिकों की एक विशाल सभा होने वाली थी। उसके पूर्व विश्वयुद्ध में अमरीका और जर्मनी विरोधी रह चुके थे। अतः इस सभा के लिये जब विदेशी दार्शनिकों को निमन्त्रण भेजे जाने लगे तो अमरीका के आदर्शवादी (Idealist) लोग जर्मन दार्शनिकों को बुलाने का विरोध कर रहे थे। आश्चर्य तो यह था कि व्यावहारिक वादी (Realist) उन्हें बुलाने के समर्थक थे। स्पष्ट है कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भी (Idealism) आदर्शवाद उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हुआ था।

आज से २५ वर्ष पूर्व भारत में गीता का इतना प्रचार नहीं था तो भी ग्रामीण लोग धार्मिक आचरण करते थे। पर आज गीता का इतना अधिक प्रचार हो चुका है, उसमें क्या लिखा हुआ है इसे बहुत से लोग जानते हैं, पर जानाति_इच्छति में नहीं परिणत हो रहा है। स्पष्ट है कि यदि हम ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया, इन तीनों को मिलाने के उपाय नहीं अपनायेंगे तो ज्ञान व्यर्थ हो जायगा।

यदि जीवन को संतुलित बनाना है तो सर्व प्रथम उद्देश्य को ठीक बनाने से उसमें सामरस्य आयेगा। आज हम बौद्धिक दृष्टि से आस्तिक हैं, पर अन्तः-करण से नहीं। हमारे व्यवहार से स्पष्ट पता चलता है कि अति तुच्छ चीज से हमारे मन डोल जाते हैं। व्यवहार में हमारा दृढ़ विश्वास है कि परमेश्वर नहीं है। इस विषमता का अन्त कैसे होगा ?

एक राजकुमारी बड़ी निपुण घुड़सवार थी। राजा ने उससे प्रसन्न होकर यह घोषणा कर दी कि जो कोई अच्छा घुड़सवार उसे घुड़दौड़ में हरायेगा

उसी के साथ मैं राजकुमारी का विवाह करूंगा । राजकुमारी प्रत्येक विवाहाभिलाषी राजकुमार को घुड़दौड़ में हरा देती थीं । अब धीरे-धीरे राजकुमारी की आयु बढ़ने लगी तो राजा को अफसोस हुआ कि यदि प्रतिज्ञा न करता तो राजकुमारी का अब तक विवाह हो जाता । धीरे-धीरे राजकुमारों ने आना बन्द कर दिया । एक राजकुमार ने सोचा कि मैं जाकर राजकुमारी को हराऊंगा । वह बुद्धिमान था । इसलिये राजकुमारी के विषय में जिज्ञासा करने के लिये उस शहर में घूमा । राजकुमारी को सेव खाने का शौक था । उसने कुल्लू से सेव मंगाये । उन्हें ठंडी जगह में संभाल कर रखा । गर्मी का मौसम आया तो राजा के पास विवाह का प्रस्ताव किया । राजा आंखों में आंसू भर कर बोला कि घुड़दौड़ में हराने वाला ही उससे विवाह करेगा । राजकुमार ने कहा कि मैं उसे हरा के रहूँगा । घुड़दौड़ शुरू हुई । राजकुमारी आगे निकल गई । वहां एक बड़ा सुन्दर सेव पड़ा था । उतर कर सेव को उठाया, सेव को खाती हुई घोड़ा दौड़ाने लगी । सेव बहुत स्वादिष्ट था । दो मील भी न जा पायी थी कि देखा वैसे ही पाँच सुन्दर सेव पड़े हुए हैं । पांचों सेवों को जेब में भर लिया । फिर आगे बढ़ी तो एक उत्तम सेवों की टोकरी रास्ते में पड़ी हुई थी । उससे न रहा गया । उतर कर टोकरी उठा ली और तब तक राजकुमार का घोड़ा काफी आगे निकल गया । घुड़दौड़ में घोड़े पर एक तोला वजन से भी बड़ा फर्क पड़ जाता है । यहां तो घोड़े पर सेरों वजन बढ़ गया । राजकुमारी ने सारे सेवों को रखा तो उसके पैर भी घोड़े से दूर होते चले और घोड़ा ठीक न दौड़ा । जब घुड़दौड़ में हार गई तो राजा से कहने लगी 'पिता जी मैं धोखे से हार गई, एक बार फिर दौड़ने दीजिये तो मैं अवश्य इस राजकुमार को हरा दूंगी ।' राजा कहां चूकने वाला था, बोला 'धोखा देकर भी हराया तो विवाह तो हो ही जायगा !' जब विवाह हो गया तो सुहागरात के समय राजकुमार ने फिर उसी प्रकार का सुन्दर सेव उपहार देते हुए पूछा 'राजकुमारी ! उन सेवों का स्वाद कैसा था ?'

राजकुमारी के हारने का कारण क्या था ? उसने अपने उद्देश्य को भुला दिया था । जीवन में भी हम काफी तेज घुड़दौड़ कर सकते हैं । हमने घोड़े की सवारी तो सीखी पर इन्द्रिय रूपी घोड़े की सवारी नहीं सीखी । अतः छोटे-छोटे रागद्वेष से भी हम पीड़ित हो जाते हैं । हमारे ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया में सन्तुलन नहीं है । इस कारण जीवन के उद्देश्य को ठीक नहीं

समझ पाते । बाह्य जीवन में इन्द्रियों के प्रवाह में बह जाते हैं । आज के वैज्ञानिक युग में बाह्य प्रकृति पर नियन्त्रण करके ज्ञान की अभिवृद्धि अवश्य हुई है, पर ज्ञान के अनुकूल हम इच्छाओं का निर्माण नहीं कर पाये । इन्द्रियों के नियन्त्रण को ही ज्ञान का आधार बनाना चाहिये । 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं' यदि फोड़े को फौरन् खुजला दिया जाय तो व्रण बन कर वह दीर्घ काल तक दु:खी करेगा ।

ज्ञान को इच्छा, क्रिया में कैसे परिणत करें ? व्यष्टि और समष्टि जीवन में निरोध, प्रशमन लाना है रोध नहीं ।

समरसता क्यों ?

तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रथम मन्त्र के ऊपर विचार करते हुए यह बतलाया गया कि किस प्रकार श्रुति हमारे सामने आदर्श उपस्थित कर रही है। पहले कह चुके हैं कि श्रुति इस पर अधिक बल देती है कि हम व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों को अपनाते हुए चलें। एक ही दृष्टि के ऊपर बल देकर चलने की उपादेयता श्रुतियों ने स्वीकार नहीं की। दूसरा आवश्यक विचार इस विषय में यह है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया का आपस में सामरस्य किस प्रकार हो सकता है? इनका आपस में क्या सम्बन्ध है और क्या भेद है? मानव के जीवन में एक ऐसी कामना है जो अन्यत्र किसी भी प्राणी में इतने स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं होती--वह है विजय की कामना। मनुष्य प्रकृति को जीतना चाहता है। जब तक यह प्रकृति को जीत नहीं लेता तब तक इसको सुख और सन्तोष का अनुभव नहीं होता। प्रकृति दो प्रकार की होती है—अन्तर् तथा बाह्य। बाह्य प्रकृति पर विजय पाने में ज्ञान की प्रधानता रहती है, अन्त:प्रकृति में इच्छा की। जब तक उभय प्रकृतियों को समान रूप से नहीं जीत लिया जायेगा तब तक मानव की उन्नति पूर्ण नहीं कही जा सकती। वस्तुतः बाह्य प्रकृति पर विजय यद्यपि अन्य प्राणी भी किञ्चित् प्राप्त करते हैं पर अन्तः प्रकृति को जीतने में समर्थ केवल मानव ही होता है। आधुनिक जगत में ज्ञान की अधिकता के कारण बाह्य प्रकृति पर हमारी विजय उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जा रही है, पर अन्तः प्रकृति की विजय उत्तरोत्तर न्यून होती चली जा रही है।

प्रकृति पर विजय से ही मानव बनता है। गीता में भगवान ने इस प्रकृति के परा और अपरा, दो भेद बतलाये हैं। जितनी भी बाह्य प्रकृति है वह परमेश्वर की ही शक्ति है और उसका नाम अपरा है। 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।' (गी० ७/५) यह दूसरी प्रकृति आन्तरिक है जिससे जीव प्रस्फुटित होता है। श्रुति का उद्घोष है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २/६)

इस सृष्टि को उत्पन्न कर के जीव रूप से उसी ने इस में प्रवेश किया। 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः' (तेजो बिन्दु ३/२५) इस प्रकार स्मृतियां भी इसी बात पर ज़ोर देती हैं। वह परब्रह्म परमात्मा सृष्टि रूप में बदल करके जीव रूप में स्वयं ही प्रविष्ट हो गया। अतः जीव की प्रकृति को हम जब तक नहीं जीतेंगे तब तक हमारी विजय पूर्ण नहीं कही जा सकती। आन्तरिक प्रकृति की विजय न होने के कारण ही बाह्य प्रकृति की विजय की अतिशय अभिवृद्धि होती चली जा रही है। फिर भी हमें सुख और शान्ति का अनुभव नहीं हो पाता।

लोग कहते हैं संसार में हम बहुत परेशान हैं। मनुष्य समझता है कि वह बाह्य चीजों से परेशान है। पत्नी समझती है कि वह पति से परेशान है और पति समझता है कि वह पत्नी से परेशान है। कोई भी यह समझने की चेष्टा नहीं करता कि हम स्वयं अपने मन से परेशान हैं। जहां भी हम जायेंगे सारी चीजों को छोड़ सकेंगे लेकिन मन का परित्याग नहीं कर सकेंगे। मन के साथ सारी कठिनाइयां और परेशानियां भी साथ चलेंगी। यदि हम वन में भी जायेंगे तो भी मन की समस्या को हल करना ही पड़ेगा। यदि मन की समस्या को हल कर लिया तो जहां भी रहेंगे वहीं सुख और शान्ति का अनुभव कर सकेंगे और यदि मन को विजय नहीं किया तो चाहे कहीं भी चले जायें शान्ति की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती।

वर्तमान युग विश्व में संघर्ष का है। जब हम व्यष्टि की दृष्टि नहीं, समष्टि दृष्टि भी लेते हैं तो राष्ट्रों के संघर्ष का मूल कारण दूर नहीं कर पाते। हम आन्तरिक शान्ति तो कायम कर नहीं पाते, एक देश में भी शान्ति स्थापित नहीं कर पाते, विश्व शान्ति के सपने देखते हैं। इतिहास साक्षी है कि पिछले पचास वर्षों में हमने युद्ध के अन्दर इतने आदमियों को मारा है जितने पिछले ७०० वर्षों में नहीं मर पाये थे फिर भी हम कहते हैं कि हम विश्वभ्रातृत्व की ओर बढ़ रहे हैं।

यह सब कहना इसलिये आवश्यक हो गया क्योंकि लोगों के अन्दर एक गलत धारणा बनती चली जा रही है कि यदि मनुष्य प्रकृति को समझ लेगा तो मानव की प्रकृति को विजय कर सकेगा। प्रकृति के समझने मात्र से विजय नहीं होगी। प्रोफेसर जॉन डीवी (Prof. John Dewy) और

उनके समर्थक इस बात पर जोर देते हैं कि ज्ञान के द्वारा ही हम शान्ति भी कायम कर सकेंगे और यदि हम मानव प्रकृति को समझ सकेंगे तो मानव प्रकृति की भी विजय कर लेंगे। लेकिन विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह सर्वथा असम्भव है। भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान एक सहस्र वर्षों से एक साथ रहते आये हैं। क्या हम कह सकते हैं कि हम एक दूसरे को नहीं समझते ? एक ही गाँव में, एक ही देश में रहते हुए भी क्या कारण है कि हमारे अन्दर प्रेम भाव उत्पन्न नहीं हो पाया ? क्या कारण है कि हमारे संघर्ष नहीं मिट रहे हैं ? मुसलमानों को जाने दीजिये। एक ही संस्कृति और एक ही परम्परा में पलने वाले हिन्दुओं के अन्दर भी क्या आप कह सकते हैं कि प्रेम भाव बना हुआ है ? क्या आपस में संघर्ष वहाँ नहीं है ? क्या वहां विश्रृंखलितता नहीं है ? जानने मात्र से विजय नहीं होती। जानने के द्वारा विजय कर सकते हैं पर जानना स्वयं विजय नहीं है। यह बात बहुत समझने योग्य है।

विज्ञान हमको ज्ञान देगा, यह बिल्कुल ठीक है। ज्ञान शक्ति के विकास से हम इस बात को जान सकेंगे कि दो देशों के अन्दर युद्ध हो रहा है। जब चीन ने बार-बार हमारे ऊपर आक्रमण किया तो हमारे नेता लोग कह रहे थे कि कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि चीन ने इतना बड़ा आक्रमण क्यों किया ? यह सुन कर बड़ा आश्चर्य होता था। हमारा प्रत्येक ग्रामीण जानता है कि छोटे से खेत की सीमा बढ़ाने के लिये दूसरा आदमी अपनी जान तक दे देता है। कहावत है कि जर, जमीन और जोरू के लिये सब लड़ाइयाँ होती हैं। बड़ा आश्चर्य होता था कि हमारे यहां इतने चिन्तनशील प्राणी इस मोटी सी चीज को समझना नहीं चाहते थे। युद्ध का यह भी कारण हो सकता है कि चीन हमारी जमीन को लेना चाहता है। कारण क्या है, क्या वे जानते नहीं कि इस प्रकार दूसरों की जमीन लेना ठीक नहीं ? यदि ज्ञान मात्र से विजय सम्भव होती तो वे अवश्य विजय कर लेते। अन्तर्राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा सभी क्षेत्रों के अन्दर आज संघर्ष बढ़ता चला जा रहा है। यद्यपि आज हमारा ज्ञान बढ़ता चला जा रहा है, आज हम देश की समस्याओं को समझने की क्षमता अधिक रखते हैं, यातायात के साधन इतने सुगम हो गये हैं कि तुरन्त सब जगह पहुंच कर परिस्थिति को समझने में समर्थ हैं, फिर भी वह ज्ञान केवल संघर्ष का मूल ही बनता चला

जा रहा है। इसके कारण को समझने के लिये इसके अन्तस्तल में जाना पड़ेगा।

गहरे विचार से पता चलता है कि हमारे ज्ञान और इच्छा के अन्दर सामरस्य नहीं है। हमारा ज्ञान हमारी इच्छा को प्रेरित नहीं कर पा रहा है। ऐसा क्यों ? हम एक बात को जानते हुए भी आगे क्यों नहीं बढ़ पा रहे हैं ? यही समस्या अर्जुन की थी। अर्जुन भगवान् से पूछता है, 'अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरूषः अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः' (गी० ३।३६) मालूम पड़ता है कि मन करना नहीं चाहता पर कोई जबर्दस्ती हम से करा रहा है। अर्जुन का प्रश्न बड़ा विचित्र सा मालूम पड़ता है कि बिना इच्छा किये मैं प्रवृत्ति कर जाता हूं तो कौन प्रवृत्ति कराता है ? भगवान उत्तर देते हैं 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' (गी० ३।३७) इच्छा के कारण प्रवृत्त हो रहे हो और काम-क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। अर्जुन का प्रश्न था बिना इच्छा के क्यों प्रवृत्ति करता हूं, उत्तर मिला इच्छा के कारण ही तो प्रवृत्ति करते हो।

यदि कोई मनुष्य कहे कि मैं बिना चाहे हुए कोई काम करता हूं, तो यह बिलकुल गलत है। मनुष्य कार्य करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। आपकी छाती पर बन्दूक रखके भी यदि कोई कह रहा है कि तुम गलत कागज पर दस्तखत कर दो तो आपके सामने दो उपाय हैं, पहला कि आप प्राण देकर सत्य की रक्षा करें और दूसरा कि आप अपने सत्य को देकर प्राण की रक्षा करलें। मनुष्य से जबर्दस्ती दस्तखत नहीं करवाया जा सकता। न दस्तखत करने की कीमत (प्राण गंवाना) इतनी अत्यधिक थी कि उसे देने को वह तैयार नहीं था। आज लोग कहते हैं कि क्या करें हमको जबर्दस्ती झूठ बोलना ही पड़ता है क्यों कि यदि हम सत्य बोलेंगे तो हमारा सारा धन सरकार ले लेगी, हमको टैक्स देना पड़ेगा। 'झूठ बोलना ही पड़ता है,' यह कथन गलत है। झूठ बोलकर आप जिस धन का संरक्षण कर रहे हैं उसे आप सत्य से अधिक मूल्यवान समझते हैं। जिस जीवन को आप बचा रहे हैं उसे झूठ बोलकर बचा रहे हैं। यदि आप सत्य की कीमत को परख लेंगे तो चाहे जितनी कठिन परिस्थिति आये आप बलिदान कर देंगे। बलिदान में ही आप सत्य की रक्षा कर सकते हैं।

इसी चीज को जब हम आगे बढ़ायेंगे, व्यष्टि जीवन से समष्टि जीवन में ले जायेंगे तब हमारे आपसी संघर्षों का एक उपाय निकल सकेगा। ज्ञान के द्वारा इच्छा की ओर बढ़ा जाता है, लेकिन इच्छा में परिष्कार करना नितान्त आवश्यक है। उन्नति न ज्ञान के द्वारा हो सकती है, न इच्छा के द्वारा, उसके लिए ज्ञान से इच्छाओं का परिष्कार आवश्यक है। अभी तक तो यह कहते आ रहे हैं कि ज्ञान द्वारा ही सभी चीजों का हल निकाल सकेंगे। यह गलत है।

साथ ही एक और भी ग़लती होती चली जा रही है। ज्ञान केवल विज्ञान में ही संकुचित नहीं है। दर्शन को भी ज्ञान कहते हैं। परिस्थिति को समझने की शक्ति ज्ञान से आती है, और ज्ञान के द्वारा नियन्त्रित होकर इच्छा हमें प्रवृत्त कर सकेगी यह बिल्कुल ठीक है। लेकिन अब एक दूसरी विचारधारा के लोग कहने लगे हैं कि 'केवल दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करने से क्या होगा ?' यदि उनका जोर इस प्रश्न में 'केवल' पर है तो हम उनसे सहमत हैं। पर यदि उनका जोर 'ज्ञान' पर है तो यह एक दूसरी बड़ी भारी भूल होगी।

एक तरफ तो लोग कहते हैं कि हरेक चीज को जीवन में लाना है। दूसरी तरफ यह प्रश्न पूछा जाता है कि उस चीज के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझकर क्या लाभ होगा ? इस प्रकार बहुत बड़ी समालोचना आजकल लोग करने लगे हैं। धर्म के ऊपर तो यह विशेषकर लाञ्छन लगाया जाता है कि धर्म कहता कुछ है और करता कुछ और है। इसलिए धर्म को ही उड़ा दो।

यदि उनका जोर धर्म को जीवन में लाने पर है तो हमें स्वीकृत हैं। पर जब वे एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि क्योंकि धर्म और जीवन के अन्दर भेद है इस लिये धर्म को ही उड़ा दो तो यह समझना जरूरी है कि धर्म का एक दार्शनिक पहलू भी है जिसको समझे बिना हमारी इच्छाओं में परिष्कार नहीं आ सकता। इसलिये धर्म को ही उड़ा कर काम नहीं चलेगा, ज्ञान की आवश्यकता है।

विज्ञान के क्षेत्र में देखिये। जब हम विज्ञान को व्यावहारिक या

Practical कहते हैं तो केवल व्यावहारिक दृष्टि से क्या कोई भी वैज्ञानिक प्रगति कर सकता है । एक हवाई जहाज को बनाने में कितनी गणना करनी पड़ती है ? गणना का क्षेत्र सैद्धान्तिक क्षेत्र है । अणु-बम कैसे बन पाया ? यदि सापेक्षतावाद का सिद्धान्त (Theory of Relativity) हमारे सामने वैज्ञानिक लोग न रखते तो क्या अणु बम बन सकता था ? जब सन् ३१ के आस पास सापेक्षतावाद के प्रधान सिद्धान्त का परिष्कार हो गया तभी बाद में व्यवहार सम्भव हुआ और सन ४३ के आस पास अणु-बम का विस्फोट सम्भव हुआ। सिद्धान्त के बाद ही व्यवहार आता है । ज्ञान के बाद ही इच्छा आया करती है ।

आजकल एक दूसरा वातावरण बनता चला जा रहा है जिसमें लोग कहने लगे हैं कि दार्शनिक लोग कुछ भी नहीं करते । वे तो केवल एकान्त में बैठे रहकर दूसरों को शिक्षा देते रहते हैं, स्वयं कुछ भी नहीं करते । ऐंसा कहना दूसरी गलती है । पहली गलती तो इस दृष्टिकोण में थी कि हम ज्ञान के द्वारा ही समाज और व्यक्ति का सुधार कर लेंगे । अब दूसरी गलती यह कहना है कि हम केवल व्यवहार के द्वारा ही सुधार कर लेंगे हमको उस के दार्शनिक पार्श्व को समझने की कोई आवश्यकता ही नहीं है ।

इन दोनों ही गलतियों को दूर करके, दार्शनिक पार्श्व को समझकर इच्छा को ज्ञान से अनुप्राणित करना पड़ेगा और ज्ञान को इच्छा में परिवर्तित करना पड़ेगा । जब इन दोनों की सामरस्यता को हम प्राप्त करेंगे तभी आगे बढ़ सकेंगे । यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने कहा (Knowledge is action) ज्ञान ही क्रिया रूप में परिवर्तित होता है । पर वे बीच में इच्छा की कड़ी को भूल गये थे । प्लेटो के इस वाक्य को लेकर अनेक दार्शनिकों ने विचार किया और उस पर अनेकों पद्धतियों को अपनाया । अन्ततोगत्वा कॉन्ट (Kant) ने इस सिद्धान्त का प्रथम बार खण्डन किया । उन्होंने काफी गवेषणा के बाद यह तो कहा कि ज्ञान क्रिया का रूप नहीं बन सकता है, पर उनकी सारी गवेषणाओं में भूल यही रह गई थी कि ज्ञान और क्रिया के बीच की कड़ी पकड़ने की चेष्टा नहीं की गई । ज्ञान और क्रिया के बीच मध्यम परिधि इच्छा है । जब तक ज्ञान इच्छा रूप में परिणत नहीं हो जाता तब तक ज्ञान क्रिया भी नहीं बन सकता । ज्ञान पर दृढ़ श्रद्धा ही उसे इच्छा में परिणत करके क्रिया की ओर ले जाती है । आज श्रद्धा को अन्धविश्वास

माना जाता है। और यह ठीक भी है, क्यों कि अन्धविश्वास का बहुत प्रयोग होने लगा है। पर हमारे शास्त्रकारों ने साधना क्रम के अन्दर श्रद्धा पर बहुत बड़ा जोर दिया है।

श्रद्धा शब्द के मूल में श्रत् और धा ये दो शब्द हैं। श्रदि या धार्यते सा श्रद्धा। हृदय के अन्दर जो धारण की जाय वह श्रद्धा है। धारण करने का अर्थ है समझ बूझ कर धारण करना, किसी के द्वारा जबर्दस्ती थोपा जाना नहीं। मनुष्य अनेक बार कई विचारों को स्वयं अपने ऊपर थोप लेता है, उन्हें जबर्दस्ती मान लेता है। उसका नाम श्रद्धा नहीं है। उसको विश्वास कह सकते हैं। सम्भव है विश्वास सत्य हो, सम्भव है कि वह असत्य हो। हम विश्वास को बुरा नहीं कह रहे हैं, न श्रद्धा को श्रेष्ठ। लेकिन श्रद्धा में एक विलक्षणता है। विश्वास के अन्दर मानना है, श्रद्धा के अन्दर जानना है। जब किसी चीज को अच्छी तरह से समझकर उसको मानते हैं तब उसका नाम श्रद्धा बनता है। बिना जाने हुए किसी चीज को मान लेना विश्वास है। ज्ञान के बाद इच्छा आती है। इच्छा का रूप है श्रद्धा। तभी वह क्रिया के रूप में परिणत होती है।

प्लेटो (Plato) ने ज्ञान और क्रिया का जो सम्बन्ध बतलाया था वह ठीक था। लेकिन इच्छा को न समझ सकने के कारण हम दार्शनिकों के अन्दर अनेक प्रकार की भ्रान्तियों को पाते हैं। इसी प्रकार की एक दूसरी समस्या हमारे यहां राजनीति के क्षेत्र में है। इस समय संसार के अन्दर दो प्रकार की विचारधारायें अपनी मान्यताओं को बढ़ाने के लिये सभी देशों के ऊपर अपने विचारों का आक्रमण कर रही हैं। बाह्य आक्रमण से हम अधिक नहीं घबराते लेकिन विचारों के आभ्यन्तर आक्रमण को अवश्य हमारी विचारसरणि का विषय बनना चाहिये।

आज दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं; एक ऐंग्लो-अमरीकन, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के स्वातन्त्र्य के ऊपर जोर है—विचार की स्वतन्त्रता, बोलने की स्वतन्त्रता, धर्म की स्वतन्त्रता—दूसरी कम्यूनिस्ट, जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अपना कल्याण न जानने वाले छोटे बच्चे की तरह समझा जाता है। उन्हें बताना पड़ेगा कितना अनाज पैदा किया जाय, कितना कपड़ा पैदा किया जाय, और इन सब निर्णयों को कोई व्यक्ति या समूह करेगा, बाकी सब

लोगों का एक मात्र कर्तव्य है इन निर्णयों का पालन करना क्यों कि निर्णायक संगठन ही यह बतला सकेगा कि तुम्हारे लाभ की क्या चीज है। ये दोनों दृष्टियाँ नयी नहीं हैं, पर जब ये आज हमारे सामने आती हैं तो इन पर विचार करना पड़ेगा।

एक में तो व्यक्तिवाद का जोर है, और दूसरी में व्यक्तिवाद को सर्वथा छोड़ दिया गया है। दोनों बातें ग़लत हैं। क्योंकि समष्टि के लिये कोई व्यक्ति या संघ तब तक निर्णय नहीं कर सकता जब तक प्रत्येक व्यक्ति यह न समझ ले कि यह चीज हमारे लाभ की है अथवा नहीं। दूसरी तरफ प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने में दूसरी भ्रान्ति हमारे सामने उपस्थित होती है कि उस स्वतन्त्रता का स्वरूप केवल इतना ही बन पाता है कि अधिकांश व्यक्ति जिस चीज को अच्छा समझते हैं उसके अनुरूप ही क्रिया करने में समर्थ हो जाते हैं और यह मान लिया जाता है कि इसमें सबकी राय है। इस तरह से कोई काम करने में प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि एक पुरुष की ही प्रवृत्ति हो जाती है और उसी को सबका निर्णय मान लिया जाता है।

इन दोनों ही दृष्टियों में ग़लती यह है कि दोनों दृष्टियां बाह्य जगत को लेकर चलती हैं। आन्तरिक जगत् में समन्वय कायम करने का प्रयत्न नहीं करतीं। दोनों ही दृष्टियां सुख प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध हो रही हैं क्यों कि दोनों एक दूसरे से संघर्ष करते हैं। दोनों ही कहते हैं 'हम सबका उत्थान चाहते हैं'। 'उत्थान' शब्द का आजकल बड़ा प्रयोग हो रहा है। जहां जाते हैं वहां कहते हैं लोगों का उत्थान करना है, हरिजनों का उत्थान, गरीबों का उत्थान। कभी हम सोचते हैं कि यदि बहुत उत्थान हो गया तो शायद जमीन के ऊपर कोई रहेगा ही नहीं, सबको अपने मकानों में लिफ्ट लगानी पड़ेगी। क्यों कि जब उत्थान ही होना है तो ऊपर ही ऊपर उठते चले जाना है।

उत्थान शब्द उत् पूर्वक स्था से बना है। स्था का अर्थ है—स्थिर रहना। ऊपर स्थित रहने को उत्थान कहते हैं—हमेशा हिलने डुलने को नहीं। आजकल मनुष्य जितना हिले डुले, जितना हल्ला मचाये उतना ही उत्थान समझा जाता है। दो तीन वर्ष पूर्व दिल्ली में यमुना का पानी बहुत कम हो

गया था । मुर्दों तक को स्नान कराने में बड़ा कष्ट हो रहा था । उस समय मेयर के पास सब बातें ले जाई गईं । उन्होंने सहानुभूति पूर्वक कहा आप दो चार हजार आदमियों को इकट्ठा करके एक जलूस लेकर हमारे सामने से निकालिये तो फिर हम इस पर विचार करके देखेंगे कि क्या कर सकते हैं । यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक सीधी सी माँग को उपस्थित करने के लिये हजार दो हजार आदमियों के जलूस की आवश्यकता है । क्योंकि हमें आदत हो गई है कि जब तक हम हिलना डुलना, रजोगुण की प्रवृत्ति को न देखें तब तक हम विचार करने को तय्यार ही नहीं कि यह मांग आवश्यक हो सकती है । कुछ वर्ष पूर्व ठीक इससे विपरीत स्थिति थी । जिसे हम चञ्चल देखते थे उसके ऊपर विश्वास नहीं करते थे । आज बच्चों तक में स्मार्ट बनना अर्थात् अत्यन्त रजोगुणी होना अच्छा समझा जाता है । कुछ दिन पहले हमने एक छोटे बच्चे को Twist नाचते हुए देखा । नाच में एक अश्लील प्रवृत्ति झलक रही थी जैसी ऐसे नाचों के अन्दर अक्सर हुआ करती है । मन में विचार आया आठ नौ वर्ष के इस प्रकार नाचने वाले बच्चे में आगे चलकर कौनसी धारणायें आयेंगी और यह किस स्थिति तक पहुंच जायेगा इसका कोई ठिकाना नहीं है । जब रजोगुण इतना बढ़ जाता है कि उसे हम संभाल नहीं पाते तो घबरा के कहते हैं कि बच्चे बिगड़ गये । हम यह नहीं सोचते कि उन्हें बिगाड़ने के लिये हमने संकल्प कर लिया है और 'स्मार्ट' कह कह कर हम उन्हें बिगाड़ते चले जाते हैं । जब वह स्मार्टनैस वहां तक पहुंचती है जहां हम नहीं सम्हाल पाते तो समझ लेते हैं कि बच्चा बिगड़ गया । पहले ऐसा नहीं था । पहले यदि हम बच्चे के अन्दर गम्भीरता, चिंतन शक्ति देखते थे तो हम प्रभावित होते थे । समझते थे कि यह विचारशील प्राणी है, विचार से आगे बढ़ सकेगा । अब तो हम धीरे-धीरे रजोगुण की प्रवृत्तियों को महत्व देते चले जा रहे हैं क्योंकि हमारा जोर बाह्य प्रकृति के ऊपर है, आभ्यन्तर जगत् पर नहीं ।

ज्ञान जगत् के ऊपर जोर देते देते हम इच्छा के क्षेत्र से दूर होते चले जा रहे हैं । आज आवश्यकता है दोनों में सामरस्य कायम करने की, दोनों को समझने की । यह प्रश्न चाहे राजनैतिक क्षेत्र में हो चाहे सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में, ज्ञान को हटा कर भी हम नहीं चल सकते; पर जब तक ज्ञान को इच्छा के रूप में परिणत नहीं करेंगे तब तक प्रगति असम्भव है ।

हम कहते हैं कि हमें परमेश्वर पर बड़ा विश्वास है, पर अपना कार्य करते समय हम उसे सर्वथा भूल जाते हैं। एक विचारशील व्यक्ति एक जहाज में जा रहा था। बड़ा भारी तूफान आया तो सब लोग डर गये। वह बड़ी शान्ति से बैठा हुआ था। उसकी पत्नी आकर कहने लगी सब लोग दौड़-दौड़ कर कुछ क्रिया कर रहे हैं लेकिन तुम चुपचाप क्यों बैठे हुए हो। उसने कहा मैं उसके विषय में सोच रहा हूं जो सबका रक्षक है। पत्नी ने पूछा उसे सोचने से क्या होगा? तो उस व्यक्ति ने फौरन अपनी तलवार निकाल ली और औरत की गर्दन पर जा बैठा, और पूछा—'तुझे भय लगता है कि नहीं?' वह बोली—'मुझे आपके ऊपर इतना प्रेम है कि यदि आप तलवार मेरे ऊपर चला भी दें तो भी मुझे मरने का भय नहीं लगता है क्यों कि इससे अधिक अच्छी चीज क्या हो सकती है कि मैं अपने प्रियतम के द्वारा ही मारी जाऊं?' यह सुनकर वह हँसकर नीचे उतर गया और बोला 'अब तुमने समझा कि मैं क्यों शान्ति से बैठा हूं। जब मरना अवश्यम्भावी है तो इससे अधिक अच्छा क्या हो सकता है कि परमेश्वर स्वयं समुद्र रूप में मेरे जहाज को हिलाये और डुबा दे!' यह दृष्टि है, जब ज्ञान इच्छा रूप में परिणत हो जाता है तब हमारा विश्वास हिलता नहीं। क्या परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ हो सकता है? फिर प्रत्येक प्राणी में हम अपनी इच्छा को क्यों चलाना चाहते हैं? हम परमेश्वर की इच्छा के सामने झुकना नहीं चाहते, यह जीवन में ज्ञान और इच्छा के सामरस्य का अभाव है। जैसे जैसे हम इस दृष्टि से आगे बढ़ेंगे वैसे वैसे हम धर्म के ऊपर आने वाले इस आक्षेप का जवाब दे सकेंगे कि धर्म हमारे जीवन का अङ्ग नहीं बन सकता।

दूसरी दृष्टि के लोग पूछते हैं कि दर्शन की क्या जरूरत है, विज्ञान के द्वारा ही हम अपनी इच्छाओं का परिष्कार कर लेंगे। यह दूसरी गलती है। विज्ञान के अन्दर एक बहुत बड़ी कमी है जिसे धर्म के अतिरिक्त और कोई दूर नहीं कर सकता। विज्ञान हमको यह बतला सकता है कि अमुक चीज़ इस प्रकार से होती है, लेकिन उसका होना अच्छा है या बुरा, ऐसी राय विज्ञान नहीं दे सकता। एक स्थूल उदाहरण लीजिये। महात्मा गांधी को गोली लगी; किसी भौतिकवादी से पूछिये कि इसका मतलब क्या हुआ तो कहेगा कि बन्दूक से जिस समय गोली निकली उसकी गति इतनी थी, सामने वाली चीज की प्रतियोगिता या resistance इतना थी, उसके अन्दर जब

गोली गई तो अमुक क्रियायें हुईं; यह सब विस्तृत वर्णन पाकर आप किसी रसायन शास्त्र के ज्ञाता से पूछें तो वह कहेगा कि गोली में अमुक रासायनिक पदार्थ थे, वे रक्त के साथ मिलकर अमुक पदार्थ बने और हृदय में जाकर अमुक गति की। अब आप किसी जन्तु शास्त्र के ज्ञाता से पूछें तो वह बतायेगा कि अमुक नसें टूटने के कारण अमुक रक्त प्रवाह की नाड़ियां बन्द हो गईं और इतना रक्त निकल गया कि गांधी जी का जीवित रहना असम्भव हो गया। इन सब वैज्ञानिकों के मत का संग्रह करके भी आप को किसी वैज्ञानिक से यह पता न चलेगा कि गांधी जी के मरने से हमारा कितना नुकसान हुआ। ये सारी क्रियायें तो किसी अन्य व्यक्ति को गोली लगने पर भी वैसे ही घटित होंगी। पर Values अथवा अर्हा या मूल्यांकन की दृष्टि तो हमें वैज्ञानिकों से नहीं मिली। उसके लिये हमें धर्म के क्षेत्र में जाना पड़ेगा।

हमें यह मानना पड़ेगा कि अमुक चीज कीमती है और अमुक नहीं। एक हीरा वैज्ञानिक की दृष्टि में कोयले का शुद्ध रूप है। इससे अधिक उसकी कोई कीमत नहीं। पर वही जौहरी की नजर में ऐसा हीरा है जिसकी कीमत पचास हजार रुपये भी हो सकती है और लाख भी। इस कीमत को वैज्ञानिक कभी भी नहीं आंक सकता। यदि तुम कहो कि वैज्ञानिक भी हीरे को कीमती मानता अवश्य है तो उसकी वह मान्यता विज्ञान के आधार पर नहीं किसी अन्य दृष्टि से है। जैसे आज वैज्ञानिक भी सत्य और अहिंसा, मानव के संघर्ष आदि की चर्चा करते हैं पर यदि आप इन विषयों में उनसे वैज्ञानिक प्रमाण मांगो तो कहेंगे 'ऐसा होना अच्छा है, इसलिये हम अच्छा मानते हैं।' उनकी मान्यतायें उनके धर्म की मान्यताओं में अन्तर्निहित हैं। चाहे सूक्ष्म रूप से ही क्यों न हों। यदि हम धर्म एवं उसके दार्शनिक पक्ष की ओर दृष्टिपात नहीं करते तो व्यावहारिक जीवन में उत्थान असम्भव हो जायगा। उत्थान् का अर्थ है ऊपर स्थिति। ऊपर का निर्णय किस दृष्टि को लेकर करना है?

मान लीजिये हम बहुत बड़े जहाज को लेकर समुद्र में चल पड़े। समुद्र के बीच में पहुंच कर पता चला कि जहाज चलाने के बाकी सब यन्त्र हमारे पास हैं पर दिशा-सूचक यन्त्र अर्थात् कुतुबनुमा (Compass) हमारे पास नहीं है और दिशा का पता ही नहीं चल रहा है? नक्षत्रों की तरफ देखते हैं तो आकाश बादलों से आक्रान्त है। तो ऐसी परिस्थिति में अच्छा जहाज

होने पर भी हम कहीं से कहीं भटक जाते हैं। यही स्थिति आज मानवता की हो रही है। हम कहां से कहां को जा रहे हैं, यही नहीं जान पा रहे हैं; फिर भी हम कहते हैं कि उत्थान हो रहा है। ऊपर स्थिर रहना उत्थान है न कि नीचे गिरना। स्थिरता कहां पर प्राप्त करें? क्या जैसे हैं वैसे ही बने रहें ? यदि यही अर्थ होता तो 'स्थान' कह दिया जाता 'उत्' का प्रयोग नहीं होता। उत् शब्द उच्च आदर्श बताता है। किसी उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ेंगे तभी उत्थान होगा। निरुद्देश्य हिलना डुलना उत्थान नहीं है।

आज हमारे आदर्श दिन प्रतिदिन बदलते जा रहे हैं। आज से दस वर्ष पूर्व जिसे हम आदर्श मानते थे उसको आज नहीं मानते। हम कहते थे कि प्रान्तों को भाषानुसार बदलना बड़ा अच्छा होगा। फिर एक जमाना आया हम कहने लगे कि भाषा के अनुसार प्रान्तों को बदलना ठीक नहीं। इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में हम अमुक प्रकार की शिक्षा को अच्छा कहते थे। अब शिक्षा के कितने सिद्धान्त बदलते चले जा रहे हैं। प्रतिदिन शिक्षाओं का रूप ही बदल रहा है। बेसिक सिस्टम, मोन्टेसरी सिस्टम, आदि नये नये तरीके चलते हैं। हमारे आदर्श ही स्थिर नहीं हो पाते। कभी हम देश की समृद्धि पर जोर देते हैं, तो कभी देश की मजबूती पर या कभी विज्ञान की उन्नति पर। परिणाम यह होता है कि कभी एक चीज को आगे बढ़ाते हैं कभी किसी दूसरी को। हम यह नहीं जानते कि हमारा उत्थान किधर है। घूम फिर कर उत्थान का एक ही मापदण्ड हमें मिल गया है, वह है धन। उसके विषय में हम सब एक मत हैं कि जिसे धन मिल गया उसका उत्थान हो गया।

एक हमारे मित्र हैं। वह कभी कभी सुनाया करते हैं कि उनकी पच-वर्षीय योजना तो पूरी हो गई। सरकारी पंचवर्षीय योजना के अन्दर यह मानकर चला गया था कि यदि चालीस प्रतिशत देश की आय बढ़ जाय तो बड़ा अच्छा हो। उन्होंने घूस लेकर ही सही, चालीस नहीं साठ प्रतिशत आय अपनी बढ़ा ली है, उनकी तो पञ्चवर्षीय योजना पूरी हो गई, अब दूसरे लोग प्रयत्न करके सरकार की योजना भी पूरी कर दें तो बड़ा अच्छा हो। यदि हमारी उन्नति का मापदण्ड यही रखा जायगा कि हमारी आमदनी कितनी बढ़ रही है तो प्रत्येक व्यक्ति अधिक धन कमा कर योजना की

पूर्ति में सहायता दे रहा है। नतीजा क्या है ? ज्यों ज्यों प्रत्येक व्यक्ति की योजना पूर्ण होती चली जाती है त्यों त्यों सरकार की योजना जहाँ है वहीं रह जाती है, आगे नहीं बढ़ पाती ।

इन दृष्टियों में भेद क्यों होता है ? इसलिए कि उत्थान की कल्पना हम सबने अपनी अपनी बना रखी है। एक बार एक महात्मा एक गाँव से दूसरे गाँव प्रातःकाल जा रहे थे । महात्मा को रास्ते में कुंआ दीख पड़ा । एकान्त स्थान था । स्नान करके प्रेम से भजन करने बैठ गये । पांच साढ़े पांच बजे तक ध्यान लगा कर वृक्ष के नीचे बैठे रहे । लोगों का आवागमन शुरू हुआ । पहले एक चोरों का दल निकला, सोचने लगे कि यह कोई चोर होगा, चोरी करके रात भर कुछ मिला नहीं क्योंकि इसके पास थैला भी नहीं है, कोई धन भी नहीं है, इस लिये थक कर यहां बैठ गया होगा । क्या पता पुलिस इसे पकड़ लेवे, तो हिलाने डुलाने लगे और बोले 'भाई चोर, यहां न बैठो, यदि बैठना ही हो तो अन्दर जंगल में जाकर बैठो' । महात्मा की समाधि खुली और बोले 'मैं चोर नहीं हूं, मुझे पुलिस का कोई भय नहीं, आप लोग अपने रास्ते जाओ' । चोर गये ही थे कि महात्मा की समाधि भंग करने एक शराबी पहुंच गया। वह सोचने लगा कि शायद इसने बहुत अधिक शराब पी ली है और चलने में समर्थ नहीं है । अच्छा हुआ मैंने कम पी है, लड़खड़ा कर ही सही चल तो रहा हूं शायद घर पहुंच जाऊंगा । महात्मा को हिलाकर बोला 'भाई, तू मेरा सहारा लेकर ही अपने घर चला चल' । महात्मा बोले 'भाई, मैंने शराब नहीं पी है, न तुम्हारे सहारे की ही जरूरत है । तुम अपने रास्ते जाओ' । फिर भजन करने बैठ गये । अब उधर से एक व्यक्ति निकला जो वस्तुतः साधु न होने पर भी साधु का वेष धारण किये हुए था । उसने देखा महात्मा बड़ा तेजस्वी है और सोचा कि शायद इस गांव में धन एकत्रित करने आया है । उसने महात्मा को बड़े जोर से हिलाया और कहा 'अरे, यहां के गाँव वालों के अन्दर महात्माओं के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है, कोई एक दुर्घटना ऐसी हो गई थी कि वे महात्माओं को देखकर मारने पीटने लगते हैं; इसलिए बाबा जी यहां से चले जाओ' । महात्माजी कहने लगे कि 'यदि गाँव वालों में श्रद्धा की कमी है तो मेरा धर्म है कि मैं धीरे-धीरे उनमें श्रद्धा पैदा करूं । मेरी वे कोई हानि न कर सकेंगे । यदि तुम को भय लगता है तो तुम चले जाओ, मुझे ध्यान करने दो' । थोड़ी देर बाद वहां एक वास्तविक भक्त आया । महात्मा

को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। सोचने लगा कि जब इनकी समाधि खुलेगी तब मुझे उपदेश करेंगे। बड़े प्रेम और शान्ति से बैठ गया। सूर्योदय के बाद महात्मा ने आंखें खोलीं और उस भक्त से पूछा कि क्या चाहते हो। वह बोला 'भगवन्, अगर मुझे यह पता होता कि मैं क्या चाहता हूं तो अवश्य आप से कह देता। मैं तो जीवन में ढूंढता फिरता हूं कि मेरे लिए उपादेय क्या है। वस्तुतः कौन सी ऐसी चीज है जो मुझे चाहनी चाहियें। मुझे आप वही उपदेश करें कि जिसके चाहने से सब अन्य चाहें मिट जाती हैं'। अधिकरी देखकर महात्मा ने कहा 'आत्मकामस्तु आप्तकामः' संसार में आत्मा की कामना करके मनुष्य की सारी कामनायें मिट जाती हैं। तुम उस आत्मतत्व की ही जिज्ञासा करो। बड़ा प्रसन्न होकर वह भक्त बोला—'महात्मन् आप मुझे आत्म तत्व का उपदेश कीजिये'। महात्मा ने उसे आत्म तत्व समझाया। अधिकारी पुरुष था। अन्तःकरण में प्रकाश उदय हुआ। समझ गया तत्व का स्वरूप क्या है। फिर बोला—'महात्मन् गांव में चलें, भिक्षा करें'। महात्मा उसके साथ चल पड़े।

विचार कीजिये कि इस कथा में महात्मा के पास कई तरह के लोग आये लेकिन वास्तव में उत्थान किसका हो सका। जो मनुष्य अपनी जैसी भावना लाया वह महात्मा को वैसी दृष्टि से देखता गया। उनको कोई लाभ नहीं हो सका। लाभ तभी हो सका जब वास्तविक व्यक्ति आया जिसके अन्दर कोई भावना नहीं थी, स्वयं अपनी कोई कामना नहीं थी।

यहां महात्मा की जगह पर श्रुति 'शं' कह रही है। कल्याण ही सुख का रूप है। हम अपनी मान्यताओं को लेकर जिसको सुख कहते हैं वह वस्तुतः सुख नहीं है। यहां तक कि हम परमेश्वर के पास भी अपनी मान्यताओं को लेकर जाते हैं। कोई समझता है कि परमेश्वर क्या होगा, कोई बड़ा स्वादिष्ट पदार्थ होगा। माण्डूक्य उपनिषद् की कारिका में गौडपादाचार्य ने एक ऐसा भी पक्ष रखा है कि सूपकार (रसोई बनाने वाले) की दृष्टि में सुन्दर पकवान ही ब्रह्म हैं। (भोज्यमितिच तद्विदः २।२२)। पहले भी बहुत से पक्ष थे। आज कल भी बहुत से लोग कह देते हैं, भाई हम तो और कोई ब्रह्म नहीं मानते हैं, हमारे लिए तो लड्डू ही ब्रह्म है। उनको भी श्रुतियों में प्रमाण मिल जाता है "अन्नं ब्रह्म" (तै० ३।२) अन्न ही ब्रह्म है। असद्वादी को भी प्रमाण मिल जाता है "असदेवम अग्रआसीत्" (छा० ६।२।१)। इसके आगे जो श्रुति

कहती है उसको वह दबा देते हैं। श्रुति और शास्त्र के पास भी हरेक आदमी अपनी मान्यताओं को लेकर जाता है।

एक मुसलमान अत्यधिक शराब पिया करता था। एक फकीर उसके पास आया और बोला—'यह बुरी आदत है इसे छोड़ दे'। शराबी बोला कि कुरान में लिखा है कि शराब पीनी चाहिये। उसने पूछा, कहां लिखा है? तो शराबी ने कुरान खोल कर दिखाई कि यह देखिये 'शराब पीना' ऐसा लिखा है। उसमें लिखा था 'शराब पीना मना है'। तो फकीर बोला कि आगे तो लिखा है 'मना है'। शराबी ने उत्तर दिया तो आधा आप मानलो और आधा हम मान लेते हैं। शास्त्र के पास जब व्यक्ति अपनी मान्यताओं को लेकर जाता है तो जितना अपने को उपादेय होता है उतना मान लेता है, बाकी छोड़ देता है। जैसे उस शराबी ने 'शराब पीना' इतना बांच लिया और 'मना है' यह छोड़ दिया कि दूसरे उसका पालन करें।

ठीक इसी प्रकार श्रुति ने आनन्द को 'शं' कहा। सभी उस सुख की तरफ जाना चाहते हैं लेकिन उस सुख की प्राप्ति का उपाय क्या है? जैसे पिछले कथानक में महात्मा के पास चोर पहुंचा था वैसे यहां पर भी चोर पहुंचता है। मनुष्य ही चोर है। वह चोरी किस प्रकार करता है? श्रुति का उद्घोष है कि सारा धन परमेश्वर का है 'ईशावास्यमिदं सर्वं' तुम्हारा कुछ भी नहीं है अत: 'मा गृध:कस्य स्विद्धनम्' (ईश उपनिषद् १) पर हम मान बैठे हैं कि यह सब हमारा है।

यदि यह चीज हमारी होती तो हमेशा से हमारी रहती और हमेशा हमारे पास रहती। कुछ समय के लिये जो चीज़ आया करती है उसके मालिक हम नहीं बन सकते। संसार के सभी पदार्थ हमारे पास आद्यन्त में नहीं होते, अत: हम उनके मालिक नहीं। जब हम उसके मालिक बनकर बैठ जाते हैं तो दु:ख उठाते रहते हैं। जैसे दृष्टान्त में चोर आकर समझ रहा था कि इसने चोरी की होगी वैसे भौतिकवादी भी परमेश्वर को चोर ही समझता है। इसलिये हमें सुनने को मिलता है कि 'अरे! परमेश्वर तो बड़ा घूसखोर है। जो उसका भजन करें, उसका नाम लेवें उनको मुक्ति देता है, दूसरों को कुछ नहीं।' तो हम कहते हैं कि भाई! तुम परमेश्वर के पास चोर बन कर गये तो तुम्हें वहां चोर के अतिरिक्त और क्या नज़र आयेगा? जैसे उक्त दृष्टान्त में

महात्मा के पास शराबी पहुँचा था वैसे यहां भी मनुष्य शराबी है। शराब के नशे में क्या ठीक है क्या गलत है इसका भान नहीं रहता। इसी प्रकार मानव को पता ही नहीं है कि सत् क्या है और असत् क्या है। ठीक और गलत को जानने के लिये जब भिन्न भिन्न धर्मों को देखते हैं तो एक जगह एक बात कही है और दूसरी जगह दूसरी बात। कुरान में कहा है कि ईद के दिन गाय खाओ और हिन्दू लोग कहते हैं हिंसा मत करो। इसी से मालूम पड़ता है कि ठीक कुछ नहीं, जो मर्जी आये करो, क्यों कि धर्मों के अन्दर आपस में विरोध है। जिस प्रकार शराबी ने महात्मा को भी शराबी समझा था उसी प्रकार यहां भी मानव परमेश्वर को शराबी ही समझता है। जैसे चोर सुख स्वरूप परमात्मा को चोर ही समझकर चोरी द्वारा सम्पत्ति एकत्रित करके सुखी होना चाहता है, वैसे ही शराबी भी समझता है। उसका सत् और असत् का विवेक हट गया है और सुख चाहता है।

आजकल उक्त मतवालों को एक ऋषि भी मिल गये हैं। प्रायः हर युग के ऋषि हुआ करते हैं। ऋषि शब्द से घबराइये मत क्यों कि जो मन्त्रद्रष्टा है वही ऋषि होता है। जो भी कोई नई बात कहे उसे हमारे यहां ऋषि कह दिया जाता है। हमारे यहां तो चार्वाक को भी महर्षि चार्वाक कहा जाता है। तो आधुनिक ऋषि फ्रॉइड ने इस बात को कहा था कि हमारे अन्तस्तल के अन्दर दो चीजें बैठी हुई हैं। एक निम्न चेतना Id और दूसरी ऊर्ध्व चेतना Super-ego। इनका द्वन्द्व चलता ही रहता है। किसी प्रकार से सत् और असत् का विवेक हट जाय तो हम जैसा चाहें वैसा बन जायेंगे और सुखी हो जायेंगे।

इसी प्रकार बहुत से लोग यही समझते हैं कि यदि हमारे मन से यह भावना हट जाय कि क्या पाप है तो हम सुखी हो सकेंगे।

तीसरा व्यक्ति जो महात्मा के पास पहुंचा था वह खुद ही ढोंगी था। इसलिये उसे वहां पर भी ढोंग नजर आया। जो स्वयं ढोंगी होता है उसे परमेश्वर में भी ढोंग नजर आता है। वह कहता है कि अरे! ऐसे ही परमेश्वर का एक ढकोसला बना रखा है। परमेश्वर के अन्दर ही ढकोसला नहीं देखता बल्कि सुख को भी ढकोसला मानता है। वह समझता है कि सुख असम्भव है। आजकल Scepticism या संदेहवाद की विचारधारा बढ़ती चली जा रही है। भगवान कृष्ण के समय में भी संदेहवाद था। उन्होंने

इसको इतना घृणित बतलाया कि 'नायं लोकोऽस्ति न परः न सुखं संशयात्मनः' (गी. ४/३९) जो इस लोक को मानता है और इसी में सुख मानता है उसको भी शायद कुछ मिल जाय, जो परलोक को मानता है और परमेश्वर को मानता है उसको परमेश्वर मिल जायगा, पर जो सन्देहवादी है उसे न इस लोक में सुख है न परलोक में क्योंकि उसके अन्दर संशय बैठा हुआ है। आज उस ढोंगी की तरह हम भी सन्देहवादी बनते चले जा रहे हैं।

इस प्रकार तीन तरह के मनुष्य होते हैं:—एक तो कहते हैं कि वे धन से सुखी होंगे, वे चोरों की जगह पर हैं; दूसरे कहते हैं हमारे मन से सत्-असत्, पुण्य-पाप की भावना हट जाय तो खुल कर खेलें, वे शराबी की जगह पर हैं; तीसरे कहते हैं सुख तो कोई चीज ही नहीं है, उसे तो मान लिया गया है, पर वह सदा दूर ही हटता रहेगा। क्यों कि अनुभव कहता है कि न तो धनी सुखी है, न कोई अन्य। ऐसा व्यक्ति परमेश्वर को भी ढोंग समझता है।

अन्त में भक्त आता है। श्रद्धा वाले को ही भक्त कहते हैं। जो मनुष्य अपने ज्ञान को इच्छा के रूप में परिणत करना चाहता है, उसी के अन्दर श्रद्धा का बल है, श्रद्धा की शक्ति है। आचार्य मधुसूदन ने अद्वैतसिद्धि के मंगलाचरण में 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन' लिख कर बताया कि हम तो संन्यासी हैं हमारे पास और कोई धन नहीं है, लेकिन श्रद्धा हमारा धन है। हमने अपने ज्ञान को इच्छा के रूप में परिणत करने के लिये श्रद्धा का सहारा लिया है। जो ज्ञान को इच्छा के रूप में परिणत कर सकेगा वही श्रद्धा वाला होगा। वही आगे बढ़ सकेगा।

वेदों के अन्दर भी अगर धन गिनाया है तो श्रद्धा को 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' (बृ. ४/४/२३)। यह भक्त श्रद्धा रूपी धन को लेकर आया था। उसने विचार किया जिसको श्रुति सुख कह रही है, जो परमेश्वर से अभिन्न है, उसके अन्दर अवश्य सुख होगा। वह अपनी भावनाओं को लेकर नहीं आया था अतः उसने कहा कि जिसको आप सुख समझते हों, क्यों कि आपने सुख को प्राप्त किया है, उस सुख का उपदेश हमें देवें। यह है धर्मनिष्ठा की भावना। ऐसा व्यक्ति शास्त्रों की तरफ इसलिये नहीं जाता कि हम अमुक कामना या अमुक इच्छा को पूर्ण करें, वह तो असलियत को समझने के लिये जाता है, और उसे समझकर जब अपने जीवन में लाता है तो ज्ञान और इच्छा का सामरस्य हो

जाता है। ज्ञान और इच्छा की सामरस्यता होने से क्रिया की सामरस्यता अवश्यम्भावी है। तभी व्यक्ति के जीवन में सुख और शान्ति का उदय हो सकता है अन्यथा नहीं।

मानव जीवन का उद्देश्य बतलाते हुए पहले यह कह आये हैं कि हमको आगे बढ़ना पड़ेगा, पर इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि किस दृष्टि को लेकर आगे बढ़ें। यहां बतलाया कि ज्ञान और इच्छा का सामरस्य करने पर ही हमारा उत्थान होगा—हम मानव बन सकेंगे। यदि ज्ञान और इच्छा का सामरस्य नहीं होगा, हम केवल ज्ञान में रहेंगे तो भी मानव नहीं बन पायेंगे, क्यों कि मानव का लक्षण उत्थान है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का सामरस्य होने से ही मानव बनेंगे। इच्छाओं की विजय करनी पड़ेगी। अन्तः प्रकृति को न जीतकर केवल बाह्य प्रकृति को जीतने से हम मानव नहीं बनेंगे। अन्तः प्रकृति की विजय के साथ इच्छा-शक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस इच्छा-शक्ति के अन्दर हम किस प्रकार ज्ञान को ला सकें कि एक चीज से दूसरी चीज में अन्तः प्रविष्टि हो जायें। जब तक ज्ञान को हम इच्छा रूप से परिणत नहीं कर पायेंगे तब तक आगे नहीं बढ़ पायेंगे। यही है इच्छाओं का शोधन।

इच्छा को नया पैदा करना नहीं है, इच्छा तो हमारे पास है। लेकिन हम इच्छाओं का शोधन नहीं कर पा रहे हैं। इच्छा की शुद्धि से जो परिवर्तन आयेगा उस पर आगे विचार करेंगे।

सामरस्य का पथ

तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रथम मंत्र के 'शं' पद पर विचार करते हुए हमने ऊपर यह देखा कि शं का अर्थ कल्याण है, और कल्याण को ही समष्टि दृष्टि से एक मात्र प्राप्तव्य बताया जा रहा है। उस कल्याण के स्वरूप पर विचार करते हुए बताया कि जब तक ज्ञान, इच्छा, क्रिया का सामरस्येन अवस्थान नहीं होता, 'जानाति, इच्छति, यतते' इस प्रकार मिलाया नहीं जा सकता तब तक मनुष्य ज्ञान को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सकता। ज्ञान को इच्छा रूप में परिणत करने पर ही आगे क्रिया तक पहुँच सकते हैं। ज्ञान किस प्रकार इच्छा रूप में परिणत हो सकता है इसके ऊपर विचार किया। अब विचार करना है कि ज्ञान होने पर वह इच्छा रूप में परिणत क्यों नहीं होता।

हम बहुत सी बातों को जानते हैं लेकिन जानने पर भी वह ज्ञान हमारी इच्छा का विषय नहीं बन पाता उसको हम चाहते नहीं। यद्यपि कहने को तो हम कह देते हैं कि हम चाहते हैं, पर आन्तरिक दृष्टया वह इच्छा क्यों नहीं हो पाती? यदि इच्छा होवे तो उसके अनुरूप कर्म अवश्यम्भावी है। क्रिया का अभाव ही इच्छा के अभाव का द्योतक है।

इच्छा के स्वरूप पर विचार करने से यह पता लगता है कि ज्ञान होने पर भी हमारी दृढ़ इच्छा क्यों नहीं हो पाती। कारण यह है कि जिस चीज को हम जानते हैं तद्विषयक प्रेम का हम में अभाव है। जानने पर भी बिना प्रेम के इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इच्छा का सम्बन्ध प्रेम से है। जिस चीज में हमारा प्रेम होगा उसके विषय में नहीं जानने पर भी इच्छा उत्पन्न हो जायगी। प्रेम के द्वारा ही ज्ञान और इच्छा का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। इच्छा शक्ति का सम्बन्ध हमारे भावना साम्राज्य से है; प्रेम से ही इच्छा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः मनुष्य वैसा ही है जैसी इच्छा करता है, सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है 'स यथा क्रतुर्भवति'

(छा० ३।१४।१) कि जो जैसी इच्छा वाला होता है उसके अनुरूप ही वह मानव बनता है। कौन मनुष्य कैसा है यह इस बात से पता लगाया जा सकता है कि वह किस चीज को प्रिय समझता है।

मानव का स्वभाव है कि वह प्रेम का आदान प्रदान चाहता है। मनुष्य के जीवन का प्रारम्भ ही प्रेम से होता है। जब तक मनुष्य को माता का प्रेम उपलब्ध न हो तब तक उसका बड़ा होना ही असम्भवं है। तुच्छ से तुच्छ मानव भी वस्तुतः प्रेम पाना और प्रेम देना चाहता है। प्रेम के आदान प्रदान से समाज संश्लिष्ट होता है। यदि आपस में प्रेम न हो तो समाज कभी भी संश्लिष्ट रूप से जीवित नहीं रह सकता। यह विषय दूसरा है कि वह प्रेम असली है अथवा बनावटी। लेकिन जिस संश्लिष्टता को अंग्रेजी में Cohesion कहते हैं, जो समाज को साथ साथ रखता है उसे लाने वाला प्रेम ही हो सकता है दूसरा नहीं। इतना ही नहीं, प्रेम ही मनुष्य की प्रवृत्ति परमेश्वर की ओर कराकर उसे विषय वासना से हटाता है।

प्रेम और वासना दोनों एक साथ नहीं रह सकते क्यों कि दोनों में आधार-भूत विरोध है। यह भेद क्या है? आज हम मोह को ही प्रेम के रूप में समझने के आदी हो गये हैं, मोह और प्रेम में भेद नहीं कर पाते। मोह की विशेषता है कि वह पदार्थ की प्राप्ति के समय घट जाता है और प्रेम की विशेषता है कि पदार्थ की प्राप्ति काल के पूर्व जैसा था, प्राप्तिकाल में भी वैसा ही रहता है तथा मोह की तरह प्राप्ति के बाद घटता नहीं अपितु बढ़ता ही चला जाता है। अतः कई विचारक प्रेम को उस शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बतलाते हैं जो निरन्तर बढ़ता चला जाता है, यदि कोई विशेषता है तो यह कि यहां कभी भी पूर्णिमा नहीं आती। पूर्णिमा आने के बाद चन्द्रमा का क्षय होने लगता है, परन्तु प्रेम की पूर्णिमा न आने के कारण सदा अभिवृद्धि ही होती रहती है।

प्रेम के आधार पर ही मनुष्य अपना पुर्ननिर्माण कर लेता है। एक प्रकार की विचारधारा को छोड़कर नवीन दृष्टिकोण उसमें तभी आ पाता है जब वह दृष्टि उसे प्रेम के द्वारा प्राप्त हो। जैसा लोक में है वैसा ही पारलौकिक रूप में भी समझना चाहिए। परमेश्वर के विषय में भी यही है कि मनुष्य के अन्दर जब परमेश्वर के लिये प्रेम होगा (केवल भय नहीं) तब उसकी

इच्छा उत्पन्न होगी और स्वभावतः विषय वासनाओं का परित्याग करके वह परमेश्वर की तरफ बढ़ने लगता है। प्रेम में केवल पुनर्निर्माण की ही नहीं, ऐसी शक्ति भी है कि मनुष्य अपने प्राण तक को होम देता है। जब राष्ट्र के लिये लोग शहीद होते हैं, अपने प्राणों की बलि देते हैं तो उसका आधार प्रेम ही है जो उन्हें सर्वस्व बलिदान करने के लिये प्रेरित करता है। यह शक्ति मनुष्य के पुनर्निर्माण—विषय वासनाओं के परित्याग—के लिये आवश्यक है।

इस शक्ति को नये सिरे से नहीं प्राप्त करना है। मानव का तो स्वभाव ही प्रेम का है। इसके अन्दर वह सर्वथा रहता है पर उसका प्रयोग ग़लत ढंग से करता है, इस कारण उसका विपरीत परिणाम भी देखने में आता है। प्रेम जिस प्रकार मनुष्य की अभिवृद्धि कर उसे आगे बढ़ा सकता है उसी प्रकार नीचे भी गिरा सकता है। एक दृष्टि से देखिये कि जहां परमेश्वर के प्रेम से हम उसके मालिक बन सकते हैं उसी प्रेम को जब हमने विषयों में लगा दिया तो वह प्रेम हमें चौरासी लाख योनियों में घुमा रहा है, निरन्तर हमारा पतन करा रहा है और हमको आगे बढ़ने नहीं देता। इस दृष्टि से देखने पर प्रेम के अन्दर विश्लिष्ट और संश्लिष्ट करने की दोनों शक्तियां हैं। पर प्रेम के स्वरूप को न समझने के कारण ही हम उसको ग़लत समझ लेते हैं।

प्रेम के तीन भेद हैं। प्रथम वह जिसे हम व्यापारी का प्रेम कह सकते हैं। मैं तुमसे प्रेम करता हूं, इसके बदले में तुम भी मुझ से प्रेम करो। प्रायः मनुष्य इसी प्रेम का अभ्यासी है—Barter system–बार्टर सिस्टम, जैसे मैं तुम को गेहूं देता हूं, तुम मुझको चना दो। क्यों कि मैं तुम से प्रेम करता हूं, इसलिये तुम भी मुझसे प्रेम करो। इसमें यदि दूसरा व्यक्ति प्रेम नहीं करता है तो प्रथम व्यक्ति दुःखी हो जाता है। इतना ही नहीं, यदि मध्य में कोई दूसरी चीज आ जाती है तो उसके हृदय में ईर्ष्या और न जाने किन किन भावों का उदय होता है। प्रायः मनुष्य प्रेम शब्द से इसी को समझता है। लेकिन यह वास्तविक प्रेम है नहीं। इसको तो शास्त्रीय भाषा में भाव शब्द से कहा गया है। भाव और प्रेम में बड़ा अन्तर है।

प्रेम का दूसरा भेद इससे भी निकृष्ट कोटि का होता है। इसमें मनुष्य केवल चाहता ही चाहता है। आजकल लोगों में यह भाव प्रधान होता चला जा

रहा है कि तुम तो हम से प्रेम करो, हमको कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। इसको अंग्रेजी में कहते हैं Demanding Love--जिसमें हम केवल अपनी ही दृष्टि चाहते हैं दूसरे की नहीं। यह पहले से निकृष्ट है क्यों कि प्रेम के अन्दर केवल देना होना चाहिये लेना नहीं।

तृतीय भेद प्रेम की पूर्णता का है, जिसमें केवल देना ही देना होता है लेना सर्वथा नहीं। ये तीन भेद केवल लौकिक प्रेम में ही नहीं होते परमात्मा के प्रति प्रेम में भी दिखाई पड़ते हैं। कई लोग परमात्मा से लेते ही लेते हैं, सदा कुछ मांगते ही रहते हैं, पर यदि कुछ देने का अवसर आ जाय तो उसके लिये बिल्कुल तैयार नहीं होते, न उसकी जरूरत ही समझते हैं। आजकल इसी प्रकार की भावना का प्रभाव देखने में आता है। यदि किसी मनुष्य से कहो कि आज शिवरात्रि है तो वह पूछेगा रात्रि भर जागने से क्या होता है, हवन करने से क्या होता है, पूजा करने से क्या होता है? फिर परमेश्वर के सामने जाकर प्रार्थना करेगा कि हे भगवन्! हमको अमुक चीज दे दो, हमारा अमुक काम कर दो, हमारे ऊपर अमुक कठिनाई आ गई है उसे दूर कर दो। यदि उससे कहा जाता है कि भाई! इस कठिनाई को दूर करने के लिए तुम्हें त्याग और तपस्या में प्रवृत्त होना पड़ेगा, तो तुरन्त उत्तर देता है कि क्या भगवान हमसे प्रेम नहीं करते? यदि भगवान हमसे प्रेम करते हैं और हमारे सारे काम करते हैं तो हमें उसके बदले में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं! हमसे परमेश्वर कभी न कहे कि तुम्हारा यह कर्तव्य है, कर्तव्य तो केवल परमेश्वर का ही है। कुछ दिन पूर्व एक सज्जन सुना रहे थे कि लड़के आजकल कह दिया करते हैं कि माता पिता हमको पाल पोस कर बड़ा करें यह उनका कर्तव्य है, हमारा कोई कर्तव्य नहीं। इस सब के अन्दर भाव क्या है? प्रेम की एक निकृष्ट अवस्था, जिस में मनुष्य केवल चाहता ही चाहता है, देने के लिए कभी भी तैयार नहीं होता। लौकिक दृष्टि से भी ऐसा प्रेम देखने में आता है और दूसरी तरफ परमेश्वर की तरफ जाने वाला व्यक्ति भी परमेश्वर से केवल चाहता ही चाहता है, परमेश्वर के लिये कुछ करने का समय आने पर वह सर्वथा कुछ करने को तैयार नहीं होता।

कुछ मध्यम कोटि के लोग भी हैं, जो परमेश्वर के लिये कुछ करने को

भी तैयार हैं, पूजा पाठ इत्यादि करेंगे, पर साथ ही परमेश्वर के साथ व्यापार भी चलाते रहते हैं। मैंने शिवरात्रि का व्रत या अमुक पाठ किया है, इसलिए इसके बदले में मेरा यह काम कर दो। यद्यपि वे स्वयं नहीं जानते कि उनके लिए क्या इष्ट है, फिर भी यदि कभी उनके मन के अनुकूल व्यवहार न हो पाया, उनके विरुद्ध कोई काम हो गया तो झट कह देते हैं कि मैंने भगवान का इतना भजन किया, इतना व्रत किया, पर भगवान ने मेरे लिये क्या किया? यह दूसरी कोटि का प्रेम है जिस में भगवान के साथ व्यापार किया जाता है।

ये दोनों ही पर-प्रेम, जिसका लक्षण शांडिल्य भक्तिसूत्र में 'सा परानुरक्ति-रीश्वरे' किया गया है, नहीं है। जब हम परमेश्वर के प्रति प्रेम करते हैं तो परमेश्वर हमारे प्रति कुछ करता है या नहीं इस पर हमारी दृष्टि ही नहीं रहनी चाहिये। किसी भक्त ने कहा है कि 'आश्लिष्य वा पादरता पिनष्टु मामद-र्शनान्मर्महतां करोतु वा। यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव केवलः।' परमेश्वर चाहे मुझे स्वीकार करे या न करे दोनों ही हालतों में मैं तो उसको ही प्राणनाथ स्वीकार करता हूं, मेरा प्रेमपात्र वही है। प्रेम की पूर्णता वहीं होती है जहां लेने का विचार मन में नहीं आता केवल देना ही देना रहता है। ऐसा नहीं होता कि बदले में ईश्वर का प्रेम न मिले। जो इस प्रकार ईश्वर से प्रेम करेगा उसको न केवल परमेश्वर का प्रेम मिलेगा बल्कि जो कुछ भी परमेश्वर के हाथ में है वह सारा का सारा अपने भक्त को दे देगा। भगवान की तो यह प्रतिज्ञा है कि 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते (गी० ९।२२) मैं उसे प्रेम ही देता हूँ ऐसा नहीं, उसके योगक्षेम, उसके सारे व्यवहार का निर्वाह मैं कर लेता हूं। लेकिन कब? जब अन्य पदार्थों की चिन्ता छोड़कर मेरी चिन्ता करेगा तब। लेकिन होता क्या है? हम इस प्रकार का प्रेम कर नहीं पाते। इसीलिये हमें व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों जगतों में दुःख उठाना पड़ता है।

व्यवहार में भी यह सत्य है कि यदि किसी के साथ आप सच्चा प्रेम करेंगे और बदले में कुछ भी पाने की इच्छा नहीं होगी तो वह प्रेम उस मनुष्य को परिवर्तित कर देगा। ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त इतिहास और शास्त्रों में पाये जाते हैं जहां मनुष्य दुःख देने के लिये गया लेकिन दूसरे के प्रेम को देखकर धीरे-धीरे सर्वथा परिवर्तित हो गया।

कलकत्ते में एक सज्जन शराब पीने के शौकीन थे। उनका एक भाई मठ में आने जाने लगा तो उनको बहुत गुस्सा आया। वे मठ में गये और शराब पिये हुए थे। वहां जाकर मठ के स्वामी जी को खरी खोटी सुनाने लगे कि आपने मेरे भाई को फँसा लिया, मैं आपके ऊपर पुलिस का मुकदमा कर दूंगा, आदि। स्वामी जी ने बड़े प्रेम से सारी बातें सुनीं और उनसे कहा "आप धूप में आये हैं शायद आपको प्यास लगी होगी, ठंडा पानी पी लीजिये जो आप कहते हैं सब ठीक है, हम उसी के अनुसार प्रयत्न करेंगे, पर आप शान्त हो जाइये।" उनको प्रेम से बैठाया और पानी पिलाया। वे कहने लगे कि मैं शराब पीने वाला आदमी हूं, इस बात को आप जानते हैं कि नहीं? महात्मा ने कहा कि 'भाई! जानने की आवश्यकता ही नहीं, आधे मील से ही पता लग जाता है कि आप क्या पीकर के आये हैं, पर चिन्ता की कोई बात नहीं फिर मुझसे मिलने आइयेगा।' ये व्यक्ति जहां जाते थे लोग इन्हें शराबी समझकर घृणा करते थे इसलिये इन्होंने सोचा यहां भी उनका अत्यन्त विरोध किया जायगा। पर एक दो दिन बाद जब मौका निकाल कर मठ में जाने लगे तो धीरे-धीरे स्थिति यह हो गई कि सप्ताह में सात दिन जाने लगे और उनका भाई तो सप्ताह में दो ही दिन जाता था।

शास्त्रकारों ने बतलाया है कि सत्सङ्ग का फल अमोघ होता है। धीरे-धीरे उनका जीवन परिवर्तित हो गया, शराब पीने में फर्क पड़ गया, सारे जीवन ने एक नया मोड़ लिया और वे सर्वथा परमेश्वर में अपना चित्त लगाने लगे। जिस भाई को ठीक करने निकले थे उससे भी आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ गये। इसका कारण क्या था? मनुष्य शराब इत्यादि पीने में प्रवृत्त क्यों होता है? प्रेम के अभाव के कारण। हमारे यहां आजकल बालकों में Juvenile delinquency अपराध वृद्धि की एक बड़ी भारी समस्या होती चली जा रही है; हमारे ही देश में नहीं बल्कि सभी औद्योगिक देशों के अन्दर हम देखते हैं कि बच्चों के अन्दर एक विचित्र प्रकार का जीवन आता चला जा रहा है। प्राचीन दृष्टि को वे अपना नहीं पाते, नवीन दृष्टि अपनाने का चित्र हमारे सामने नहीं आता। इस सबके मूल में क्या है? बच्चों में भी प्रेम की भूख है। वह प्रेम उनको अपने भाई से, अपनी माता से, अपनी बहिन से नहीं मिलता। इसलिये उसे अपने संगी साथियों से पूरा करना चाहते हैं। उन साथियों में भी दृष्टि की पूर्णता न होने के कारण उनका जो निर्णय होता है

वह सर्वथा गलत होता है और उसका परिणाम जो होना चाहिये वह नहीं हो पाता और अन्ततोगत्वा वे बुरे कार्यों में चले जाते हैं।

शराब आदि पीने के मूल कारण में यदि जायें तो वहां पर भी यही बात है। मनुष्य चाहता है लोग मुझे देखें, इस कारण वह प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक दृष्टान्त बहुत देखने में आते हैं। बंगलोर में एक तीन साल का लड़का टेढ़ा देखने लगा था। माता-पिता को बड़ी चिन्ता हुई। डाक्टर ने आकर परीक्षा की, आंख में कोई दोष नहीं पाया। पर उसका टेढ़ा देखना ठीक नहीं हो रहा था। विचार किया गया तो पता चला कि इस बच्चे ने टेढ़ा देखना प्रायः नौ महीने पूर्व शुरू किया और उसका एक छोटा भाई भी था जो नौ महीने का था। अनुमान से दोनों बातों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत हुआ। धीरे-धीरे पता चला कि जब बच्चा हुआ तो स्वभावतः माता-पिता का प्रेम उस बच्चे से हटकर छोटे पर केन्द्रित हो गया। बड़े बच्चे ने चेष्टा की कि मेरी तरफ ध्यान दें तो भी ध्यान नहीं दिया गया। धीरे-धीरे उसने देखा कि जब वह टेढ़ा देखे तो माता-मिता को चिन्ता हो जाती थी। चिन्ता के कारण माता-पिता उससे कुछ घनिष्टता प्रकट करने लगे तो वह ध्यान को आकर्षित मात्र करने के लिये जान बूझकर आंखें वैसी करता था जिससे वह चिन्ता का विषय बन जाय और माता-पिता उसकी ओर ध्यान देने लगें। हमने माता-पिता को राय दी कि तुम इस बच्चे पर विशेष प्रेम दिखलाया करो और यह ध्यान रखना कि जब बच्चा टेढ़ा देखे तो तुम दूसरी तरफ देखना शुरू कर दो और जिस समय यह ठीक देखा करे उस समय प्रेम अभिव्यक्त किया करो। उनके ऐसा करने पर थोड़े समय में लड़के का टेढ़ा देखना बन्द हो गया। विचार कीजिये वहां पर एक रोग ही होता चला जा रहा था, उसके मूल में बैठा हुआ था प्रेम का अभाव। तो मनुष्य चाहे बच्चा हो चाहे बड़ा, वह ऐसे विचित्र कार्य कर जाता है जो भयानक नजर आते हैं, पर यदि उसके मूल में घुस कर देखिये तो आपको आश्चर्य होगा। प्रायः मनुष्य चाहता है कि लोग मेरी तरफ ध्यान दें। अच्छे कामों से यदि वह लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाता है तो बुरे काम करके ही उनके ध्यान का केन्द्र बनना चाहता है। आज के सामाजिक जीवन में ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि एक मात्र धनी व्यक्ति ही सम्मान का पात्र समझा जाता है। हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था में ज्ञान, चरित्र आदि सद्गुण ही सम्मा-

नित होते थे। जब तक चरित्र को धन की अपेक्षा अधिक सम्मान नहीं दिया जाता तब तक समाज सुव्यवस्थित नहीं बन सकता। इस दुष्प्रवृत्ति का कारण परस्पर प्रेमाभाव है। सारे संघर्ष, सारे तनावों के मूल में घुसकर देखते हैं तो इच्छा रूपी प्रेम-शक्ति के अभाव के कारण ही ऐसी व्यवस्था बन गई है।

वस्तुतः मानव-प्रेम के अन्दर कभी परिपूर्णता हो ही नहीं सकती, इस लिये कि मानव स्वरूप से अपूर्ण है। अपूर्ण मानव के प्रति हम अपना प्रेम देते हैं इसलिये हमारा प्रेम अपूर्ण ही बना रहता है। हम जब छोटे होते हैं तो खिलौने से प्रेम करते हैं, कुछ बड़े हो जाते हैं तो खिलौनों से आगे बढ़कर हमजोलियों से प्रेम करने लगते हैं। जब हमजोली भी हम से दूर हो जाते हैं तो स्कूल-कालेज के साथियों से प्रेम हो जाता है, और बड़े हो जाते हैं तो पत्नी से प्रेम हो जाता है, फिर हमारे बच्चे हो जाते हैं तो उनसे प्रेम होता चला जाता है। हमारे प्रेम के पात्र बदलते चले जाते हैं, पर प्रेम की भूख नहीं मिटती। इसलिये नहीं मिट पाती कि हमारी भूख पूर्ण प्रेम की है, अपूर्ण प्रेम से हमें कभी भी तृप्ति नहीं मिलती।

यदि हम चाहते हैं कि हमारे हृदय में पूर्ण प्रेम हो तो हमें पूर्ण परमेश्वर से प्रेम करना पड़ेगा। तभी यह प्रेम की भूख मिट सकेगी। इसका कारण क्या है? जो प्रेम का पात्र होता है उसके साथ मनुष्य सर्वदा सम्बन्ध चाहता है। संसार का कोई भी पदार्थ हमारा अपना नहीं है। संसार के जितने पदार्थ हैं वे किसी काल में हमारे पास आये थे तो किसी काल में चले भी जायेंगे। यहां तक कि जिस शरीर के साथ हम इतना प्रेम करते हैं यह भी एक दिन हमारा सम्बन्ध छोड़कर चला जायेगा। कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। जब वह पदार्थ जायेगा तब हमको रोना पड़ेगा।

बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य कहते हैं 'मैत्रेयी! तू इस बात को ध्यान देकर सुनले कि "प्रियं त्वां रोत्स्यसीति" (बृ० १।४।८) 'तू जिस जिस से प्रेम करेगी वह तुझको रुलायेगा।' जब हम यह सुनते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है कि एक तरफ तो कहा जा रहा है कि प्रेम ही संसार में प्रगति के लिये आवश्यक है, दूसरी तरफ महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं जिससे तू प्रेम करेगा वह तुझको रुलायेगा। इसका क्या तात्पर्य? जिस पदार्थ से तुम्हारा प्रेम है उससे व्यथा एक दिन अवश्यम्भावी है। चाहे हमको आवश्यकतावश उससे अलग

होना पड़े, चाहे वह पदार्थ समय आने पर हमसे अलग हो जाय--वह पदार्थ जड़ हो अथवा चेतन--अलग होते समय वह हमें रुलायेगा अवश्य। हमको उसके लिये दुःख उठाना ही पड़ेगा। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि यदि कोई प्रेम का पात्र हो सकता है तो वह है केवल परमेश्वर। याज्ञवल्क्य महर्षि आगे बतलाते हैं 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।५) संसार के जितने पदार्थ हैं वे परमेश्वर के प्रेम के लिये ही प्रेम के आश्रय भूत बनते हैं। उनके अन्दर जो परमेश्वर का अंश है उसको लेकर यदि हम प्रेम करेंगे तो हमारा प्रेम वास्तविक है। सांसारिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से भी यह सम्भव हो सकेगा। यदि उसके स्थान पर हमने पदार्थ से या जीव से प्रेम कर लिया तो कभी भी हमारा प्रेम पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता।

वस्तुतः मनुष्य के अन्दर प्रेम का बीज वपन ही क्यों किया गया है? प्रेम ही वह वस्तु है जो दो भिन्न प्राणियों को एकत्रित करता है। संश्लिष्ट करने की शक्ति केवल प्रेम में है। लेकिन प्रेम की पूर्णता कहां होगी? जहां हम पूर्णता से मिल सकेंगे। 'ईशावास्यमिदं सर्वं'' (ई० उ० १) परमेश्वर सारे पदार्थों के अन्दर व्यवस्थित है। जब हम परमेश्वर से प्रेम करते हैं तभी हमारा प्रेम पूर्ण हो पाता है। जब तक हमारा प्रेम परिच्छिन्न रहता है तब तक उसमें कभी भी पूर्णता नहीं आ पाती। छोटी-छोटी चीजों से प्रेम करते रहने से कभी भी तृप्ति नहीं आ पाती।

परमेश्वर के विषय में एक सन्देह हमारे मन में उठता है कि क्या परमेश्वर के साथ हम वैसे ही प्रेम कर सकते हैं जैसे कि दूसरे जीवों के साथ? प्रायः हमारा अनुभव है कि हम पहले किसी चीज को जानते हैं, उसके साथ परि-चय होता है तब हम उसके साथ प्रेम करते हैं। परन्तु परमेश्वर के साथ ठीक इसके विपरीत होता है, जब तक हम उससे प्रेम नहीं करेंगे तब तक उसकी प्राप्ति असम्भव होती है। फिर कैसे हम आगे बढ़ेंगे। पर यह कोई व्यापक या निश्चित बात नहीं है कि जहां-जहां प्रेम हो वहां-वहां पूर्व परिचय अवश्य हो।

एक मद्रास में रहने वाले व्यक्ति ने दिल्ली नहीं देखी है, फिर भी अखबारों में विज्ञापन पढ़ कर जानता है कि वहां अशोक होटल सरकार ने

बनाया है जो भारतवर्ष में सबसे बढ़िया होटल है। वहां जाकर रहेंगे तो अच्छा रहेगा। होटल के साथ उसका प्रेम हो जाता है और यहां आने से पहले ही मनीआर्डर भेजकर कमरा बुक करवा लेता है क्योंकि जानता है कि सम्भवत: यहां आने के बाद कमरा खाली मिले ही नहीं। देखने से पहले ही उसको जिस प्रकार होटल के साथ प्रेम हो गया ठीक इसी प्रकार परमेश्वर के विषय में भी समझना चाहिये। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर हम कह सकते हैं कि जिस पदार्थ को हम अपना समझ लेते हैं उस पदार्थ के साथ हमारा प्रेम परिस्फुटित हो जाता है। आज तो लोग कहने लग गये हैं कि पहले प्रेम हो तब विवाह होना चाहिये। कुछ वर्ष पूर्व अमरीका में एक व्यक्ति ने किसी भारतीय से कहा कि हमने सुना है भारतवर्ष में जब बहुत छोटे बच्चे होते हैं तभी विवाह कर दिया जाता है। भारतीय बोला कि हां, हमारा भी विवाह ऐसा ही हुआ था। अमरीकन ने पूछा कि क्या विवाह होने से पहले तुमने अपनी पत्नी को कभी नहीं देखा था? भारतीय ने कहा कि नहीं मुझे पता ही नहीं था कि वह कौन है। प्रश्न किया गया कि फिर तुम उसके साथ प्रेम कैसे करते हो?

भारतीय ने उत्तर दिया कि तुम्हारे जब लड़का पैदा होता है क्या तुम उसके फोटो वोटो मंगवा लेते हो कि कैसा लड़का पैदा होने वाला है? अमरीकन बोला कि नहीं। पहले से तो पता नहीं होता है कि लड़का कैसा होगा। भारतीय ने पूछा कि फिर तुम अपने लड़कों से प्रेम कैसे करते हो? स्वभावत: उत्तर निकला कि वह मेरा लड़का है इसलिये मैं प्रेम करता हूं। तब सिद्धान्तरूप से भारतीय ने कहा कि ठीक है। इसी प्रकार से क्यों कि वह मेरी पत्नी है इसलिये मैं उससे प्यार करता हूं।

यह नहीं कि पहले प्रेम करें फिर पत्नी बनायें, यह तो व्यभिचार होगा। क्यों कि जब दो या अनेकों में से एक का चुनाव किया जायगा तो यह नहीं कह सकेंगे कि प्रेम वास्तविक है। वहां तो एक को छोड़ना होता है। प्रेम एक स्वाभाविक पदार्थ है। यदि वह सहज और स्वाभाविक नहीं है तो कभी भी प्रेम का रूप धारण नहीं कर सकता। यदि प्रेम के पूर्व हम यह देखने लगें कि, उसके पास कितना धन है, उसने क्या पढ़ा है, तो धीरे-धीरे स्वभावत: प्रेम का वही रूप हो जायगा जिसे हम ऊपर व्यापारी प्रेम कह आये हैं। देखने में आ रहा है कि जैसे-जैसे हम विवाह के पूर्व प्रेम की प्रधानता देते

जा रहे हैं वैसे-वैसे वैवाहिक जीवन सुखी कम और दुःखी अधिक होता जा रहा है।

भगवान बुद्ध के जीवन को देखिये। उन्होंने अपनी पत्नी को पहले नहीं जाना था। पर उनका अपनी पत्नी के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। परमेश्वर के विषय में भी ठीक यही बात है। सर्वप्रथम तो परमेश्वर के विषय में सुन कर ही प्रेम हो सकता है। जैसे हम किसी की अच्छाइयों को सुन कर उससे प्रेम कर लेते हैं। अथवा जब परमेश्वर के विषय में हमारी मनोभावना हो जायेगी कि परमेश्वर मेरा है तब इसकी अपेक्षा नहीं रहेगी कि पहले हम परमेश्वर को देखें फिर उससे प्रेम करेंगे। 'परमेश्वर मेरा है' यह मन की भावना ही प्रेम में परिणत हो जाती है। वस्तुतः प्रेम का स्वरूप ही है पदार्थों को एक करना। परमेश्वर यदि हमसे अलग है तो हम उसको दूसरी जगह समझते हैं। जब यह भावना उदय हो गई कि परमेश्वर मेरा है तो क्या होगा? वहां प्रेम स्वयं उद्भूत हो जाता है।

इस दृष्टि से देखने पर यह आशंका ही ठीक नहीं कि परमेश्वर के साथ हमारा प्रेम होगा कैसे? इतना ही नहीं, जब परमेश्वर के साथ प्रेम हो जाता है तो उसके साथ नित्य सम्बन्ध हो जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि परमेश्वर एक विचार या कल्पना मात्र है। लोग समझते हैं कि जैसे दूसरे मन्तव्य हुआ करते हैं वैसे ही परमेश्वर कोई (Impersonal Principle) काल्पनिक पदार्थ है जिसके साथ हमारा घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। परन्तु विचार करने पर पता चलता है कि वस्तुतः परमेश्वर से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हमारा किसी से हो ही नहीं सकता।

ऋग्वेद हमारे सामने एक बड़ा आदर्श रखता है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (ऋ० १.२२.१६४) वह बतलाता है कि परमेश्वर और जीव का सम्बन्ध दो मित्रों जैसा है। वे कैसे मित्र हैं? जैसे एक ही वृक्ष के ऊपर बैठे हुए दो पक्षी। एक पक्षी इधर उधर जा रहा है, फलों को खा रहा है, लेकिन दूसरे पक्षी का प्रेम इतना अधिक है कि वह निरन्तर अपने प्रिय पात्र को टकटकी लगाकर देखता ही जा रहा है।

ठीक यही हालत जीव और ईश्वर की है। हम समझते हैं कि जीव

ईश्वर से प्रेम करता है लेकिन अपने जीवन में आगे बढ़ने पर हमें अपने प्रेम की दरिद्रता का अनुभव होता है। जीव परमेश्वर से कितना प्रेम कर सकता है? परमेश्वर का जीव के प्रति जो प्रेम है उसके सामने जीव का प्रेम कुछ भी नहीं है। विचारक तो यहां तक कह देते हैं कि परमेश्वर को जीव के लिये जितनी भूख है जीव उसका हजारवां हिस्सा भी परमेश्वर के लिये यदि प्राप्त करले तो परमेश्वर उसको खींचने के लिये तैयार बैठा है।

जीव तो एक के बाद दूसरे फलों को चखता चला जा रहा है। कभी माता से प्रेम करता है कभी पिता से, फिर कभी हमजोलियों से। उन सब से धोखा खाते हुए भी बार-बार उसी तरफ जाता है। उनको ही अपने जीवन का केन्द्र मानना चाहता है। यह है चेतन जगत् का साम्राज्य। जड़ जगत् में भी कभी धन से प्रेम करता है, कभी अन्य वस्तुओं से तो कभी प्रतिष्ठा से। परमेश्वर किससे प्रेम करता है? श्रुति कह रही है 'अनश्नन्नन्य अभिवाकशीति' कि वह निश्चय करके बैठा हुआ है कि जीव के अतिरिक्त मेरा प्रेम-पात्र कोई नहीं, अतः वह संसार के किसी भी पदार्थ से प्रेम न कर के केवल जीव की ओर टकटकी लगाकर देख रहा है। प्रेम का स्वरूप ही यह है कि हम अपने प्रिय पात्र को अपनी आंखों से ओझल होने देना नहीं चाहते। इस दृष्टि की पूर्णता परमेश्वर में है। जो नीचे से नीचे गिरा हुआ व्यक्ति है उसके अन्दर भी परमेश्वर बैठा हुआ निरन्तर आवाज लगाता रहता है कि तू अमुक काम ठीक कर रहा है और अमुक काम गलत। मनुष्य हजारों बार झूठ बोलता है लेकिन फिर भी जब झूठ बोलने में प्रवृत्त होता है तो एक धीमी आवाज़ आती जरूर है कि अरे! तू झूठ बोल कर गलत काम कर रहा है।

परमेश्वर कभी थकता तो नहीं है। पर ऐसा नहीं कह सकते कि वह जीव की परीक्षा नहीं लेता। परमेश्वर जब जीव की तरफ जाता है तो परीक्षा भी लेता है। परमेश्वर और जीव का खेल एक रसमय साम्राज्य है। वह विचित्र खेल है।

दक्षिण भारत में नायनार नामक बहुत बड़े सन्त हुए हैं। वे कविता के बड़े भारी समालोचक थे। उस समय एक तामिल संघ बना हुआ था। आज से प्रायः तीन हजार वर्ष पूर्व यह हुआ करता था कि जब

किसी कविता की आलोचना की जाती थी तो सारे लोग मिलकर इस वात का निर्णय करते थे कि यह कविता आगे समाज में चलाने लायक है अथवा नहीं।

एक गरीब शिव भक्त था। उसने सोचा कि यदि संघ के लोग मेरी कविता स्वीकार कर लें तो मुझे भी कुछ धन मिल जाय। इस अभिलाषा से प्रवृत्त होकर उसने भगवान शंकर से प्रार्थना की कि आप मेरे लिये एक कविता की रचना करदें तो मुझे भी धन मिल जाय। भगवान शंकर ने दया करके कुछ कविताओं की रचना करके उससे कहा कि इन्हें ले जाओ। कवितायें बड़ी अनोखी तथा सुन्दर थीं। पूछने लगा कि यदि इन कविताओं के विषय में किसी ने कोई प्रश्न किया तो मैं क्या कहूँगा ? मैं तो समझता नहीं कि इनके अन्दर क्या लिखा हुआ है। भगवान शंकर ने कहा कि मैं खुद ही तुम्हारे साथ चलता हूँ। यदि कोई प्रश्न होवे तो तुम कह देना कि यह मेरा शिष्य है, यही जवाव देगा। भगवान उसके साथ हो लिये।

जब वहां पहुंच कर सब लोगों के सामने कविता रखी गई तो सबने कविता की प्रशंसा की पर नायनार ने नहीं की। उसने सिर हिला कर कहा कि कविता के अन्दर मुझे अमुक-अमुक दोष दिख रहे हैं। अन्ततोगत्वा भगवान शंकर भी उसे जवाब नहीं दे सके कि कविता शुद्ध कैसे है क्यों कि उसने गलतियां ठीक निकाली थीं। भगवान को गुस्सा आया कि मैंने कविता रची और उसी में यह गलतियां निकाल रहा है। तो नायनार की तरफ देख कर उसे अपना तीसरा नेत्र दिखाने लगे ताकि वह समझ जाय कि वे भगवान हैं और कह दे कि कविता ठीक है। नायनार कहने लगा कि भगवन् ! चाहे आप तीसरा नेत्र पूरा खोलें चाहे आधा, कविता तो जो बना के लाये हो वह ठीक होने वाली नहीं, वह तो गलत ही रहेगी। भगवान शंकर ने विचार किया कि इसने तो भरी सभा में खुल कर के कह दिया। अतः वे अन्तर्धान हो गये। अन्त में नायनार ने सङ्घ से कहा कि यह कविता तो ठीक नहीं है लेकिन हमें इसे कुछ धन अवश्य देना चाहिये क्यों कि जो भगवान का इतना बड़ा भक्त है कि स्वयं भगवान ने उसके लिये कविता की रचना की उसे तो आगे बढ़ाने के लिये प्रवृत्ति होनी ही चाहिये। अतः धन दे दिया गया। कुछ समय बाद नायनार तपस्या कर रहे थे। भगवान ने

विचार किया कि एक दिन इसने मेरी बदनामी की थी, तो मैं भी इसकी बदनामी करूँ। नायनार दीर्घ काल से समाधि लगा कर बैठे हुए थे। अकस्मात् देखा कि तालाब में एक ऐसा सूखा पत्ता गिर पड़ा है जो आधा पानी के बाहर और आधा पानी के भीतर चला गया। पानी के अन्दर वाला भाग तो मेंढक बन गया और बाकी हिस्सा वैसा ही सूखा रह गया। देख कर आश्चर्य हुआ कि पत्ता तो पूरा बना है पर आधा मेंढक और आधा पत्ता है। इस घटना से उसका ध्यान टूट गया। ध्यान टूटते ही दूत लोग आकर नायनार को एक गुफा में उठा ले गये। वहां अनेक तपोभ्रष्ट ऋषि तपस्या कर रहे थे। नायनार ने प्रार्थना की कि भगवन् आपने मुझे भी तपोभ्रष्ट कर दिया है क्यों कि मैंने आपकी कविता को भ्रष्ट किया। अब हम दोनों एक समान हो गये। अब आप हमको यहां से छुड़ा देवें और हम भी आगे से यह नहीं कहेंगे कि भगवान को छन्द बनाना नहीं आता। फिर से दोनों में समझौता हो गया।

ऐसी घटना से जाना जाता है कि भगवान के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है। भक्त को किसी प्रकार का भय नहीं रहता। इस दृष्टान्त से यह भी पता चलता है कि मनुष्य सबसे पहले जब परमेश्वर की तरफ बढ़ता है तो किस दृष्टि को लेकर बढ़ता है। पहले उसकी दृष्टि भय की होती है, वह भयाक्रान्त होकर सोचता है कि यदि हम भगवान की भक्ति नहीं करेंगे तो शायद हमें नरक भोगना पड़े, आगे दुःख भोगने पड़ें। लेकिन भय तो प्रेम नहीं है। भय के द्वारा हमारी प्रवृत्ति हुई, उससे जब कुछ आगे बढ़ते हैं तो भगवान के लिये एक प्रसन्नता का भाव आता है। एक सम्मान की दृष्टि बनती है। विचार करने से पता चलता है कि जहां पर प्रशंसा और सम्मान है वहां पर प्रेम की पूर्णता नहीं है। श्रुति ने कहा कि 'सखाया' नाता मित्रता का है। मित्रता में आदमी कितना ही बड़ा हो, या छोटे से छोटा हो, बड़े छोटे की भावना नहीं रहती। कृष्ण और अर्जुन की मित्रता का दृष्टान्त समझ लीजिये। अर्जुन कृष्ण के साथ एक ही बिछौने पर बैठता था, साथ खाता था और खेलता था, उन्हें 'कृष्ण', 'यादव', इन नामों से बुलाया करता था। वहां पर प्रेम का भाव था, सखा का भाव था। यह भाव तभी उत्पन्न होता है जब परमेश्वर से भय करना छोड़ दे और

परमेश्वर की प्रशंसा या महत्ता का भाव भी भूल जाय। तभी प्रेम पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

प्रेम के पहले तीन स्वरूप बता चुके हैं। एक स्वरूप है जिसमें परमेश्वर हमारे लिये सब कुछ करे हम उसके लिये कुछ न करें। इसमें जब भय का प्रवेश होता है तो डर लगता है कि यदि हम कुछ न करेंगे तो मानो परमेश्वर हमारे ऊपर कहर ढा देगा, दुःख डाल देगा। यदि किसी प्रकार से हमने अपने को बचा लिया तो काम बन जायगा।

इससे आगे बढ़ते हैं तो दूसरी दृष्टि आती है, कि परमेश्वर बहुत बड़ा है। जिस प्रकार राष्ट्रपति या मन्त्री हैं। हम उनके लिये डालियां सजा कर ले जाते हैं, समय आने पर उनको अपने घर पर बड़ी पार्टी देकर बुलाते हैं। उसके बदले में यह चाहते हैं कि समय आने पर वे भी हमारा कार्य करें। यदि नहीं करते हैं तो कहते हैं कि भाई! हमने उनके लिये इतना किया लेकिन उन्होंने हमारे लिये कुछ नहीं किया। इसी प्रकार जब तक परमेश्वर के अन्दर महत्ता की दृष्टि होती है तब तक यह दृष्टि बनती है कि हमने परमेश्वर के लिये इतना किया, उनका नियम से पूजन किया, भजन किया इसलिये वह भी हमारे लिये अमुक-अमुक चीजें करे।

पर जब तीसरा भाव, सखा भाव, आ जाता है तो परमेश्वर का भय दृष्टि से ओझल हो जाता है, उसकी महत्ता भी आंख से दूर हो जाती है। उस समय केवल परमेश्वर का प्रेम ही हमारे सामने रहता है। वास्तविक प्रेम तभी प्रारम्भ होता है, इसके पहले नहीं। जब तक हम परमेश्वर को इस प्रकार अपने प्रेम अर्थात् इच्छा का केन्द्र नहीं बना पाते तब तक हमको कभी भी प्रेम की पूर्णता का अनुभव नहीं हो पायेगा।

इसके साथ हमारे जीवन का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। हम इच्छा शक्ति के साथ प्रेम का सम्बन्ध बता रहे थे कि क्यों हमारा ज्ञान इच्छा के रूप में परिणत नहीं हो पाता। क्यों कि हम जीवन के ज्ञानों को केन्द्रित नहीं कर पाते। हमारे सब ज्ञान बिखरे हुए रहते हैं, इच्छा के अभाव में बंटे रहते हैं। जब तक हम उन्हें किसी एक खूंटे के साथ बांध न दें, अपनी सारी भावनाओं को एक उद्देश्य के साथ सम्बन्धित न कर दें, तब तक उन्हें संग्रथित नहीं कर पायेंगे और आगे नहीं बढ़ पायेंगे।

हमारा जीवन आज बंटा हुआ है। व्यक्तिगत दृष्टि और समष्टि दृष्टि दोनों दृष्टियों से वह संग्रथित नहीं है। जब हम व्यापार करने जाते हैं तो उस समय उसी में लीन हो जाते हैं, जब घर में आकर ताश खेलते हैं तो उसी में लीन हो जाते हैं। कोई एक ऐसा उद्देश्य—एक महदुद्देश्य (Master Motive)—नहीं है जिसके साथ हम सब चीजों को सम्बन्धित कर सकें। अतः जीवन व्यवस्थित नहीं हो पाता। बहुत से लोग बौद्धिक विचारधाराओं को या कलात्मक विचारधाराओं को जीवन का केन्द्र बनाना चाहते हैं। बहुत से आधुनिक दार्शनिकों ने इसके ऊपर विचार किया है। वे कहते हैं कि यदि कलात्मक, सौन्दर्यात्मक या बौद्धिक क्षेत्र को लेकर हम आगे बढ़ें, उनमें से किसी को जीवन का केन्द्र बनायें तो सम्भवतः हम जीवन को संग्रथित कर सकेंगे। लेकिन बार बार अनुभव बताता है कि इनमें से किसी को भी केन्द्र बनाकर आगे बढ़ने से पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि बौद्धिक दृष्टि को जीवन का केन्द्र बनाते हैं तो कलात्मक भूख रह जाती है; और यदि जीवन में कला को सामने रखते हैं तो हमारा बौद्धिक क्षेत्र भूखा रह जाता है। अथच दोनों में नैतिक व आत्मिक भूख तो बनी ही रहती है।

मनुष्य न तो केवल इच्छा मात्र है, न केवल भावनाओं का समूह और न केवल क्रियाओं का पुञ्ज। उसमें तो ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों खुलकर खेलना चाहती हैं। यदि इन तीनों में से एक में भी बन्धन आयेगा, यदि एक को भी हम खुलकर प्रकट नहीं कर सकेंगे तो हमारे अन्दर मनोवैज्ञानिक तनाव पैदा हो जायेंगे और हमारी आभ्यन्तर गति सर्वथा रुक जायेगी। इसलिए हमको तीनों का क्षेत्र अपनाना पड़ेगा। इन तीनों का क्षेत्र केवल परमेश्वर में ही पूर्ण होता है। क्योंकि उसके अन्दर जहां सर्वज्ञता है, वहीं परप्रेमास्पदता और सर्वक्रियात्मकता भी है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीनों का पूर्ण समन्वय परमेश्वर के अतिरिक्त और कहीं भी मिलना असम्भव है। इसलिये उसी को भारतीय दार्शनिकों व धर्मनेताओं ने जीवन का ऐसा स्तम्भ या केन्द्र बनाया जिसके साथ हम अपनी सारी भावनाओं, सारी क्रियाओं और सारे ज्ञानों को सम्बन्धित कर सकते हैं। इसके

सिवाय हमारे जीवन में पूर्णता आने का और कोई मार्ग है ही नहीं।

इसी को सामरस्य कहते हैं। ज्ञान, इच्छा और क्रिया, इन तीनों का सामरस्य तभी प्राप्त हो सकता है जब हम परमेश्वर से इस प्रकार सम्बन्धित होंगे। आज तो धर्म के क्षेत्र में भी हमने अपने आप को बांट लिया है। हमारे ज्ञान, इच्छा और क्रिया वहां भी एक रूप नहीं बन पाते। बहुत से लोग परमेश्वर के विषय में विचार तो करते हैं पर अपने हृदय के भावों को उदय नहीं होने देते। शरम आने लगती है। लोग कहते हैं परमेश्वर के आगे हम रोयें कैसे ? हम कहते हैं कि तुम परमेश्वर के सामने नहीं रो सकते हो तो क्या और किसी के सामने–जीवों के सामने रोवोगे ? रोना है तो परमेश्वर के सामने रोओ, हँसना है तो परमेश्वर के सामने हँसो। अपने जीवन की समग्रधाराओं को परमेश्वर के सामने प्रकट करना है। अब प्रश्न उठता है कि प्रकट करने से होगा क्या ?

ऊपर प्रेम का मूल बता चुके हैं कि वह दो को या अनेक को एक करने में प्रवृत्त होता है। सारी धार्मिक साधना का अन्त है 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' जहां सब चीजें एक हो जाती हैं। श्रुति बार-बार कहती है 'तत्र को मोह : क: शोक एकत्वमनुपश्यत:'। जब तुम सर्वत्र एकता देखोगे तो धार्मिक साधना का अन्त हो जायगा। यह एकता आयेगी कैसे ? यदि हम छोटे-छोटे क्षेत्रों को लेकर एकता करेंगे तो अत्यन्त छोटे क्षेत्र में एकता कर पायेंगे। जैसे आजकल बहुत हुआ तो लोग कह देते हैं भाई ! मानवता से प्रेम करो। पशु तुम्हारे क्षेत्र के बाहर क्यों हो गये ? यदि मानव और पशु तक जाते हो तो पेड़-पौधे तुम्हारे क्षेत्र से अलग क्यों हो गये ? जब केवल परमेश्वर के साथ हम प्रेम करते हैं तो हमारा प्रेम असीम हो जाता है। परमेश्वर का नाम ही है असीम या ब्रह्म। ब्रह्म शब्द का अर्थ होता है बढ़ा हुआ। जो सबसे बड़ा हो उसी को ब्रह्म कहते हैं। सबसे बड़ी कौन सी चीज है—सबको मिलाने वाली प्रेम शक्ति। इसलिये विचार कर देखें तो ब्रह्म को शुद्ध प्रम का ही नामान्तर कह सकते हैं।

जब हम ज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं तो परमेश्वर सत्य रूप से सर्वत्र विद्यमान है। जब हम इच्छा शक्ति की दृष्टि से विचार करते हैं तो परमेश्वर प्रेम रूप में विद्यमान है। जो कुछ भी हमारे प्रेम का विषय बनता

है वहां आधार रूप से परमेश्वर विद्यमान है। अतः श्रुतियों का उद्घोष है कि प्रेमास्पदता का आधार परमेश्वर है। मनुष्य संसार के अन्दर भी अपनी भावनाओं को प्रकट करता है, पर दृष्टि बदल करके। जैसे आप अभी लोगों से प्रेम करते हैं उन्हें मानव समझकर, फिर इसलिये प्रेम नहीं करेंगे कि वे मानव हैं बल्कि इस कारण करेंगे कि उनमें परमेश्वर की सत्ता विद्यमान है। परिणाम यह होगा कि कभी ईर्ष्या, घृणा और द्वेष का मौका ही नहीं मिलेगा। ये तो वहीं आते हैं जहां परमेश्वर से हमारी दृष्टि भिन्न बनती है। क्योंकि तब परिच्छिन्नता आती है। जब दृष्टि अपरिच्छिन्न बनती है, पूर्ण ब्रह्म की होती है तो यह सम्भव नहीं हो सकता कि हम किसी एक चीज से प्रेम करें और किसी दूसरे से न करें। क्योंकि सर्वव्यापी परमेश्वर ही एक मात्र हमारे परप्रेम का आस्पद अर्थात् आश्रय हो जाता है।

लेकिन ध्यान रखियेगा कि प्रेम दिखाने की चीज नहीं है। एक हमारे अन्दर बहुत बड़ी कमी होती है, वह यह कि हम प्रेम को तब तक पूर्ण मानने को तैयार नहीं हैं जब तक उसका बाह्य रूप, चाहे वह मानसिक क्षेत्र में हो या बाह्य क्षेत्र में, प्रकट नहीं हो जाता। आज स्थिति यह हो गई है कि यदि किसी के जन्म के दिन आपने उसके पास कोई उपहार नहीं भेजा तो लोग कहते हैं कि आपका उसके साथ कोई प्रेम नहीं है। अगर आपने एक चाकलेट का पैकेट भेज दिया तो प्रेम होगा अन्यथा नहीं, प्रेम को हमने इतना स्थूल पदार्थ मान लिया है। इतना स्थूल न मानने वाले भी जब तक उनके प्रेमी अपने प्रेम के भावों को शब्दों में प्रकट नहीं करते हैं तो समझ लेते हैं कि उस व्यक्ति में प्रेम है ही नहीं।

प्रेम एक बड़ी गम्भीर वस्तु है। प्रेम जितना ही अधिक बढ़ता जाता है बाह्य प्रदर्शन उतना ही न्यूनतर होता चला जाता है। यदि बाह्य भाव में कमी नहीं आती है तो प्रेम के अन्दर गहराई नहीं आ रही है। जिस प्रकार तालाब या समुद्र जितना अधिक गहरा होता जाता है उतना ही वायु के द्वारा वह कम चञ्चल बन पाता है। इसी प्रकार प्रेम के अन्दर जितनी अधिक गहराई आती है उतना ही उसका बाह्य प्रदर्शन कम होता चला जाता है। ठीक इसी प्रकार परमेश्वर के साथ जब हमारा प्रेम बढ़ता है तो बाह्य चीजें कम होती जाती हैं और एक स्थिति ऐसी भी आती है कि आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं, न बाह्य पूजा कर रहे हैं, न नाम-स्मरण, ध्यान भी नहीं, समाधि

का अभ्यास भी नहीं, लेकिन चित्त के अन्दर निरन्तर परमेश्वराभिमुखीभूत प्रवाह चल रहा है। एक भी क्षण ऐसा नहीं है जब उस प्रवाह के साथ हम सम्बन्धित नहीं हैं। तब समझना चाहिये कि हमारा प्रेम गहराई में जा रहा है।

इस प्रकार दो बातें बतलाईं: पहली बात है प्रेम का कार्य—अनेक के अन्दर एकता लाना। श्रुतियों का आदर्श यही है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'। संसार में नाना नाम की कोई चीज रह ही न जाये, केवल एक परब्रह्म परमात्मा ही रह जाये, तभी हमारे प्रेम की पूर्णता होगी और तभी विषय वासनाओं का सर्वथा परित्याग हो जायेगा। हम विषय को एक-एक करके छोड़ना चाहते हैं तो अनन्त विषयों को कहां तक छोड़ेंगे ? यदि परमेश्वर के प्रति प्रेम हो जाता है तो सारे विषय अकस्मात् ही बिना प्रयत्न के छूट जाते हैं। प्रेम के ये दो लक्षण बताये।

अनेक में यदि एकता नहीं ला सकता है तो समझलो यह प्रेम नहीं मोह है। यदि प्रेम कभी घट बढ़ जाता है तो भी निश्चित समझ लो यह प्रेम नहीं, मोह है। यदि प्रेम हमको अपने आपको भुलाकर केवल प्रियपात्र को याद रखने के लिये बाध्य नहीं करता तो समझलो कि यह प्रेम नहीं है, वह मोह है। यदि हम विषय वासनाओं को नहीं छोड़ते, यदि हम संसार के अन्य पदार्थों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, यहां तक कि अपने जीवन को भी प्रेम के उद्देश्य के लिये छोड़ने को तैयार नहीं हैं तो निश्चित वह मोह ही प्रेम का रूप धारण करके आ रहा है, चाहे वह मोह परमेश्वर के विषय में ही क्यों न हो। मोह शब्द से घबराइये मत। पहले ही कह आये हैं कि यदि परमेश्वर के साथ भी हमारा व्यापार चलता है (चाहे परमेश्वर के साथ होने के कारण वह अच्छा ही है क्योंकि परमेश्वर से मोह दूसरों से मोह होने की अपेक्षा पदार्थ निष्ट श्रेष्ठता के कारण उत्कृष्ट है) तो वह सर्वथा मोह है। यदि हम परमेश्वर से व्यापार भी करना चाहते हैं तो निश्चित समझ लीजिये कि हमारा प्रेम परमेश्वर से नहीं, विषयों से है। परमेश्वर केवल हमारे लिये साधन है—साध्य नहीं। परमेश्वर के प्रेम में पूर्णता की प्राप्ति तभी होगी जब यह प्रेम परिस्फुटित होगा, हम उसके साथ एकता का अनुभव करेंगे। विषयों से सर्वथा हमारी दृष्टि हट जायगी।

यह विगतरागता प्रयत्न पूर्वक नहीं होगी त्याग की दृष्टि से भी नहीं होगी। हमारे पास समय ही नहीं होगा कि संसार के पदार्थ मन में आ सकें तभी यह प्रेम पूर्ण हो सकेगा और तभी हमारी इच्छा शक्ति प्रबल हो सकेगी।

पहले बतला आये हैं कि जानने पर भी हमारी इच्छा शक्ति में प्रबलता नहीं आती। इसका कारण है प्रेम की कमी। इच्छा का सम्बन्ध प्रेम से है। जब ईश्वर के साथ हमारा प्रेम हो जायगा तो स्वतः ही इच्छा शक्ति प्रबल हो जायगी। परमेश्वर के विषय में जो हमने जाना है, नैतिक विषयों में जो जाना है, वह स्वभावतः प्रस्फुटित होता चला जायगा। इच्छा क्रिया रूप में किस प्रकार परिणत होगी इस पर आगे विचार करेंगे।

समरसता का प्रभाव

पूर्वोक्त मंत्र में भगवती श्रुति हमारे सामने एक आदर्श उपस्थित करती हैं कि किस प्रकार हम अपने जीवन का निर्माण करें। व्यष्टि और समष्टि, दोनों दृष्टियों को अपना कर किस प्रकार वे दोनो आपस में संश्लिष्ट होवें, इस पर विचार करते हुए देखा कि मनुष्य एक प्रकार का त्रिकोण है जिसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया की सामरस्यता लाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा नहीं। ज्ञान और इच्छा के ऊपर कुछ विस्तार से विचार करके यह बतला चुके हैं कि इच्छा किस प्रकार हमें आगे बढ़ाती है और उसका सम्बन्ध प्रेमास्पदता से क्यों है।

वस्तुतः इच्छा के इस स्वरूप को न समझने के कारण हमारे मानसिक जीवन में तनाव बढ़ता चला जा रहा है। आज सारे संसार के जन-जीवन में मानसिक तनाव और मानसिक रोगों की अभिवृद्धि का मूल इसी में सन्निहित है। अमरीका को सारे संसार में एक बढ़ा चढ़ा देश स्वीकार किया जाता है। वहां भी मानसिक तनाव को बढ़ता हुआ ही पाते हैं। प्रायः सत्तर प्रतिशत व्यक्ति वहां किसी न किसी मानसिक रोग के शिकार रह चुके हैं। इसका क्या कारण है ? इस पर वे लोग बड़ी गवेषणा कर रहे हैं।

मानसिक तनाव का मूल आधार क्या है ? कुछ लोग मानते हैं कि मूल कारण है अपने स्वरूप से दूर होते चले जाना और अन्य लोगों का कहना है कि संस्कृति के अन्दर होने वाला विकास तनाव का कारण है। जितना अधिक विकास होता है उतना संघर्ष अवश्यम्भावी है, ऐसी इस पक्ष की मान्यता है।

हमारे दार्शनिकों ने इस पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया। चित्त के स्वरूप को समझाते हुए उन्होंने बतलाया कि चित्त की अनेक अवस्थायें देखने को मिलती हैं। पतञ्जलि ने क्षिप्तता, मूढ़ता, विक्षिप्तता, एकाग्रता

और निरुद्धता इन पांच प्रकार की चित्त की अवस्थाओं को बतलाया है। इन पांचों प्रकारों को न समझने के कारण ही हम स्वयं अपने चित्त के विषय में कुछ भी समझने में असमर्थ हो जाते हैं। भगवान पतंजलि चित्त के ऊपर सूक्ष्म विचार करते हुए बतलाते हैं कि चित्त की सामान्य स्थिति है क्षिप्त। क्षिप्त कहते हैं फैले हुए को। जिस अवस्था में मनुष्य सुख दुःख के अनुभव के लिए निरन्तर दौड़ता रहता है, उसमें एक प्रकार का धावन होता है, और सुख भोग के अन्यतम साधन के लिये निरन्तर गतिशील रहता है उसे क्षिप्तावस्था कहते हैं। इसमें मनुष्य के मन में तनाव होना स्वाभाविक है। क्षिप्तावस्था में मनुष्य को यह भी पता नहीं कि वह वस्तुतः चाहता क्या है, जाना किधर चाहता है, उसका उद्देश्य ही स्पष्ट नहीं होता।

क्षिप्तावस्था से जब वह थक जाता है तो मूढ़ावस्था आती है। इसमें अविवेक का प्रवाह अधिक होता है, विवेक का अभाव होता है। क्षिप्तावस्था में सुख की खोज है, मूढ़ावस्था में राग और द्वेष का इतना अधिक आक्रमण हो जाता है कि वस्तुतः मनुष्य विवेक ही नहीं कर पाता कि क्या योग्य है और क्या अयोग्य। इस अवस्था में स्वयं अपनी और दूसरों की भी हानि कर देता है। भगवान ने गीता में इसी कारण कहा 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' (गी० १२।१५)। वस्तुतः जो आध्यात्मिक साधक है वह न स्वयं अपने कारण किसी में उद्वेग को उत्पन्न करता है और न स्वयं उद्विग्न होता है। चित्त की क्षिप्तावस्था के कारण जो मूढ़ावस्था उत्पन्न होती है उसमें मनुष्य स्वयं अपने से भी उद्विग्न रहता है और दूसरों से भी। प्रायः हम अपने जीवन में यही स्थिति पाते हैं कि हम अनेक ऐसे कार्य करते हैं जिनसे हम स्वयं भी दुःखी होते हैं और दूसरे भी उनके कारण दुःखी बनते हैं। घर में हम ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसमें पति या पत्नी को दुःख होने लगता है। बाद में स्वयं दुःखी होकर कहने लगते हैं अरे भाई! पता नहीं उस समय हमारे मन में क्या हो गया था, हमने क्यों ऐसा किया कि तुम को दुःख की प्राप्ति हुई। जिसमें स्वतः दुःख का अनुभव होता है, इसी का नाम मूढ़ावस्था है। क्षिप्तावस्था में सुख दुःख का अन्वेषण है। मूढ़ावस्था में मनुष्य स्वयं अपनी हानि कर लेता है और जब अपनी हानि करेगा तो दूसरे की भी हानि करेगा इसमें कहना ही क्या है?

समरसता का प्रभाव

पूर्वोक्त मंत्र में भगवती श्रुति हमारे सामने एक आदर्श उपस्थित करती हैं कि किस प्रकार हम अपने जीवन का निर्माण करें। व्यष्टि और समष्टि, दोनों दृष्टियों को अपना कर किस प्रकार वे दोनो आपस में संश्लिष्ट होवें, इस पर विचार करते हुए देखा कि मनुष्य एक प्रकार का त्रिकोण है जिसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया की सामरस्यता लाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा नहीं। ज्ञान और इच्छा के ऊपर कुछ विस्तार से विचार करके यह बतला चुके हैं कि इच्छा किस प्रकार हमें आगे बढ़ाती है और उसका सम्बन्ध प्रेमास्पदता से क्यों है ।

वस्तुतः इच्छा के इस स्वरूप को न समझने के कारण हमारे मानसिक जीवन में तनाव बढ़ता चला जा रहा है। आज सारे संसार के जन-जीवन में मानसिक तनाव और मानसिक रोगों की अभिवृद्धि का मूल इसी में सन्निहित है। अमरीका को सारे संसार में एक बढ़ा चढ़ा देश स्वीकार किया जाता है । वहां भी मानसिक तनाव को बढ़ता हुआ ही पाते हैं । प्रायः सत्तर प्रतिशत व्यक्ति वहां किसी न किसी मानसिक रोग के शिकार रह चुके हैं। इसका क्या कारण है ? इस पर वे लोग बड़ी गवेषणा कर रहे हैं।

मानसिक तनाव का मूल आधार क्या है ? कुछ लोग मानते हैं कि मूल कारण है अपने स्वरूप से दूर होते चले जाना और अन्य लोगों का कहना है कि संस्कृति के अन्दर होने वाला विकास तनाव का कारण है। जितना अधिक विकास होता है उतना संघर्ष अवश्यम्भावी है, ऐसी इस पक्ष की मान्यता है ।

हमारे दार्शनिकों ने इस पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया । चित्त के स्वरूप को समझाते हुए उन्होंने बतलाया कि चित्त की अनेक अवस्थायें देखने को मिलती हैं । पतञ्जलि ने क्षिप्तता, मूढ़ता, विक्षिप्तता, एकाग्रता

ग्रौर निरुद्धता इन पांच प्रकार की चित्त की ग्रवस्थाग्रों को बतलाया है। इन पांचों प्रकारों को न समझने के कारण ही हम स्वयं ग्रपने चित्त के विषय में कुछ भी समझने में ग्रसमर्थ हो जाते हैं। भगवान पतंजलि चित्त के ऊपर सूक्ष्म विचार करते हुए बतलाते हैं कि चित्त की सामान्य स्थिति है क्षिप्त। क्षिप्त कहते हैं फैले हुए को। जिस ग्रवस्था में मनुष्य सुख दुःख के ग्रनुभव के लिए निरन्तर दौड़ता रहता है, उसमें एक प्रकार का धावन होता है, ग्रौर सुख भोग के ग्रन्यतम साधन के लिये निरन्तर गतिशील रहता है उसे क्षिप्तावस्था कहते हैं। इसमें मनुष्य के मन में तनाव होना स्वाभाविक है। क्षिप्तावस्था में मनुष्य को यह भी पता नहीं कि वह वस्तुतः चाहता क्या है, जाना किधर चाहता है, उसका उद्देश्य ही स्पष्ट नहीं होता।

क्षिप्तावस्था से जब वह थक जाता है तो मूढ़ावस्था ग्राती है। इसमें ग्रविवेक का प्रवाह ग्रधिक होता है, विवेक का ग्रभाव होता है। क्षिप्तावस्था में सुख की खोज है, मूढ़ावस्था में राग ग्रौर द्वेष का इतना ग्रधिक ग्राक्रमण हो जाता है कि वस्तुतः मनुष्य विवेक ही नहीं कर पाता कि क्या योग्य है ग्रौर क्या ग्रयोग्य। इस ग्रवस्था में स्वयं ग्रपनी ग्रौर दूसरों की भी हानि कर देता है। भगवान ने गीता में इसी कारण कहा 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' (गी० १२।१५)। वस्तुतः जो ग्राध्यात्मिक साधक है वह न स्वयं ग्रपने कारण किसी में उद्वेग को उत्पन्न करता है ग्रौर न स्वयं उद्विग्न होता है। चित्त की क्षिप्तावस्था के कारण जो मूढ़ावस्था उत्पन्न होती है उसमें मनुष्य स्वयं ग्रपने से भी उद्विग्न रहता है ग्रौर दूसरों से भी। प्रायः हम ग्रपने जीवन में यही स्थिति पाते हैं कि हम ग्रनेक ऐसे कार्य करते हैं जिनसे हम स्वयं भी दुःखी होते हैं ग्रौर दूसरे भी उनके कारण दुःखी बनते हैं। घर में हम ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसमें पति या पत्नी को दुःख होने लगता है। बाद में स्वयं दुःखी होकर कहने लगते हैं ग्ररे भाई! पता नहीं उस समय हमारे मन में क्या हो गया था, हमने क्यों ऐसा किया कि तुम को दुःख की प्राप्ति हुई। जिसमें स्वतः दुःख का ग्रनुभव होता है, इसी का नाम मूढ़ावस्था है। क्षिप्तावस्था में सुख दुःख का ग्रन्वेषण है। मूढ़ावस्था में मनुष्य स्वयं ग्रपनी हानि कर लेता है ग्रौर जब ग्रपनी हानि करेगा तो दूसरे की भी हानि करेगा इसमें कहना ही क्या है?

जब मनुष्य इससे आगे चलता है तो विक्षिप्तावस्था आती है। विक्षिप्तावस्था में भी मनुष्य सुख दुःख का अन्वेषण तो कर रहा है लेकिन उसके साधन व स्वरूप का विचार करके प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से विक्षिप्तावस्था को क्षिप्तावस्था से श्रेष्ठ माना गया है। क्षिप्तावस्था में हम अपने अन्तर्निहित वासनाओं और संस्कार से नियन्त्रित होकर निरन्तर गतिशील बन जाते हैं; विक्षिप्तावस्था में हम उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करते हैं और विचार करते हैं कि ऐसा क्यों हो रहा है। एक दृष्टांत लीजिये। क्षिप्तावस्था में यदि किसी चीज को खाने की इच्छा मन में उत्पन्न हुई तो विचार तक नहीं किया कि इससे नुकसान होगा या फायदा और तुरन्त जाकर उस चीज को खाने में प्रवृत्त हो गये। विक्षिप्तावस्था में हम सोचते हैं कि हम को मधुमेह (diabetese) है। यदि हम चीनी खायेंगे तो नुकसान करेगी। यह विचार कर हम स्वभावतः चीनी से दूर हो जाते हैं और उसकी जगह पर सेक्रीन लें आते हैं और फिर उसका सेवन करके हमको मधुरिमा की भी प्राप्ति हो जाती है और चीनी खाकर होने वाला दुःख भी हमारे सामने नहीं आता। सुख-दुःख का अन्वेषण तो दोनों अवस्थाओं में है लेकिन विक्षिप्तावस्था में हमारा उद्देश्य स्पष्ट होता है जो क्षिप्त अवस्था में नहीं होता।

लेकिन विक्षिप्तावस्था में भी सुख नहीं मिल पाता क्यों कि जहां खोज या अन्वेषण है वहां शान्ति की सम्भावना नहीं। जब शान्ति ही नहीं तो सुख की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।' (गी॰)।

विक्षिप्तावस्था से आगे की अवस्था है चित्त की एकाग्रता। लेकिन यहां भी संघर्ष बना हुआ है। हमारी प्रवृत्तियां हम को चारों तरफ खींचती हैं और हम प्रयत्न करके उसे किसी एक स्थल पर आकृष्ट करते हैं, खींचते और बांधते हैं। यह प्रयत्न पूर्वक चेष्टा है।

जब चित्त की एकाग्र अवस्था सिद्ध हो जाती है तो इसी को निरुद्धावस्था कहा जाता है। निरुद्ध अवस्था में चित्त का स्वाभाविक प्रवाह एक स्थल पर दृढ़ हो जाता है। अब वास्तविक सुख और शान्ति का अनुभव होने लगता है।

चित्त की ये अवस्थायें क्यों होती हैं? क्यों इन विभिन्न अवस्थाओं का संचार होता है? इस पर आगम शास्त्र ने भी सूक्ष्म विचार किया है और

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रचुर प्रकाश डाला है। हमारे यहां जिसको संस्कार कहा जाता है उसी को आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अचेतन मन या Unconscious mind कहा है। अनकॉन्शस माइन्ड का वास्तविक अनुवाद संस्कार ही है। जब कोई भी पदार्थ हमारे सामने आता है तो उस का अनुभव हमारे चित्त में एक लीक या लकीर छोड़ जाता है जिसका प्रभाव बना रहता है। इसी को आजकल के मनोवैज्ञानिक अचेतन मन या अनकॉन्शस माइन्ड कहते हैं। कोई भी अनुभव ऐसा नहीं है जिसकी हमारे ऊपर छाप न पड़े, इसी छाप का नाम संस्कार है। चित्त के ये संस्कार ही हमको प्रवृत्त करते हैं। हम समझते हैं कि कोई आन्तरिक शक्ति हमें प्रवृत्त करा रही है, या हम मान लेते हैं कि कोई बाहर की चीज हमको ढकेल रही है। पर वास्तव में हमारे पूर्व अनुभव ही हमारे संस्कार रूप से सन्निहित होकर हमारे अन्दर छिपकर हमें प्रवृत्त करते हैं।

जब कभी हमारे सामने कोई पदार्थ आता है तो तुरन्त उपभोग की कामना होती है। बचपन से वृद्धावस्था तक यह क्रम चलता है। बच्चे से बढ़ते-बढ़ते युवा हो जाते हैं, हमारी मांस पेशियों में प्रौढ़ता और पुष्टि आ जाती है, पर हमारे मस्तिष्क की स्थिति वही बनी रहती है जो बचपन में थी। जैसे बच्चा किसी भी पदार्थ को देखता है तो तुरन्त उठाता है, उसे हाथ में लेकर खेलना चाहता है, उसके ऊपर अधिकार जमाना चाहता है और यदि उस अधिकार में रुकावट आती है, तो अपने को अत्यन्त दुखी समझता है और सोचता है कि हमारे सामने यह रुकावट क्यों आ रही है, वैसे ही हम बड़े लोग भी करते हैं। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है, तो उस पर आधिपत्य जमाने के लिए दौड़ते हैं और यदि वह हमारे हाथ में नहीं आ पाता तो बच्चे की तरह ही, सचमुच या काल्पनिक विघ्नकारी का विरोध करने लग जाते हैं। छोटा बच्चा जब दौड़कर किसी के जूते को उठाना चाहता है तो देखता है कि रास्ते में एक ऊंचा मेज रखा हुआ है और वह उस पार नहीं जा सकता। अभी उसे इतनी बुद्धि नहीं है कि मेज के चारों तरफ घूमकर जाने से भी जूते तक पहुंचा जा सकता है। बालक टेबल पर हाथ पटक कर रोने लगता है। इस प्रकार अपना विरोध प्रदर्शन करने लगता है। क्या ठीक यही स्थिति हमारी नहीं होती? हम किसी उच्च पद के अभि-

लाषी हैं। अकस्मात् देखते हैं कि हमारा अफसर किसी अन्य व्यक्ति को आगे बढ़ाना चाहता है; हमारे नाम को वह पीछे कर देता है और उसके नाम को आगे कर देता है। तुरन्त हम यही समझते हैं कि अफसर बहुत बुरा आदमी है। हम यह कभी विचार नहीं करते कि सम्भवतः हमारे अन्दर कोई दोष होगा जिसके कारण वह ऐसा कर रहा है। हम अपने हाथ पैर तो नहीं पटकते क्योंकि हम जरा बड़े हो गये हैं, लेकिन मानस हाथ पर मारते हैं। जहां जाते हैं वहां उसकी बुराई करते हैं। हो सकता है कि उस अफसर ने हमसे बीस साल तक अच्छा व्यवहार किया हो, और अब भी सम्भवतः हमसे मधुर भाषा में बोलता है, पर हम इन सब बातों को भूल जाते हैं और उस की बुराई ही याद करते हैं। जहां जाते हैं उसे बुरा कहते हैं। उस बच्चे के रोने में और हमारे रोने में कोई फर्क नहीं है। केवल हमारे गले के अन्दर बोलने की विशेष शक्ति के कारण हम उसे भिन्न प्रकार से प्रकट करते हैं जिसे बच्चा रोकर प्रकट करता है। यद्यपि हम बाह्य दृष्टि से बड़े होते चले जाते हैं पर भीतर से बच्चे जैसे रहने के कारण आगे नहीं बढ़ पाते।

क्या हमारा मानसिक विकास हो रहा है ? हमारे संस्कार अपूर्ण वासनाओं के हैं। हम जिन पदार्थों को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। हम अनेक भावों को दूसरों के सामने प्रकट करना चाहते हैं, लेकिन कई कारणों से प्रकट नहीं कर पाते। यदि हमारी इच्छा किसी व्यक्ति की भर्त्सना करने की हो तो भी जब कारणवश हम उसको नहीं डांट पाते तब हमारे मन के अन्दर एक विरोध की प्रवृति उठती है जो अपनी छाप डाल जाती है। सम्भवतः पांच वर्ष बाद जब उस व्यक्ति को हम दूसरी परिस्थिति में देखते हैं तो बिना कारण ही हम उसे कोई हानि पहुंचाना चाहते हैं। कारण यह है कि पहले जब हम उसको हानि पंहुचाने की इच्छा कर रहे थे तो उस समय नहीं पहुंचा पाये। उसके संस्कार हमारे अन्दर दबे हुए हैं। वे अब हमको प्रवृत्त कराते हैं। हमारा प्राचीन अनुभव हमारे सभी संस्कार और वासनाओं के मूल में है। यहां पर शास्त्रीय दृष्टि और आधुनिक मनोविज्ञान में एक मतभेद अवश्य है। आधुनिक मनोविज्ञान जीवन को केवल गर्भावस्था से प्रारम्भ करता है। हमारी दृष्टि उससे अधिक विशाल है। शास्त्र हमको बताता है कि मनुष्य कोई आकस्मिक घटना नहीं है जो अकस्मात् पैदा हो गया हो। अनादिकाल से यह अपने संस्कारों की गुत्थियां

लिये हुए चला आ रहा है। अपने संस्कारों और वासनाओं को हृदय की ग्रन्थि में बांधकर जहां जाता है वहां अपने शरीर को ठीक उसी प्रकार से बदल देता है जिस प्रकार हम अपने मकान को बदलते हैं।

एक समाज सेवक ने कुछ वर्ष पूर्व हमें सुनाया कि सरकार ने मजदूरों के लिये बहुत अच्छे मकान बना दिये, पर मजदूरों ने उन्हें एक ही साल के अन्दर गन्दा कर दिया। हमने कहा कि इसमें मजदूरों की कोई गलती नहीं। यद्यपि मजदूर एक मकान से दूसरे मकान में लाये गये पर उनकी वासनायें और संस्कार तो वही रहे। जहां भी वे जायेंगे उन्हीं क्रियाओं को करेंगे जिन्हें पहले करते थे। उनके संस्कारों को बदलने की तुमने क्या चेष्टा की?

ठीक यही स्थिति हमारी भी है। हम एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाते हैं। हमारे संस्कार और वासनायें साथ जाते हैं। इसलिये मनुष्य शरीर की समानता होने पर भी एक दूसरे में बड़ा भेद नजर आता है। कोई उच्च कुल में पैदा होता है लेकिन उसका व्यवहार दरिद्री का सा होता है। दूसरी तरफ कोई अत्यन्त गरीब के घर में पैदा हुआ है लेकिन उसका हृदय बड़ा उदार होता है। जहां पर विद्वत्ता है उसी घर में ऐसा भी पुत्र उत्पन्न होता है कि पढ़ने के लिये प्रवृत्ति ही नहीं करता। दूसरी तरफ जहां विद्या का नाम निशान भी नहीं ऐसे घर में पैदा हुए लोग भी पढ़कर बड़े विद्वान् हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्या केवल बाह्य वातावरण के कारण ही मनुष्य में ये परिवर्तन आ रहे हैं? आधुनिक मनोविज्ञान इसका उत्तर देने में अत्यन्त असमर्थ सिद्ध हुआ है। वह अन्त में घूम फिर कर इस बात पर आ जाता है कि यदृच्छा (अर्थात् chance, accident) को कारण मान लो। लेकिन यदि यदृच्छा को मान लें तो वस्तुतः विज्ञान खोखला होजाता है, उसे आधार ही नहीं मिल पाता। विज्ञान के अन्दर दृढ़ता तभी आयेगी जब कार्य-कारण भाव को स्वीकार किया जाय। यदि एक जगह कार्य-कारण भाव का बहिष्कार करके बिना कारण के कार्य को स्वीकार किया तो सर्वत्र ही कार्य-कारण भाव का लोप अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। दार्शनिक दृष्टि से कार्य-कारण भाव की निवृत्ति का जो भी उपयोग हो व्यावहारिक और विशेषकर वैज्ञानिक क्षेत्र में तो यह हमें पीछे हटा देगा। इस दृष्टि से यह मानना पड़ता है कि आज दीख पड़ने वाले मानव में जन्म-

जन्मान्तर के संस्कार और वासनायें बैठी हुई हैं। उन्हीं के कारण आज भी उन प्रवृत्तियों को करता है जिनको वह पीछे करता आया था। नया मकान या नया शरीर मिलने से कोई चरित्र परिवर्तन नहीं हो जाता।

हम आधुनिक मनोविज्ञान से आगे जाते हैं। केवल गर्भावस्था से विचार शुरू न करके हम उससे भी पूर्व का विचार करते हैं। अतः प्रश्न होता है कि यदि हम अपने संस्कार से प्रवृत्त होते हैं तो इस विषय में हम क्या कर सकते हैं? यह एक बड़ा प्रश्न है, यहीं पर भारतीय दर्शन हमको नवीन दृष्टि देता है। दैववादी 'Fatalist' लोग अपने को अस्वतन्त्र मानते हैं। वे समझते हैं कि प्रत्येक कार्य में ईश्वर, किस्मत, वंश (heredity) प्रकृति या संस्कारों के क्षेत्र से हम संकुचित हैं अतः स्वतन्त्रता से हम कुछ भी नहीं कर सकते। इस दैववाद का भारतवर्ष के सारे दार्शनिकों ने सर्वदा ही विरोध किया है। दैववाद हमारे यहां सेमेटिक (Semetic) धर्मों से आया है। सेमेटिक धर्म यहूदी, ईसाई और मुसलमानी तीनों हैं। इन तीनों का आधार एक ही है, इसीलिये इनको सेमेटिक धर्म कह दिया जाता है। भारतवर्ष के अन्दर सनातन धर्म, बौद्ध धर्म या जैन धर्म आदि आपसी जितने भी मतभेद हों इन सब की मान्यतायें एक स्रोत से निकली हुई हैं। इसीलिये इनको भारतीय धर्म कह दिया जाता है। ईसाई, यहूदी और इस्लाम के अन्दर मूल स्रोत की एकता से दृष्ट समानताओं के कारण उनका 'सैमेटिक रिलीजन' यह नामकरण कर दिया जाता है। उनके अन्दर हमको दैववाद मिलता है। वे कहते हैं कि परमेश्वर के द्वारा प्रत्येक मनुष्य का जीवन सीमित है, प्रत्येक का भाग्य निर्धारित है, मनुष्य उसमें स्वतंत्र नहीं है। यदि हम जीव की स्वतंत्रता को हटा देते हैं तो हमें मानना पड़ जाता है कि परमेश्वर एक बड़ा ही—कहना चाहिये कि—शैतान है; मनुष्य नहीं, उससे भी गया बीता। अमेरिकन फिलोसाफिकल कान्फ्रेंस के भूतपूर्व सभापति डा० ब्राइटमैन ने एक बार कहा था कि यदि परमेश्वर ने जान बूझ कर ऐसी भेदपूर्ण सृष्टि की है तो, यद्यपि वह परमेश्वर है, हम उसका विरोध करते हुए नरक में जाना, उसका साथ देने की अपेक्षा, कहीं अधिक पसन्द करेंगे। परमेश्वर ने इस भेद का निर्माण क्यों किया? इसका यथार्थ उत्तर भारतीय दर्शन देते हैं।

परमेश्वर ने जान बूझ कर जीवों में भेद नहीं बनाया। सारे जीवों के अन्दर एक ही चेतन शक्ति है। उसका उपयोग—दुरुपयोग और सदुपयोग—करके ही जीव ने स्वयं इस भेद का निर्माण किया है। अतः भेद के निर्माण का कारण जीव है, परमेश्वर नहीं। इस बात को स्वीकार करके ही हम समझ सकते हैं कि वस्तुतः आपस में इनका विरोध नहीं है। जो भी विरोध या झगड़ा है—ईश्वर और शैतान का झगड़ा—वह सेमेटिक धर्मों के द्वारा ही आधुनिक मनोविज्ञान में भी प्रविष्ट हो गया। आधुनिक मनोविज्ञान की अभिवृद्धि पाश्चात्य देशों में हुई है। उनमें ईसाइयत के विचार प्रबल थे। ईसाई लोग मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में एक मूल पाप (original sin) रहता है, जो उसकी प्रवृत्ति पापों की तरफ कराता है। आदि काल में पहला पाप आदम और हौआ (Adam and Eve) द्वारा हुआ था। उन्होंने एक पाप किया जिसका फल उनकी सारी संतति को भोगना ही पड़ेगा।

इसी धार्मिक भावना को विज्ञान में प्रविष्ट करते हुए फ्रॉयड और अन्य जितने भी पाश्चात्य ईसाई व उनके उच्छिष्ट भोजी भारतीय मनोवैज्ञानिक हुए, सबने मनुष्य को तनाव के क्षेत्र में रख दिया और कहा कि उसमें तनाव सदा बना रहेगा। इसकी निवृत्ति का कोई उपाय ही नहीं है। उन्होंने दो चीजें हमारे सामने रखीं। मनुष्य सुख भी चाहता है और अपने आपको मिटाना भी चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि फ्रायड के मनोवैज्ञानिक अन्वेषण बड़े सुन्दर थे। पर दार्शनिक मान्यताओं को गलत समझने के कारण उन्होंने हमारे सामने जो आदर्श या समस्याओं का हल उपस्थित किया वह बिलकुल ग़लत है।

फ्रॉयड ने हमारे सामने यह बात रखी कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एक Pleasure Principle प्रेयः सिद्धान्त काम करता है जिसे हमारे यहां शास्त्रों में तथा विशेषकर श्रुति में कन्दर्प कहा गया है। प्रत्येक मनुष्य सुख का उपभोग चाहता है, उसके लिये दौड़ना चाहता है। यह उसकी प्रवृत्ति है। लेकिन सुख का क्षेत्र बड़ा सीमित है। सभी पुरुषों को सारे ही पदार्थ अपने सुख भोग के लिये मिल जायें, यह असम्भव है। यह तो हमारा अनुभव ही कह रहा है। शास्त्र इसको बहुत आगे ले जाता है। वह कहता है कि मनुष्य की

सुख भोग की भावना या कन्दर्प-भावना की कहीं सीमा नहीं है। यहां तक कहा है कि:—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वं इति मत्वा शमं व्रजेत्। (भाग० ९।१९।१३)

जो कुछ भी संसार में खाद्य सामग्री है, जो कुछ भी धन है, जितने भी पशु और स्त्रियां हैं वे सब एक ही पुरुष को मिलने पर भी उसमें यह बुद्धि नहीं उत्पन्न होगी कि अब पर्याप्त हो गया है अतः इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए। ऐसा विचार करके क्या करे? शमं व्रजेत्। मन के निरोध की प्रवृत्ति करे। मनुष्य सुखभोग की कामना से प्रताडित है, यह तो फ्रॉयड का एक आविष्कार है। यद्यपि इस कन्दर्प की दृष्टि को आधुनिक सामान्य लेखकों ने काम भावना मान लिया है, लेकिन फ्रॉयड का असली तात्पर्य यह नहीं है। उसने अपने ग्रन्थ Beyond the Pleasure Principle में इस बात को बहुत स्पष्ट किया है।

लेकिन इससे आगे दूसरी बात भी उसने अनुभव की। मनुष्य सुखावह वस्तु के लिये दौड़ता है, उसे सुख की प्राप्ति भी हो जाती है, लेकिन सुख की प्राप्ति के बाद भी यह देखने में आता है कि उसके मानसिक तनाव समाप्त नहीं होते। इन बातों का आविष्कार करके फ्रॉयड ने अपने जीवन के अन्तिम भाग में एक नई बात का आविष्कार किया। वह यह थी कि मनुष्य केवल कन्दर्प भावना (Pleasure principle) से ही प्रवाहित नहीं होता बल्कि उसके अन्दर अपने आपको मिटा देने की भावना (death instinct) भी है। सिद्धान्ततः इसलिय जब उसको स्वात्मत्वेन सुखरूप पदार्थ की प्राप्ति होती है तो स्वात्माभेद को मिटा देने की भावना उसमें संघर्ष उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार से मनुष्य में संघर्ष सदा बना ही रहेगा किसी प्रकार से शान्ति प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। इस दृष्टि को फ्रॉयड ने सामने रखा। उसकी शिष्य परम्परा में जितने भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक हुए सभी ने इस दृष्टि को सामने रखने की चेष्टा की कि कोई भी उपाय ऐसा नहीं है जिसके द्वारा हम सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकें।

उनके अन्वेषणों में गलती नहीं है, यह हम पहले कह आयें हैं। हमारे यहां के शास्त्रकारों ने भी इसी चीज को सामने रखा था। लेकिन शास्त्रों ने

कहा कि इसका कारण कुछ और है। फ्रॉयड के मृत्यु की कामना (Death Instinct) का प्रतिपादन गलत है, क्योंकि अनुभव बताता है कि कोई भी व्यक्ति मरना नहीं चाहता। जहां मनुष्य आत्महत्या भी करना चाहता है वहां पर भी देखने में आता है कि किसी दुःख से पीड़ित होकर अपने शरीर से छूट कर सुख ढूंढ रहा है। वहां भी दुःख के कारण को दूर करना चाहता है। सुख की कामना वहां पर भी काम कर रही है।

एक लड़का किसी लड़की से विवाह करना चाहता है। माता-पिता विरोध करते हैं। उसका साहस नहीं है कि अकेला विवाह करले। अतः योगमाया के गोपुर से कूद कर आत्महत्या करता है। आप कहेंगे कि यहां पर मरने को कामना (Death instinct) काम कर रही है। लेकिन यदि जिस समय वह कूदने जा रहा है उसी समय उससे आप जाकर कहिये कि अरे! तेरे पिता पर मेरा 'बड़ा प्रभाव है, मैं तेरे पिता को इस विवाह के प्रस्ताव पर राजी कर लूंगा, तो क्या वह लड़का कूदेगा? इससे मालूम पड़ता है कि वह मरने के लिए कूद नहीं रहा है। वह तो सोचता है कि इस शरीर के रहते हुए मुझे सुख नहीं मिलेगा, इसलिये शरीर के त्याग में प्रवृत्त हो रहा है। मरने में प्रवृत्त नहीं हो रहा है। इसलिये वहां भी सुख की कामना काम कर रही है।

तो फिर फ्रॉयड और उसके अनुयायियों ने भूल कहां पर की? जिसको वे मृत्यु की कामना कहते हैं वह वस्तुतः भूमा की कामना है। उन्होंने शरीर को ही जीवन का केन्द्र मान रखा है। मृत्यु की कामना का अर्थ है अपने आप को मिटा देना। व्यष्टि के अन्दर, प्रत्येक जीवन म एक चेतन स्वरूप ब्रह्म उपस्थित है। वह चेतन अंश परिच्छिन्नता को छोड़कर अपरिच्छिन्न होना चाहता है।

श्रुति भी इस बात का उद्घोष करती है। सामवेद की कौथुमी शाखा का छान्दोग्योपनिषद् कहता है 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७।१३।१)। भूमा, व्यापक में सुख है; अल्प और परिच्छिन्न सुख का केन्द्र नहीं बन सकता। इस परिच्छिन्नता को तोड़ने की कामना को फ्रॉयड और उसके परवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने अपने रोगियों में देखा और उन्होंने यह ठीक ही

समझा कि जीव परिच्छिन्नता को तोड़ना चाहता है। लेकिन वैदिक विचारधारा से अपरिचित होने के कारण उन्होंने परिच्छिन्नता को तोड़ना मृत्यु समझ लिया। परिच्छिन्नता को तोड़ना, अपने आप को मिटा देना, मृत्यु नहीं है। वह तो अपने छोटे अहम् को महान् अहम् में मिला देना है। जैसे बूंद जब समुद्र में जाकर मिलती है उस समय वह नष्ट नहीं होती है। बूंद का बूंदपना नष्ट हो जाता है, लेकिन समुद्र रूप से वह जीवित रहती है।

वस्तुत: हम देखते हैं कि मनुष्य को सारे सुख मिलने पर भी, उसके अन्दर संघर्ष न होने पर भी, कन्दर्प भावना या सुख भावना के पूर्ण प्रस्फुटित होने पर भी, उसमें कुछ भूख रहती है। वह भूख क्या है? वह चाहता है अपने अहम् की वृद्धि, ब्रह्म भाव की प्राप्ति। ब्रह्म भाव कोई ऐसी चीज नहीं है कि हम बदल कर कुछ और बन जायेंगे। प्रेम का मूल भी इसी में सन्निहित है अत: सभी पदार्थों की पूर्णता अपने प्रिय पात्र के बिना अपूर्ण रहती है। प्रेम करना और प्रेम पाना मानव की स्वाभाविक भूख है।

हमारी परिच्छिन्नता के अन्दर—हमारे अहम् के अन्दर—दो चीज सन्निहित हैं। एक जड़ांश, दूसरा चेतनांश। वेदान्त कहता है कि हमारा चेतनांश, हमारे अन्दर उपस्थित ब्रह्म का हिस्सा ही अपनी परिच्छिन्नता को छोड़कर अपरिच्छिन्नता के साथ एक हो जाना चाहता है। इस व्यापक भाव को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने आविष्कृत तो किया, लेकिन वैदिक धारा से असम्बद्ध होने की वजह से गलती से समझा कि परिच्छिन्नता से हट जाना ही मृत्यु है। अत: वैज्ञानिक आविष्कारों में भूल नहीं है, लेकिन दार्शनिक भावना स्पष्ट न होने के कारण उन्होंने बड़ी भारी गलती कर दी।

दूसरा अहम् का हिस्सा जड़ है। वह इस परिच्छिन्नता से चिपका रहना चाहता है और चाहता है पदार्थों से सुख की प्राप्ति। इसीलिये मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम कन्दर्प-भावना से प्रवाहित और प्रेरित हो रहे हैं। हमारे अन्दर दो भावनायें काम कर रही हैं। हम चाहते हैं परिच्छिन्नता के रहते हुए हम अपरिच्छिन्न हो जायें। वस्तुत: यही मानव के संघर्ष का मूल है। भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने इसके अनेक कारण बताये हैं। किसी ने कहा कि मनुष्य एक महत्वाकांक्षा (Ambition) बना

लेता है, वह सोच लेता है कि मुझे जीवन में यह बनना है, और जब वह नहीं बन पाता तो अत्यन्त दुखी हो जाता है। उसमें प्रतारित होता है। वहां पर भी सोचिये कि हम क्यों उच्च पद को प्राप्त करना चाहते हैं? इसलिये कि उसके द्वारा हम अनेक के ऊपर अपना अधिकार कायम करना चाहते हैं। अधिकार की यह भावना क्या बतला रही है? इसके अन्तस्तल में परिच्छिन्नता ही है। हम दूसरों के द्वारा दब रहे हैं। अतः प्रतीत होता है कि हम अपनी भावनाओं को प्रस्फुटित नहीं कर पाते। इसे मनोवैज्ञानिक लोग आत्म-अभिव्यक्ति (Self-expression) कहते हैं। अपने को प्रकट करने के अभाव में जीवन का निर्माण अपने अनुकूल नहीं कर पाते। हम सोचते हैं कि यदि हमारे अधिकार में वृद्धि हो जायेगी तो हम ऐसा कर सकेंगे। इसी तरह यदि हम धन के लिये प्रयत्न कर रहे हैं तो इसलिये कि धन के द्वारा अनेक कामनाओं की पूर्ति कर सकेंगे।

वस्तुतः चाहे हम जड़ की दृष्टि से प्रवृत्त होते हैं चाहे चेतन की दृष्टि से, हम चाहते हैं परिच्छिन्नता को तोड़ना। हमारे अन्दर जो जडांश है, वह परिच्छिन्न भाव है। वही हमें जड़ पदार्थों की प्राप्ति के द्वारा सुख प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त कराता है, और हमारा चेतनांश हमें परिच्छिन्नता के द्वारा सुख प्राप्त कराना चाहता है। दोनों के मूल में एक ही भावना है—वह है सुख की।

अतः मनोवज्ञानिकों के आविष्कार में भूल नहीं है। उसके द्वारा वे जो नतीजे निकालते हैं, वे अवश्य गलत हो जाते हैं। आज के युग की प्रधान आवश्यकता है महान् वैज्ञानिक वैदिक धर्म की भित्ति पर विज्ञान के इमारत को खड़ी करने की। इस समन्वय से ही विश्व और विज्ञान दोनों की प्रगति संभव हो सकेगी। हमें समझना पड़ेगा कि चित्त के अन्दर प्राचीन संस्कार ही मनोवैज्ञानिक Id इड हैं। दूसरी तरफ हमारा चेतनांश है जो मनोविज्ञान का सुपरइगो (Super-ego) है। वह हमारे सामने एक आदर्श-मूलक व्यवस्था प्रस्तुत करता है। हमारा परिच्छिन्न अंश, जड़ांश तो साधारण सुखों के लिए हमसे बुरे कर्म करवाता है। हमारे अन्दर चेतनांश बार बार हमसे कहता है कि तुम बुरा काम कर रहे हो, ऐसा न करो। इसलिये हमारे मन में तनाव बना रहता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक तो

यही कह कर समाप्त कर देते हैं कि इस तनाव को दूर करने का कोई उपाय नहीं है, मनुष्य पैदा ही इसीलिए हुआ है कि सदा दुःखी बना रहे। यह निराशावाद का सिद्धान्त है जो धीरे-धीरे भारत में भी प्रविष्ट होता चला जा रहा है। वैदिककाल से ही हम निराशावादी कभी नहीं रहे। भारत में हमेशा आशावाद का ही संचार रहा है। हम प्रत्येक समस्या का हल निकालना चाहते हैं। समस्या के आगे सिर झुकाना तो हमने कुछ वर्षों से सीख लिया है। अन्यथा बड़ी से बड़ी कठिन परिस्थिति के आने पर भी चाह वह सामाजिक क्षेत्र ही में क्यों न हो, हमने सिर नहीं झुकाया। मुसलमानों का राज्य कितने वर्षों तक रहा? प्रायः सात सौ वर्षों तक मुसलमानों ने उत्तर भारतवर्ष को पदाक्रान्त कर रखा था लेकिन भारतवर्ष ने कभी सर्वथा हार नहीं मानी। अन्त तक युद्ध करता ही रहा, इसी आशा से कि हम एक दिन जीत जायेंगे। निराशावाद तो हमारे अन्तःकरण में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से अब प्रविष्ट होने लगा है। श्रुति तो हमारे सामने आशा-वाद का सिद्धान्त ही रखती है। वह कहती है कि यह तुम्हारे चित्त की क्षिप्तावस्था है। तुम संस्कारों के प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने अहम् को नहीं समझ पा रहे हो। इसीलिए तुम्हारी इच्छाओं में अनौचित्य बढ़ता चला जा रहा है। इन इच्छाओं का सुधार आवश्यक है। इच्छाओं के परिष्कार से प्रेरित क्रिया ही हमें मानव बना सकती है। इच्छाओं के विकार का कारण है हमारा संस्कार। अब हम एक सूक्ष्म बात बतलाते हैं।

संस्कार और वासनाओं का आपस में कार्य कारण सम्बन्ध है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो उसका संस्कार पड़ता है, वह संस्कार वासना रूप बन जाता है। समय आने पर पुनः संस्कार रूप से जागृत होकर वासना बनकर हमें प्रवृत्त कराता है। इस प्रकार वासना और संस्कार का चक्कर चल रहा है। इसको हम कहां और किस प्रकार काटें? उपदेश साहस्री के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठाया जाता है 'कर्माणि देह योगार्थं देह योगे प्रियाप्रिये' (उ.सा.१.३)। कहते हैं कि सब से पहले मनुष्य को शरीर मिलता है। क्यों मिलता है? प्राचीन कर्मों का फल भोग करने के लिये। प्राचीनकाल में हमारे अन्दर ऐसे संस्कार और वासनायें सन्निहित थीं जो अपूर्ण रहीं और हम उन्हें भोग नहीं सके। उनके भोगने के लिये हमको शरीर मिला। अब पुनः शरीर मिलने से हमारे सामने प्रिय और

अप्रिय पदार्थ आ जाते हैं। प्रिय के प्रति राग हो जाता है और अप्रिय के प्रति द्वेष। इससे हमारे अन्दर फिर नई कामनायें पैदा होने लगती हैं। इस प्रकार शरीर से कामना, कामना से शरीर; संस्कार से वासना, वासना से संस्कार इस बीज और वृक्ष के प्रवाह में हम फँस गये हैं। इसको हम कैसे काटेंगे ?

इसको हम इच्छाशक्ति के द्वारा काट सकते हैं। अगर हम इच्छा का परिष्कार कर लेते हैं तो वासना के प्रवृत्त कराने की चेष्टा होने पर भी हम प्रवृत्त नहीं हो पायेंगे। अब सोचिये, हम इच्छा का परिष्कार कैसे कर सकते हैं। इच्छा पहले बिगड़ी संस्कारों के द्वारा। हमने जिन पदार्थों का अनुभव किया उनकी छाप हम पर पड़ी; जिनका अनुभव किया वे गलत थे अतः गलत छाप पड़ने से हमारी इच्छा में गलती आई और हमारी प्रवृत्ति भी गलत होने लगी। अब इस चक्र को बदलना है। इच्छा का परिष्कार करना है। इच्छा तब शुद्ध होगी जब हमारे संस्कार शुद्ध होंगे। हमारे संस्कार कब शुद्ध होंगे ? जब हम ऐसे वातावरण के साथ सम्बन्धित होंगे जिसका हमारे ऊपर अच्छा प्रभाव पड़े। इसी को शास्त्रों में सत्सङ्ग कहा है। हितोपदेश (४/९) में कहते हैं कि 'संगः सर्वात्मना त्याज्यः सचेत्त्यक्तुं न शक्यते। स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः संगस्य भेषजम्'। अर्थात् यदि तुम सर्वथा संस्कार-रहित हो जाते हो तब तुम अपने मालिक बन जाते हो, तुम पूर्ण बन जाते हो। जब तक तुम्हारे अन्तःकरण में संस्कार हैं वे तुम्हारे ऊपर नियन्त्रण करते हैं, तुम्हारी प्रवृत्ति कराते हैं। इसलिये यदि तुम सर्वथा निस्संग बन जाओ, सारे संगों को छोड़ दो तो बड़ा अच्छा है। यदि तुम कहो कि हमारे इतने संस्कार हैं सबको कैसे छोड़ दें ? पांच मिनट को भी ध्यान करने बैठते हैं तो संस्कार न जाने चित्त को कहां से कहां प्रवृत्त करा कर ले जाते हैं, अतः संस्कारों को इतनी जल्दी छोड़ना सम्भव नहीं है, तो शास्त्र कहता है कि संस्कारों को एकत्रित कर दो। यदि तुम्हारे अन्दर सत्पुरुषों का संस्कार पड़ गया तो प्राचीन संस्कार हटते चले जायेंगे। तो उन संस्कारों को सत्पुरुषों के साथ करने लगो। इसी का नाम सत्सङ्ग है।

इसका कुछ स्वरूप आधुनिक मनोविज्ञान में भी है। एक मानस रोग से पीड़ित व्यक्ति मनोवैज्ञानिक के पास जाता है तो वह केवल उसके संस्कारों

को उसकी बात सुन सुन करके जान जाता है, फिर उसे बता देता है कि तुम्हारे अमुक अमुक संस्कार गलत हैं तुम उनका सुधार करो। वस्तुतः वह करता क्या है ? एक प्रकार की वासनाओं को बदलकर उसकी जगह दूसरे प्रकार की वासनाओं को स्थापित कर देता है। ठीक इसी प्रकार शास्त्रकारों ने भी हमको संग ही बतलाया है। अगर हम संग ठीक करते जायेंगे तो हमारे संस्कार बदलते चले जायेंगे। विचार करिये यदि ठीक प्रकार का संग होता है तो कितना परिवर्तन होता है। संस्कार प्रवृत्ति नहीं करा पायेंगे यह नहीं कह रहे हैं। प्राचीन संस्कार जब तक सर्वथा नहीं हटेंगे तब तक प्रवृत्ति तो करायेंगे ही लेकिन प्रवृत्ति का एक रोधक बन जायेगा। कौन ? संग।

जब आप किसी ऐसे साथी के साथ रहते हैं जो रोज चलचित्र (cinema) देखता है तो स्वभावतः वह प्रति-दिन आप से कहेगा कि तुम भी देखने चलो बड़ा सुन्दर चित्र आया है। फिर एक दिन आपको जाना ही पड़ेगा। आप कहेंगे क्या करें, हम समाज में रहते हैं अगर बराबर मना करेंगे तो वह बुरा मानेंगे। अतः आज हमको उनके साथ देखने जाना ही पड़ा। विचार करिये, यहां कौन आपके ऊपर प्रभाव डाल रहा है ? संग। यदि आप ऐसे समूह में रहते हैं जहां शराब पीना स्वाभाविक है तो दो चार दिन मना करेंगे और बाद में कहेंगे भाई! हमने और तो कुछ नहीं किया थोड़ा सा घूंट पी लिया ! बड़ी मोटी-मोटी चीजें हम बतला रहे हैं। लेकिन इनसे पता चलता है कि संग किस प्रकार हमारे चित्त के ऊपर प्रभाव डालता है। ठीक इसके विपरीत भी होता है। एक व्यक्ति शराब पीने वाला है। किसी कारण उसकी पत्नी ने बड़ा जोर लगाया कि हमने जन्म भर कभी कुम्भ मेले में स्नान नहीं किया, इस बार मैं कुम्भ स्नान अवश्य करूंगी। मैंने आपकी बहुत सी बातें मानी हैं इसलिये आपको मेरी बात माननी ही पड़ेगी। पत्नी का प्रेम है, पति ने मान लिया और वह हरद्वार पहुंच भी गया। वहां उसको शराब कहां मिलेगी ? बलात् यदि वह किसी तरह से चेष्टा करेगा तो एक महीने में एक बार किसी क्लब-घर आदि में जाकर पी आयेगा। लेकिन उनतीस दिन तो बिना पिये रहना ही पड़ेगा। तो यह किसका प्रभाव है ? संग का। जैसे जैसे वह पीना छोड़ेगा वैसे वैसे उसकी वृत्ति भी वहां से हटती चली जायेगी। संग के

द्वारा ही यह होता है। जैसा जैसा हम संग करते हैं वैसे ही बनते चले जाते हैं। उसी के अनुसार संस्कार बदलते चले जाते हैं। संस्कार हमें प्रवृत्ति कराते हैं लेकिन संग उसको रोक लेता है, प्रवृत्ति नहीं करने देता। जिस-जिस संस्कार की प्रवृत्ति नहीं होती धीरे-धीरे वह छूटता जाता है। अन्ततोगत्वा संस्कारों का शोधन हो जाता है।

संग के महत्व को समझ कर भी हम यह परिशुद्धि क्यों नहीं कर पा रहे हैं? कारण यह है कि हमारे अन्तःकरण में चार चीजें हैं जिनको हम समझ नहीं पा रहे हैं। जो चार चित्त की अवस्थायें बतलाईं: क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त और एकाग्र, इनमें एक क्रम है। अन्त में जाकर मनुष्य के चित्त की निरुद्धावस्था आती है। इस क्रम का आधार क्या है? संग के द्वारा ही यह क्रम बनता है। हम संग के द्वारा संस्कारों का परिष्कार क्यों नहीं कर पाते? तो अन्तःकरण् के अन्दर चार चीजें हैं: मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चित्त तो है संस्कारों का आश्रय। आज का मनोवैज्ञानिक इन्हीं को unconscious, subconscious, conscious और ego इन भिन्न-भिन्न नामों से कहता है। अनेक नामों से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारे यहाँ भी ठीक उसी दृष्टि से विचार किया गया है।

हमारे चित्त के अन्दर अनन्त काल से पड़े हुए संस्कार हैं। जहां पर वे संस्कार रहते हैं उसे चित्त कहा जाता है। इसी चित्त की चारों अवस्थायें पहले बता चुके हैं। वही क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ और एकाग्र होकर अन्त में निरुद्ध होता है। इसलिये सारा शोधन किसका है? संस्कारों का। इस चित्त के साथ ही बैठी हुई है बुद्धि जिसका काम है निश्चय करना। वह हमको बतलाती है कि क्या करना ठीक है और क्या करना गलत है। बुद्धि हमारे ज्ञान का केन्द्र है, ज्ञान के अनुसार बुद्धि प्रवृत्ति कराती है। हम बुद्धि से जान लेते हैं, समझ लेते हैं क्योंकि जानना बुद्धि का धर्म है पर प्रवृत्ति करायेगा चित्त। जब तक संस्कारों में परिवर्तन नहीं हो जायेगा तब तक जान लेने मात्र से किसी चीज को छोड़ नहीं सकेंगे। इसीलिये तो ज्ञान और इच्छा का सामरस्य नहीं हो पाता है।

अब मन को लीजिये। मन का काम है जब चित्त संस्कार रूप से अपने आपको प्रकट करे तब जीव को उधर ले जाना। इसलिये मन का लक्षण कि

गया है 'संकल्प विकल्पात्मकं मनः' (शारदातिलक ३४)। जो संकल्प और विकल्प कराता रहता है अर्थात् हमेशा मनुष्य को इधर-उधर करता रहता है। संकल्प और विकल्प क्यों होते हैं ? संस्कार हमको एक ओर प्रवृत्त कराते हैं, उधर बुद्धि हमको दूसरी ओर प्रवृत्त कराती है तो मन बिचारा कभी बुद्धि की हां में हां मिलाता है तो कभी चित्त के अन्दर संस्कारों की हां में हां मिला लेता है। इसलिये वह इधर से उधर डांवाडोल होता रहता है। चित्त के अन्दर बल ज्यादा है क्यों कि उसमें अतिदीर्घ काल से संस्कार पड़े हुए हैं और उसके सामने बुद्धि कमजोर पड़ जाती है, इसीलिये तो हमारे यहां बुद्धि को स्त्रीलिङ्ग में रखा गया है और चित्त को पुंलिग में क्यों कि बुद्धि में कोमलता है और चित्त में पौरुष। चित्त जबर्दस्ती पौरुष करता है। यदि बुद्धि में दृढ़ता आ जाय तो फिर अवश्य चित्त को रोक सकती है अन्यथा नहीं।

यदि बुद्धि चित्त को रोकेगी तो संस्कार मरेंगे नहीं। यह पहले कह आये हैं। अतः इसको रोध कहेंगे निरोध नहीं, रिप्रेशन (Repression) कहेंगे सब्लिमेशन (Sublimation) नहीं। और ऐसा होता है कि जो रुद्ध है वह फिर कभी न कभी प्रवृत्ति करायेगा। जिस प्रकार (Spring) स्प्रिंग को जोर से दवाने के बाद छोड़ें तो वह बड़े जोर से ऊपर उछलता है ठीक उसी प्रकार बुद्धि के जोर से दबे हुए संस्कार समय पाकर इतने जोरों से उद्यत् हो जाते हैं कि हमें आश्चर्य होने लगता है।

भागवत में एक सुन्दर कथा सौभरि महर्षि की आती है। उन्होंने साठ हजार वर्ष तक (यह समय प्रतीक रूप से है, अति दीर्घ काल तक समझ लीजिये) पानी में बैठ कर समाधि का अभ्यास किया। आप कहेंगे बड़ा अच्छा काम किया, समाधि लगाना अच्छा काम है। पर यह चित्त का रोध था। परिणाम क्या हुआ ? जब साठ हजार वर्ष के बाद उनकी समाधि खुलती है तो दो मछलियों को क्रीड़ा करते देखते हैं। इतने मात्र से उनके चित्त में प्राचीन संस्कार उद्भूत हो जाते हैं और आगे चलकर विवाह करते हैं और धीरे-धीरे उनके सारे तप का क्षय हो जाता है।

शास्त्रों में बार-बार कथायें आतीं हैं कि ऋषियों ने इतने हजारों वर्षों तक तपस्या की और बाद में वे गिर जाते हैं। तो इससे शास्त्र हमें बता रहे हैं कि चित्त के रोध से काम नहीं चलेगा, रोध (repression) रिप्रेशन

है। निरोध अर्थात् (sublimation) सब्लिमेशन की अवस्था को समझाने के लिये ही शास्त्रों ने इतने सूक्ष्म रूप से हमारे सामने विचार रखे हैं। बुद्धि के द्वारा तो रोध होता है।

इसी को आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतना में superego और Id का झगड़ा कहते हैं। छोटे बच्चे को केवल कह दिया जाता है कि अमुक चीज अच्छी है और अमुक बुरी। उसको कभी समझाया तो जाता नहीं कि क्यों वह अच्छी है या क्यों बुरी है। केवल उसके मन के अन्दर यह धारणा दृढ़ होती जाती है कि यह चीज बुरी है। बड़ा होता है तो जीवन के व्यवहार में आदर्श से बड़ा भेद देखता है। स्वयं अपने माता पिता के जीवन के अन्दर सिद्धान्त और व्यवहार का भेद देखता है। माता कहती कुछ है, करती कुछ और है। बच्चे से कहती है सत्य बोलो, लेकिन टेलिफोन के ऊपर स्वयं झूठ बोलती है। बच्चा विचार करने लगता है कि आखिर यह है क्या। व्यवहार में वह अपने माता पिता तथा सहयोगियों की नकल करने लगता है पर आदर्शों को कुछ अन्य रूप से मानता है। अतः उसका तनाव बढ़ता चला जाता है। यहाँ तक मनोवैज्ञानिकों ने बिल्कुल ठीक समझा है। लेकिन इसका वे जो हल देते हैं कि हमारे संस्कारों को खुली छूट देदी जाये, यह गलत है। उनके हल में गलती है, समझने में नहीं। क्यों वे दुरुपयोग में चले गये और सदुपयोग में नहीं, यह विषय दूसरा है।

हमारे अन्दर बचपन से कुछ नैतिक विचार दृढ़ होते चले आ रहे हैं। जब हम बड़े होकर भेद देखते हैं तो दो प्रकार की विचारधारायें जागृत होती हैं। एक कहती है कि क्योंकि इस प्रकार का विरोध हमको दिखाई देता है इसलिये धर्म कुछ नहीं है। यह सब मनुष्यों ने अपने मन के अनुसार मान कर रख लिया है। दूसरी वृत्ति बनती है कि ये सारी बातें सत्य तो अवश्य होंगी लेकिन क्या करें हम इनके अनुसार जीवन यापन नहीं कर पाते। वह सदा अपने आप को धिक्कारता रहता है। यह दूसरी गलती होती है। हमारे यहां भी आज कल धीरे-धीरे पाप भावना प्रधान होती जा रही है, यह वैदिक संस्कृति के विरुद्ध है। इस परपापात्मक एवं सन्तं दृष्टि से अनेक प्रकार के सभी धर्मों में मनुष्य बार बार इस बात को अनुभव करता है कि मैं बड़ा पापी हूं।

एक बार एक जगह हम बैठे हुए थे और एक बड़े पण्डित जी पूजा करा रहे थे। अन्त में वे कहने लगे 'पापोऽहं, 'पापकर्माऽहं, पापात्मा पापसम्भवः' तो हमने पण्डित जी को बुलाया और पूछा पण्डित जी आप अपने को 'पापोऽहं' पाप रूप क्यों कह रहे हैं ? वेद कहता है 'त्वं ब्रह्माऽसि' आप ब्रह्म रूप हैं। आप कहते हैं कि मैं पाप रूप हूं, और मैं कहता हूं कि मैं शिव रूप हूं। उस पर आप कहते हैं 'पापकर्माऽहं' तो आप पाप कर्म करते क्यों हैं ? आप कहते हैं कि आप पापसंभव, पाप कर्म से उत्पन्न हुए हैं तो हम पूछते हैं कि क्या आपके माता पिता ने विवाह नहीं किया था ? क्या आप बिना विवाह के उत्पन्न हो गये थे ? तो क्यों कहते हैं कि आप पाप से उत्पन्न हुए हैं ? पंडित जी बोले, नहीं ऐसी बात नहीं है। तो हमने पूछा कि फिर झूठ बोलने से क्या फायदा ? यह तो एक प्रकार की दिखावटी बात है, जिसको कहा जा सकता है कि मन के अन्दर एक आवेश आ गया है कि मैं पापी हूँ। ऐसी भावना हमको अधिकाधिक पापों की ओर प्रवृत्त करती चली जाती है।

इस प्रकार दो प्रकार की भावनायें उत्पन्न होती हैं। एक के अनुसार धर्म का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है और दूसरी के अनुसार मन में सदा संघर्ष बना रहता है, मनुष्य सोचता रहता है कि मैं पापी हूं! ये दोनों ावनायें मनुष्य को आगे नहीं बढ़ाती हैं।

शास्त्र तो हमें दृष्टि ही दूसरी देता है। वह कहता है कि तुम अपने चेतनांश को पकड़ कर ब्रह्मस्वरूप हो। तुम अपने को ब्रह्म स्वरूप समझो। ब्रह्म स्वरूप के अनुसार परिच्छिन्न भावना का परित्याग करके अपरिच्छिन्नता की दृष्टि को अपना कर आगे बढ़ो। इसके सिवाय अपने आप को परिच्छिन्न और पापी कहना शास्त्रों के अन्दर विहित नहीं किया गया। शास्त्रों ने इसे हमारे सामने नहीं रखा इसलिये यह दूसरी गलती होती है।

अब एक तीसरी बड़ी गलती यह है कि धर्म को बन्द पुस्तक समझ लेना। यदि कोई सिद्धान्त अपने आपको सर्वथा समालोचना से दूर कर देता है तो उसमें गन्दगी आने लगती है। हमें सदा अग्रगामी दृष्टि रखनी चाहिये। हमारे ऋषि लोग कभी अपनी आंखों के सामने पर्दा नहीं रखते थे, वे सदा आगे बढ़ने की इच्छा रखते थे। जैसे-जैसे नवीन शोध उनके सामने आते थे वैसे-वैसे उनको अपने अनुभवों के साथ मिलाकर उनके द्वारा नवीन मार्ग

दर्शन किया करते थे। कभी यह नहीं कहते थे कि जितना हो गया उतना हो गया अब आगे कुछ हो ही नहीं सकता। सिद्धान्त को समालोचना से अतीत मानने पर मनुष्य के अन्दर से धर्म की भावना चली जाती है।

सुपरईगो और इड का जो झगड़ा मनोवैज्ञानिक लोग बता रहे हैं उसी को हमारे यहाँ दैवी और आसुरी सम्पत्ति का झगड़ा कहा गया है। लेकिन दोनों के मूल को समझने की आवश्यकता है। आप लोग पुराणों में पढ़ते हैं कि देवता और राक्षस दोनों आपस में झगड़ते रहते हैं, पर वे दोनों पुत्र किसके हैं ? कश्यप नामक महर्षि के ही दिति नामक पत्नी से उत्पन्न पुत्र दैत्य हैं और अदिति से उत्पन्न पुत्र देवता। हमारे ऋषि बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से इस प्रकार बता रहे हैं कि Superego और Id आपकी अन्तश्चेतना और आपके प्राचीन संस्कारों का मूल एक ही है—इच्छा शक्ति। इसलिये वे कहते हैं कि अगर इच्छा शक्ति को पकड़ लिया तो काम बन जायेगा। तुम इसका हल निकाल लोगे।

इच्छाओं का परिष्कार होगा संग से, अतः ऐसे पुरुषों की आवश्यकता होती है, ऐसे संगों की आवश्यकता होती है जहां मनुष्य जाकर उन आदर्शों का मूर्त रूप देख सकें, उसके अनुसार जीवन का निर्माण कर सकें। यदि ऐसे व्यक्ति किसी समाज में नहीं रह पाते तो समाज का रूप विश्रृङ्खलित हो जाता है। लेकिन इस संग को करने में एक बड़ी कठिनाई है।

देवर्षि नारद ने जहां सत्संग को बतलाया वहां उन्होंने तीन विशेषण दिये हैं। वे कहते हैं कि सत्संग यदि होता है तो वह निश्चित अपना प्रभाव करता है। पर वे उसे दुर्लभ, अगम्य और अमोघ कहते हैं। सत्संग होने पर तो फल अवश्य उत्पन्न करता है, इच्छाओं का सर्वथा परिष्कार कर देता है। लेकिन वह दुर्लभ और अगम्य है। दुर्लभ क्यों है ? क्योंकि अच्छी चीज को बतलाने के लिये बाहरी रूप कुछ और ही रखना पड़ता है। एक सज्जन थे, जिनके घर में अति मधुर आम हुआ करते थे। उन्होंने अपने बगीचे के आम खाने का एक मित्र को निमन्त्रण दिया। कहा, भाई ! तुम आना। तुम्हें बहुत बढ़िया आम खिलायेंगे। वह व्यक्ति व्यस्तता के कारण उधर आ नहीं पाये। एक बार असमय में ही उस बगीचे से निकले। अतः मालिक से बिना मिले ही बाहर के एक पेड़ से दो चार आम तोड़ लिये। बड़े सुन्दर

आम थे, खाने लगे तो बिल्कुल बिना स्वाद के, रेशे से भरे, और खट्टे थे। पक जाने पर भी उनमें खटास थी। विचार किया अच्छा ही हुआ इनके यहां में कभी आम खाने नहीं आया। कुछ समय बाद उन मित्र से मुलाकात हुई। उन्होंने पूछा, आम का मौसम फिर बीत जायगा तुम कब आओगे ? वे हँसकर बोले—'क्या आयें तुम्हारे यहां आम खाने, हमने देख लिया तुम्हारे बगीचे के आम कैसे हैं !' उन्होंने पूछा कि कैसे देख लिया। बोले कि मैं एक बार उधर से जा रहा था तो मैंने देखा आम लगे हुए हैं। मैंने पत्थर उठाकर मारा तो दो आम गिरे, मैंने उठाकर खा लिये। वे अत्यन्त खट्टे थे तो मैंने समझा कि तुम्हारे यहां आना बेकार है। वह सज्जन हँसकर बोले, भाई ! तुम आकर देखना मेरे यहां आम कैसे हैं। अन्दर के पेड़ों में आम इतने अच्छे हैं कि यदि लोगों को पता चल जाय तो मुहल्ले के बच्चे और दूसरे लोग रात-बिरात आकर आम तोड़ ले जायेंगे। अच्छे आम बच नहीं पायेंगे। इसलिये मैंने बगीचे के चारों ओर ऐसे आम लगा रखे हैं कि उनके नमूने को चखकर कोई मनुष्य आगे बढ़ने की इच्छा ही न करे और यह न समझे कि अन्दर अच्छे आम हैं। वह व्यक्ति फिर उसके यहां गया तो बढ़िया आम खाकर वास्तव में प्रसन्न हुआ।

ठीक यही हाल संग करने वाले का होता है। परमेश्वर की तरफ दृष्टि रखने वाले का जब संग किया जाता है तो चूंकि अब तक हमारी दृष्टि सर्वथा भोगों की तरफ रही है इसलिये उसकी बाह्य विषयाभावता से हमें कमी मालूम पड़ती है। सारे साधन-साम्राज्य के अन्दर जब पहले पहल साधना में प्रवृत्त होते हैं तो प्रथम हमको खटाई ही नजर आयेगी। जब तक यह खटाई नजर नहीं आयेगी तब तक वे अच्छे अन्दर के आम खाने को मिल नहीं पाते हैं। अतः जब हम विरक्त आदमी को देखें तो हम इतने मात्र से चौंक न जायें, यह न समझलें कि इसके पास तो संसार के साधारण पदार्थ भी नहीं हैं तो और क्या होगा ? बाह्य पदार्थाभाव से वह फलों को अत्यन्त सुरक्षित करके रखता है। वह उनको उसी व्यक्ति को देता है जो अत्यन्त घनिष्ठ और प्रेमी हो जाता है। सत्संग द्वारा ही उसके संस्कार बदलेंगे।

लेकिन सत्संग करने जब हम जायेंगे तब सत्सङ्ग की वास्तविक दृष्टि को अपनाना पड़ेगा। संग के द्वारा धीरे-धीरे हमारे संस्कारों का परिवर्तन

होगा। उससे चित्त क्षिप्त और मूढ़ अवस्था से हट कर विक्षिप्त अवस्था में जायेगा। फिर भी हमारे सामने भोग तो रहेगा, लेकिन हम किसी उद्देश्य को लेकर भोग को करेंगे, अभी जिस प्रकार सर्वथा संस्कारों से प्रताड़ित होते हैं वैसा नहीं हो पायेंगे। यही सकाम कर्मावस्था है।

संस्कारों की प्रबलता बताने के लिये भोज-प्रबन्ध में एक सुन्दर कथा है। एक ब्राह्मण के घर में पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र उत्पन्न होने पर कुण्डली बनाई और गणना करने के बाद विचार किया तो पत्नी से पूछा क्या तुमने समय ठीक बताया था। उसने कहा समय तो ठीक ही बताया था, और आप भी खड़े ही थे। फिर पाराशरी, जैमिनी तथा अन्य सिद्धान्तों से गणना की तो यह फल निकला कि बड़ा होकर लड़का चोर होगा। निश्चय ही जब इसका चोरी का संस्कार है, तो मेरे कुल में भयंकर कलङ्क लगेगा। वहां एक महात्मा आया करते थे उनके पास जाकर रोने लगा। महात्मा ने समझाया कि लड़के का चोर बनना तो अपने हाथ में है, तू इसको चोर न होने देना। ब्राह्मण बोला, "भगवन्! मैंने इसके पूर्व जन्म के संस्कारों का भी अध्ययन कर लिया है, इसके कुछ संस्कार ही ऐसे हैं कि अनेक जन्मों से चोर बनता चला आ रहा है, इसलिये ये संस्कार इसकी प्रवृत्ति फिर से चोरी की ओर करायेंगे।"

महात्मा ने कहा इसका तो एक उपाय है। संस्कार बने हैं तो बिगड़ भी सकते हैं। संस्कारों में रुकावट डाल दो। जैसे, यदि आप भोजन करने दो चार व्यक्तियों के साथ बैठे हैं और आपके कुल्हड़ से जूठा पानी बह कर पड़ोसी के पत्तल की तरफ बहने लगता है तो आप एक लकीर खींचकर पानी की धारा दूसरी तरफ निकाल देते हैं, वैसे ही यद्यपि इसके संस्कारों का ढलान चोरी की तरफ है यदि तुम दूसरी तरफ लकीर खींच दोगे तो यह बच जायगा। इसको शास्त्र का सम्यक् अध्ययन कराना जरूरी है। लड़का बड़ा हुआ और वह उसको अध्ययन कराने लगा। ठीक तरह से शास्त्रों का अध्ययन कराया और विशेष करके चोरी के जितने पाप लगते हैं उनका सविस्तार उसको ज्ञान करा दिया और शास्त्रों द्वारा उसके मन में निश्चय करा दिया कि चोरी करना बुरा है। लड़का बीस वर्ष का हो गया। दो चार साथी भी चोर मिल गये। एक दिन निर्णय किया कि आज रात्रि को भोज राजा के यहां

चोरी करेंगे। इस ब्राह्मण-पुत्र से कहा गया तू वहां चोरी करना, हम बाहर सावधानी से खड़े रहेंगे। वह अन्दर पहुंच गया, तिजोरी खोल ली, बड़े-बड़े हीरे पड़े हुए थे, उठाकर ज्योंही चोरी करने लगा तो ख़याल आया कि हीरे चुराने से अमुक नरक में जाना पड़ता है। इन्हें छोड़ दो। फिर सोने की चोरी करने लगा तो याद आया स्वर्णस्तेय तो पञ्चमहापातकों में से है इस लिये इसको भी छोड़ दो। इस प्रकार चार घण्टे बीत गये वह चोरी ही कर रहा है लेकिन उसकी समझ में ही नहीं आ रहा है कि वह किस वस्तु को चुराये। जब साढ़े तीन बज का समय हुआ तो राजा भोज ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर परमेश्वर का चिन्तन करते थे अतः चोर बेचारा क्या करता। राजा को उठते देखकर पलंग के नीचे जा छिपा। राजा भोज के नित्य कर्म की सामग्री जब तक प्रस्तुत की जा रही थी तो स्वभावतः एक श्लोक की रचना हो गई। श्लोक के तीन चरण तो बन गये 'चेतोहरा युवतयो सुहृदोनुकूलाः सद्बान्धवाः प्रणति गर्भगिरश्चभृत्याः। गर्जन्ति दन्ति निवहाः तरलास्तुरंगाः' जिसमें उन्होंने कहा मैं कितना धन्य हूं कि मेरी सब रानियां बड़ी सुन्दर हैं, आज्ञाकारिणी हैं, मेरे सब बान्धव और पुत्र अच्छे हैं, मुझे सारा सुख प्राप्त है। इस प्रकार जब तक तीन पंक्तियां बना पाये थे कि नहाने का पानी प्रस्तुत हो गया था। अभी चौथी पंक्ति नहीं बनी थी। अतः इन तीन पंक्तियों को उन्होंने खड़िया मट्टी से दरवाजे पर लिख दिया और स्नान करने चले गये। ब्राह्मण-पुत्र ने केवल चोरी का ही शास्त्र नहीं पढ़ा था। सोचा कि ये तीन चरण श्लोक के राजा ने बनाये हैं इन्हें पूरा कर देना चाहिये। राजा चले गये थे तो उसने चौथा चरण लिख दिया।

'सम्मीलिते नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' (शार्ङ्गधर पद्धति–४१३०) कहते हैं कि तू अपने को जिन सब चीजों को पाकर धन्य मान रहा है, जिस दिन आँखें मिच जायेंगी उस दिन यह सब कुछ नहीं रहेगा। यह लिख कर वह भागना चाहता था, पर तब तक सब लोग जग गये थे। राजा ने स्नान से आते ही पूछा यह कौन लिख कर गया? चारों तरफ पूछा, किसी को पता न चला, ढूंढ़ने पर एक जगह चोर छिपा मिला। उसको पकड़ कर पूछा, तू किस लिये आया? उसने कहा, चोरी करने। कब? रात्रि के बारह बजे। तो अब तो चार बजे हैं अब तक चोरी क्यों नहीं की? क्या बताऊं जिस

पदार्थ की भी चोरी करने जाता था उसी में पाप नजर आता था। अतः चोरी न कर पाया। पूछा, इस श्लोक की पूर्ति तूने की ? हां। उसके पिता को बुलाकर पूछा गया। पिता ने सारी घटना राजा भोज को समझा दी कि इसके अन्दर चोरी के संस्कारों की प्रबलता थी, मैंने इसे शास्त्रों का अध्ययन कराके इसे दृढ़ निश्चय करा दिया कि चोरी के अन्दर क्या क्या पाप हैं। संस्कारों के कारण इसकी चोरी करने की प्रवृत्ति तो हुई लेकिन उसके विरोध करने वाले शास्त्र से वह हट गई और यह चोरी न कर पाया। राजा ने प्रसन्न होकर उसे छोड़ दिया और उसे इतना धन दिया कि चोरी की प्रवृत्ति ही न रहे। सुख से जीवन यापन कर सके।

यहां विचार करने की बात यह है कि संग के कारण ही उसकी चित्तवृत्ति को सर्वथा परिवर्तित कर दिया गया। यह दृष्टि है तो अपनी इच्छाओं का परिष्कार करके क्रिया को शुद्ध करना है। इच्छा की शुद्धि के बिना क्रिया की शुद्धि नहीं होगी। इच्छा की अशुद्धि का कारण है हमारे संस्कारों की खराबी। यदि हम अच्छे संस्कार कर लेंगे, अच्छे पुरुषों का और अच्छे शास्त्रों का संग करेंगे तो प्राचीन संस्कार मिट जाने से फिर से हमारी इच्छा शुद्ध हो जायेगी।

इच्छा के शुद्ध होते ही हम वस्तुतः मानव के अनुकूल क्रिया कर सकेंगे, हम मानव वन सकेंगे। इच्छा का शोधन किस प्रकार होगा इस पर आगे विचार किया जायेगा।

दैववाद और संगवाद

'ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा' इस मन्त्र के द्वारा श्रुति हमें व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों को अपनाकर चलने का निर्देश करते हुए कल्याण का मार्ग बतलाती है। उस कल्याण के मार्ग के ऊपर विचार करके यह देखा कि जब तक ज्ञान, इच्छा और क्रिया में सामरस्य स्थापित नहीं होता तब तक हम अपने जीवन में—चाहे वह व्यष्टि जीवन हो चाहे समष्टि—किसी प्रकार का सामरस्य लाने में समर्थ नहीं हो सकते। इच्छा-शक्ति की कमी के कारण हम आगे नही बढ़ पा रहे हैं और इच्छाओं को ज्ञान के अनुरूप बनाने के लिये इसकी आवश्यकता है कि हम उनका शोधन करें। इच्छाओं की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस पर विचार किया गया, और देखा कि इच्छाओं में अशुद्धि आती है संस्कारों के प्रबल प्रवाह के कारण जो हमारी इच्छा शक्ति को नियंत्रित करता है। अतः वह ज्ञान के द्वारा नियंत्रित नहीं हो पाती। ज्ञान इच्छा का नियंत्रण तभी कर सकता है जब हम इच्छाओं के लिये शुभ संस्कारों का एक प्रवाह उत्पन्न करदें। संस्कारों का प्रवाह जब शुभ होगा तो बुद्धि के द्वारा होने वाले निर्णय को संग की सहायता मिलेगी।

इस सत्संग को दुर्लभ, अगम्य और अमोघ बतलाते हुए देवर्षि नारद ने यह कहा कि यह कभी व्यर्थ नहीं होता, अपने फल को अवश्य उत्पन्न करता है। संग को सुधारने से ही इच्छा के अन्दर शोधन आ सकता है। संस्कारों की शुद्धि के बिना हमारी इच्छा कभी शुद्ध नहीं हो सकती। पर अच्छे पदार्थों के संग में एक बड़ी भारी बाधा उपस्थित होती है कि वह दुर्लभ है और अगम्य है।

संसार में देखा जाता है कि जिस वस्तु की जैसी मांग होती है उसके ही अनुसार उसकी उपलब्धि भी होती है। जिसकी मांग अधिक होती है उसी को अधिक बेचने के लिये लोग प्रवृत्त होते हैं, इसको Law of Supply

and Demand कहते हैं। इसी नियम के अनुसार परमेश्वर के विषय में लोगों के हृदय में मांग की कमी होने के कारण उसकी उपलब्धि की भी कमी है। यदि मांग अधिक हो तो उसके अनुकूल उपलब्धि भी मिल सकती है। मनुष्य को कुसंग की अभिलाषा अधिक है, सत्संग की मांग उसकी दृष्टि में बहुत कम है। अच्छे संग को स्थान न देने के कारण ही स्वभावतः उसकी प्राप्ति भी कम हो जाती है।

शास्त्रों के अन्दर सारी वासनाओं को तीन भागों में बाँटा गया है। शास्त्र-वासना, लोक-वासना और देह-वासना। मनुष्य के अन्दर सबसे अधिक देह-वासना है, उसके संस्कारों के अन्दर सबसे अधिक देह का ही प्रभाव पड़ता है। शरीर के विषय में हम जितना विचार करते हैं उतना और किसी विषय में नहीं करते। बीमारी, सौन्दर्य प्रसाधन, वस्त्र इत्यादि के विषय में विचार चलता ही रहता है। जीवन के क्षणों को बांटना चाहें तो सुगमता से कहा जा सकता है कि अधिकतम समय शरीर के परिरक्षण, परिवर्धन और उसमें सौन्दर्य लाने में जाता है। इसीलिये देह-वासना सम्बन्धी चीजें भी संसार में सबसे अधिक उपलब्ध होती हैं। होटल और रेस्टोरैन्ट इत्यादि जहाँ भी खुलें प्रायः वहीं चल पड़ते हैं। देह-वासना के प्रवृत्त होने के कारण खाने पीने के स्थलों में स्वभावतः प्रवृत्ति होती है। खाने पीने के पदार्थों के इतने स्थल हैं जिनका कोई ठिकाना नहीं।

उसके बाद दूसरा नम्बर आता है वस्त्रों की दूकानों का। आप कह सकते हैं कि अन्न और वस्त्र आवश्यक हैं। फिर भी हमें यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि दिल्ली में इस समय शायद ही कोई ऐसा घर हो जहाँ रोज भोजन न बनता हो, तो भी इतने होटल और रेस्टोरैन्ट क्यों हैं? क्या लोग घर में खाते नहीं? घर के अन्दर यदि भोजन बनना वन्द हो गया है और उसकी जगह पर होटल खुल गये हैं जो कह सकते हैं कि आवश्यकता के अनुसार खुल रहे हैं। वस्तुतः यह चीज आवश्गकता के अनुसार नहीं होती है बल्कि हमारी देह वासना इतनी अधिक बढ़ गई है कि हम बिना विचार के भोजन करने में प्रवृत्त होते हैं और घरके पदार्थ हमको रुचिकर नहीं लगते। कितनी भी शुद्धि से घर में चीज बनाई जाय वह हमको प्रिय नहीं लगती और बाजार की चीजों के अन्दर हमको एक विशिष्ट प्रकार के स्वाद का

अनुभव होता है। वह स्वाद क्या है इसके ऊपर जितना ही कम विचार किया जाय उतना ही अच्छा है। घरके अन्दर बड़ी शुद्धि से बने हुए पराठे मनुष्य नहीं खायेगा और पराठे वाली गली के अन्दर जाकर, जहां पराठे के साथ उस में स्वाद के लिये शरीर का पसीना भी टपकता है, उसको बड़े प्रेम से खायेगा। अत्यन्त घृणित पदार्थ भी मनुष्य खा लेता है। बड़े होटलों के अन्दर, जहां खाना पकता है, वहां जाकर देखिये कि क्या परिस्थिति होती है, कितनी सफाई रहती है। यद्यपि बाहर से बड़ी सफेदी का अनुभव होता है पर अन्दर जाकर देखिये किस प्रकार भोजन बनाया जाता है तो संभवतः दूसरी बार खाने की प्रवृत्ति भी नहीं होगी। तो भी हम क्यों प्रवृत्त होते हैं? क्यों कि देह-वासना के कारण हमने मान रखा है कि वहा जाने से हमारे शरीर को एक विशेष स्वाद का अनुभव होगा।

यह तो केवल स्थूल दृष्टि से कह रहे हैं। सूक्ष्म दृष्टि से यदि यह विचार करें कि वहां पर किस प्रकार से भोजन बनता है, कैसा स्पर्श होता है तो वह सर्वथा हेय हो जायेगा। जिस गिलास के अन्दर एक मनुष्य ने चाय पी है संभवतः उसके अनेक प्रकार के कीटाणु उस गिलास में ही हैं, उस को जल के द्वारा ठीक से धोआ भी नहीं गया है, उसी के अन्दर दूसरी बार कोकाकोला डाला गया और आपको दे दिया गया। आप गटगट करके पी लेते हैं, कभी विचार भी नहीं करते कि किस प्रकार के स्पर्शास्पर्श का असर आपके ऊपर पड़ रहा है। इन सब के मूल में क्या है? देह-वासना के संस्कार ऐसे पड़े हुए हैं कि मनुष्य को देखते हुए भी इन पदार्थों में घृणा का अनुभव नहीं होता।

वासनाओं का, संस्कारों का प्रवाह ऐसा है। आज से २५ वर्ष पूर्व जिस चीज को करते हुए लोग हिचकिचाते थे उसी को आजकल करते हुए घृणा का बोध क्यों नहीं होता? क्यों कि हमारी वासनायें ऐसी परिवर्तित हो गई हैं, संस्कारों का प्रवाह कुछ ऐसा हो गया है कि सत् संस्कार विलीन होते चले जा रहे हैं। हमें उनका अनुभव नहीं हो पाता। जो हालत देह वासना की भोजन के विषय में है वही वस्त्र आदि के विषय में भी है। जिन वस्त्रों का उपयोग शीत निवृत्ति व लज्जानिवृत्ति के लिये केवल शरीर को ढकना था, उनका हमने कुछ भीषण और भयंकर रूप बना लिया है। दिल्ली में रहने वाले लोग इसे अच्छी तरह से जानते हैं। एक सज्जन हम को सुना रहे थे कि दिल्ली विश्वविद्यालय

के अन्दर एक लड़की जा रही थी, एक पुस्तक उसके हाथ से गिर गई तो वह उसको उठा नहीं सकी। उसको उठाने का अनुरोध करते हुऐ उसने एक लड़के की ओर देखा तो वह बोला, जो हाल तेरा है वही हाल मेरा भी है, न मैं नीचे झुक के किताब उठा सकता हूं न तू। इस प्रकार के वस्त्र मनुष्य क्यों धारण करता है ? इन सबके मूल में है देह वासना। वासनाओं के प्रवाह में यह मान लिया गया है कि इस प्रकार की वेशभूषा सुन्दर है। वस्त्र तो शरीर को सुख देने के लिए होते हैं, कष्ट देने के लिये नहीं। शरीर के अन्दर यदि सुख और सन्तोष का अनुभव नहीं होता तो वे वस्त्र किस प्रकार सुखप्रद मान लिये जाते हैं ? इन सबका कारण है वासनाओं का प्रवाह।

देह-वासना की तरह ही लोक-वासना भी बड़ी प्रबल होती है। सारे लोग मुझे अच्छा कहें यह मनुष्य के अन्दर एक भाव बना हुआ है। इसके कारण मनुष्य अच्छे कार्य व धर्म में प्रवृत्ति नहीं करता; चोटी नहीं रखता, धोती नहीं पहनता, भस्म नहीं लगाता, मन्दिर नहीं जाता; पर नेकटाई पहनना, सिनेमा जाना, वहां से नये नये फैशनों को सीखना एक आम बात हो गई है, पर यदि कहीं पर कीर्तन हो रहा है तो मुँह से शिव के नाम स्मरण करने में संकोच होता है, सोचता है कि पास में बैठे हुए लोग क्या कहेंगे। घरवाले इस चीज को बुरा कहेंगे, इसीलिये इसकी अपेक्षा घर में ही बैठ रहो, ऐसा सोचना लोक-वासना है। इसका मनुष्य के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य निरन्तर चाहता है कि सारे लोग मेरी प्रशंसा करें मुझे अच्छा मानें। यह नहीं सोचता कि मेरा कर्तव्य क्या है ? क्या करने से मैं अपने कल्याण के मार्ग के अधिक निकट पहुँच सकूंगा ? केवल यह सोचता है कि लोग मुझे अच्छा कहें।

क्या आपने कभी विचार किया है कि लोग कभी किसी को अच्छा कह सकते हैं ? भगवान् राम साक्षात् परब्रह्म मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। उन्होंने बड़ी कोशिश की कि लोग यह समझें कि मैंने मर्यादा का पालन किया। उनके समय में भी उनकी प्रजा ने उन पर दोषारोपण किया। अद्यावधिपर्यन्त लोग यही कहते हैं कि राम ने सीता वनवास या बालिवध ठीक नहीं किया। भगवान् कृष्ण पूर्ण ब्रह्म परमात्मा होकर के भी लोगों की निन्दा के ही विषय बन पाये। उनके जीवन काल में ही शिशुपाल ने उन्हें दस नहीं, बीस नहीं, एकसौ

एक गालियां सुनाईं। इससे क्या सिद्ध होता है? मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न करे कि सारे लोग उसकी प्रशंसा करें लेकिन यह कभी होने वाला नहीं है। आप जो कुछ भी करें उसके दो पक्ष होते हैं; एक शुभ पक्ष और दूसरा अशुभ पक्ष। शुभ पक्ष को छोड़ करके अशुभ पक्ष को चुनने वाले संसार में हमेशा बने रहेंगे। इस तत्त्व को नहीं समझने के कारण ही हमारे अन्दर लोक-वासना बनी रहती है। लोग कह भी देते हैं कि जिस समाज में रहते हैं उसके अनुरूप हमको चलना ही पड़ता है। क्यों चलना पड़ता है? क्या कोई जबर्दस्ती चलवाता है? यह मन के अन्दर जो लोक वासना बैठी हुई है कि लोग मेरी प्रशंसा करें और मुझे बुरा न बतायें, जिनके साथ मैं रहता हूं वे मुझे अच्छा मानें, यह लोक-वासना ही हमें प्रवृत्त कराती है। यदि किसी काल में समाज में अधिकतर समुदाय धार्मिक होता है तो लोक-वासना मनुष्य को अधिकतर शुभ कर्मों में प्रवृत्त कराती है। पर आज के समाज में लोक-वासना को समझना और अधिक आवश्यक है क्योंकि आज प्रायः समाज की ओर दृष्टि रखने वाला मनुष्य अपने श्रेय के मार्ग से नीचे ही गिरता है, आगे नहीं बढ़ता। आज का समाज कहेगा होटलों में खाना अच्छा है, शराब पीना अच्छा है, नाचगानों में जाना अच्छा है अतः वह लोक-वासना वाली दृष्टि के व्यक्ति को नीचे की तरफ ले जायेगा ऊपर की तरफ नहीं। यदि प्राचीन काल में किसी में लोक-वासना होती थी तो वह धर्म के विरुद्ध कार्य करने में रुकावट डालती थी, आज ठीक इसके विपरीत परिस्थिति हो रही है। आज समाज के लोग ज्यादा जोर देते हैं मनुष्य को धर्म के विरुद्ध कार्य करने में, इसीलिये लोक-वासना के स्वरूप को समझ कर उसका परित्याग आज और भी अधिक आवश्यक है।

आज एक बड़ी भ्रान्तधारणा लोगों के मन में बैठी हुई है कि 'यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं न करणीयं नाचरणीयम्'। कहते हैं यदि शुद्ध चीज भी हो पर संसार के लोगों के विरुद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिये। एक बार किसी ने महात्मा गांधी से यही बात कही थी तो उन्होंने उत्तर दिया था कि यदि सारा संसार भी मेरे विरुद्ध हो जाय, मुझे यदि दृढ़ विश्वास हो कि मैं सत्य के मार्ग में हूं तो मैं सारे संसार का विरोध उस समय तक बर्दाश्त कर सकता हूं जब तक मुझे निश्चय नहीं हो जायेगा कि मैं गलत रास्ते पर हूं।

यह है लोक-वासना के परित्याग का फल। लोक-वासना की दृष्टि को न रख करके ही हम आज के युग में धर्म की तरफ दृष्टि रखने वाले हो सकेंगे।

भारतवर्ष में धर्म प्रायः व्यक्ति को केन्द्र बना कर चला है। विदेशों में, विशेषकर ईसाई धर्म में, समष्टि को केन्द्र रखा गया है। इसी कारण वहां धर्म का संगठित रूप रहा है। भारतवर्ष में वैदिक सनातन धर्म का कभी भी संगठित रूप नहीं रहा। हमने व्यक्ति की उन्नति पर अधिक जोर दिया, और यह ठीक भी था; क्योंकि हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था इस प्रकार की बनी हुई थी, उसका रूप और प्रवाह कुछ इस ढंग का था कि स्वभावतः समाज के अन्दर धार्मिक प्रवृत्ति थी। अतः हमें अधिक आवश्यकता इस बात की नहीं थी कि समाज की तरफ ध्यान दें बल्कि इस बात की थी कि व्यक्तिगत रूप से अपना कल्याण करलें तो हम आगे ही बढ़ते चले जायेंगे।

आज परिस्थिति बदल गई है। आज समाज इतना प्रधान हो गया है कि साधारण मनुष्य के लिये व्यक्तिगत रूप से अपने धर्म पर दृढ़ रहना असम्भव सा होता जा रहा है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि असम्भव हो गया है—बल्कि असम्भव सा होता जा रहा है। आज समाज इतना अधिक बलिष्ट हो गया है—और वह भी कौन सा समाज? अधर्म को मानने वाला समाज। उसके सामने एक व्यक्ति विरोध में खड़ा होता है, यदि वह सिद्ध पुरुष है तो उसका सामना करने में समर्थ हो जाता है, पर साधारण साधक घबरा जाता है; वह देखता है कि सारे जीवन के प्रवाह का ढंग—चाहे वह उठना बैठना हो, चाहे खाना पीना—कुछ इस प्रकार का बन गया है कि चाहे जितना प्रयत्न करो कुछ न कुछ अधर्म के कार्य बन ही जाते हैं। बहुत से अच्छे साधक भी जब अपने जीवन की समस्या सुनाते हैं तो कहते हैं कि मैं किसी को ठगना नहीं चाहता पर ताकि मैं स्वयं ठगे जाने से बच जाऊं इतने मात्र के लिये मुझे ठगने का काम करना पड़ता है। लोग कहते हैं, यहां तक परिस्थिति आ गई है कि यदि हम सच्चा टैक्स का सारा चिट्ठा बना कर सरकार को दे दें तो भी वहां बैठने वाला अफसर कहता है कि मेरा हिस्सा मुझे दे ही दो। उससे कहो कि मैं बिल्कुल ईमानदारी से यह टैक्स का हिसाब बनाके लाया हूं इसमें मैंने एक पैसे की भी चोरी नहीं की है तो भी वह कहता है कि तुमने चोरी की हो अथवा नहीं, यदि मेरा हिस्सा नहीं दोगे तो मैं तुम्हें

अवश्य पीड़ित और दण्डित करूंगा। यही परिस्थिति होती है। चाहे आप अपनी फैक्ट्री अच्छी से अच्छी हालत में रखिये, लेकिन उसका इन्स्पैक्टर आकर कहता है कि यदि आप मुझे बीस पच्चीस रुपये दे देंगे तो मैं आपकी फैक्ट्री पास करूंगा नहीं तो आप अच्छी से अच्छी भी रखिये मैं इसमें दोष ही निकालूंगा। यह सारी सामाजिक परिस्थितियां हैं। सम्भवतः जिस व्यक्ति की धर्म में पूर्ण निष्ठा है वह कहेगा कि तुझे जो करना हो सो करले, चाहे मेरे ऊपर मुकदमा ही चलादे, मैं तो जो ठीक समझूंगा वही करूंगा। लेकिन साधक के लिये तो यह कठिन विषय हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह बाध्य सा होकर अपने को अधर्म में लगा देता है। आज के जन-जीवन में हमारे लिये एक समस्या खड़ी हो गई है। हम अब तक व्यक्तिनिष्ठ धर्म के ऊपर जोर देते रहे; तब तक वह समुचित था जब तक समाज में धार्मिक प्रवाह स्वभावतः था। आज समाज में अधार्मिक प्रवाह स्वभावतः होता चला जा रहा है इसलिये समाज के धर्म की ओर दृष्टि देने की बड़ी भारी आवश्यकता है। अब केवल इतना कहना प्रर्याप्त नहीं होगा कि हम केवल अपने व्यक्तिगत जीवन का निर्माण कर सकते हैं। हमें अपने साथ में अपने घर और समाज का भी निर्माण करना पड़ेगा। इसके विपरीत दूसरी दृष्टि यह है कि केवल समाज को ही धर्म का उपदेश दें, व्यक्ति उसके बारे में स्वयं कुछ भी न करे। यह पाश्चात्य दृष्टि है और वह सर्वथा गलत है। धर्म कभी भी समाज को केन्द्र मान कर नहीं चल सकता। केन्द्र सदा व्यक्ति ही रहेगा। लेकिन उसका प्रसार और प्रचार समाज की तरफ से ही करना पड़ेगा। यह उसका एक स्वरूप है।

ऐसा कब होगा? हम अपने समाज और व्यक्तित्व को बदलने में कब समर्थ होंगे? आचार्य मधुसूदन सरस्वती एक जगह बहुत सुन्दर उपाय बताते हुए कहते हैं—'प्रथमं महतां सेवा तद्दयां पात्रतां ततः'। व्यक्ति के लिये अपनी इच्छा को वलिष्ठ करने का सबसे उत्तम उपाय 'महतां सेवा' महापुरुषों की सेवा याने परिचर्या है। संस्कृत भाषा में परिचर्या का अर्थ बड़ा सुन्दर है, चर्या का अर्थ होता है घूमना, परिचर्या का अर्थ है चारों तरफ घूमना। सेवा का मतलब केवल यह नहीं समझना चाहिये कि हमने दूसरों के पैर दवा दिये। लोग प्रायः यही तात्पर्य समझते हैं। परिचर्या का भाव है निरन्तर उसके

जीवन पर दृष्टि रखना। जब हम देखते हैं कि अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी इच्छा के ऊपर नियन्त्रण करके रह सकते हैं तब हमें एक बल मिलता है, हम अपनी इच्छा-शक्ति को बढ़ाने में समर्थ हो पाते हैं। इसके लिये हमको आदरणीय आदर्श पुरुष चाहिये जो अपने जीवन में इच्छाओं का नियन्त्रण कर सके, इसीलिये 'प्रथमं महतां सेवा' कहा। ऐसे व्यक्तियों के साथ रहने से हमारी इच्छा-शक्ति में बल इस कारण आता है कि स्वभावतः जैसे व्यक्तियों को हम देखते हैं वैसी ही हमारी धारणा बन जाती है। यदि हम देखते हैं कि अधिकतर लोग वैज्ञानिक बन रहे हैं तो स्वभावतः हम भी चाहते हैं कि वैज्ञानिक बनें। यदि हमारे घर के सब लोग व्यापार द्वारा लखपति-करोड़पति हो रहे हैं तो हमारी इच्छा भी स्वभावतः होती है कि व्यापार करें, यदि हमारे घर में सारे ही लोग सरकारी नौकरी करके बड़े ओहदे पर बैठे हुए हैं तो स्वभावतः हमारी प्रकृति हमसे कहती है कि तुम भी सरकारी नौकरी करो। सफल व्यक्तियों को देखकर प्रवृत्ति उसी ओर बढ़ती है। यदि हमारे पिता व्यापार करने में असफल रहे हैं और चाचा सरकारी नौकरी करके आगे बढ़ गये हैं तो हम पिता की तरफ नहीं चाचा की तरफ प्रवृत्त हो जाते हैं। सफल व्यक्तियों को देखकर चित्त में एक दृढ़ता आती है, हमको यह प्रतीति होती है कि हम भी इस मार्ग से आगे बढ़ सकते हैं।

हम भी इस मार्ग से आगे बढ़कर परमेश्वर को प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय तभी होगा जब हम ऐसे व्यक्तियों को देखेंगे जो अपने जीवन में परमेश्वर को ला सके हैं, जिन्होंने अपने जीवन में परमेश्वर का अनुभव किया है। अन्यथा चाहे हम कितना ही सिद्धान्त प्रतिपादन करें, ईश्वर के विषय में विचार करें, पर दृढ़ता नहीं आ पाती। यही हालत शक्ति की है। जब हम अपने चारों तरफ ऐसे लोगों को देखते हैं जिनकी इच्छा-शक्ति बड़ी कमजोर है, थोड़ी सी बात पर ही उनकी इच्छा-शक्ति ढीली पड़ जाती है तो हम सोचते हैं कि अरे, ये लोग इतने सफल व्यक्ति होने पर भी अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं कर पाये तो हम क्या नियन्त्रण कर पायेंगे! इसके विपरीत यदि हम ऐसे व्यक्तियों के समूह में रहते हैं जिनकी इच्छा-शक्ति बड़ी प्रबल है, तो हमारे अन्दर भी एक आदर्श बनता है कि हम भी अपनी इच्छा-शक्ति को ऐसा ही दृढ़ करें। इसलिये कहा 'प्रथमं महतां सेवा'। लेकिन यहां महत्

पद का अर्थ केवल इच्छा-शक्ति की प्रबलता ही नहीं है बल्कि जो स्वयं संश्लिष्ट व्यक्ति (intergated personality) होते हैं वे अपने साथ आने वाले को उन आदर्शों की प्रेरणा भी देते हैं, केवल अपने जीवन से ही नहीं अपितु मार्ग दर्शन द्वारा भी।

हमें अपने जीवन में किसी न किसी मार्ग-दर्शक की आवश्यकता रहती है। पहले इस कार्य को शास्त्रीय परम्परा में गुरु परम्परा से किया जाता था। ईसाइयों के अन्दर उसी को फॉदर कन्फेशर (Father Confessor) कहा जाता है। सूफियों के अन्दर भी ऐसी ही शागिर्द परम्परा थी। हमें जीवन को प्रवाहित करने के लिये, चाहे हम उसे पुरोहित कहें चाहे आचार्य कहें, एक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है। यदि आप कभी अमरीका के विश्व-विद्यालयों में जायें, तो जैसे ही आप विश्वविद्यालय में प्रवेश करेंगे आपके लिये एक प्रोफेसर नियुक्त कर दिया जायगा, वह आपका गाइड (Guide) होगा, आपको बतलायेगा कि आपको क्या विषय लेना चाहिये, किस प्रकार से पढ़ना चाहिये। यदि आपको कोई कठिनाई है तो आप उसके पास जायें, वह आपकी कठिनाई को दूर करके विकास के लिए सत्परामर्श देगा। आपके जीवन की अभिवृद्धि के ऊपर वह दृष्टि रखेगा। वहां के विश्वविद्यालय में यहां तक यह परिस्थिति है कि लड़का गया है डाक्टरी पढ़ने और उसके स्वभाव और प्रकृति को देखकर गाइड साफ कह देता है कि भाई! तू डाक्टरी नहीं रसायन शास्त्र पढ़। अगर केमिस्ट बनेगा तो ज्यादा सफल होगा। तो वे उसकी परिस्थिति का, उसकी विचारधारा का, उसकी मानसिक दृष्टि का अन्वेषण करते हैं। हमारे यहां के विश्वविद्यालयों में यह परिस्थिति कहां है? कोई किसी को बताने वाला नहीं है, न कोई यह पूछने वाला है कि अमुक छात्र की परिस्थिति क्या है। यह मान लिया गया है कि मैट्रिक पास होते ही लड़के को यह पता लग जाता है कि उसे क्या विषय लेना चाहिये, और यदि इस विषय में कोई अन्य निर्णायक है तो वे उसके माता-पिता हैं, जिनको शायद मनोविज्ञान के विषय में उतना भी ज्ञान नहीं है जितना बच्चे को स्वयं अपने विषय में है। वे क्या देखते हैं? अमुक आदमी अमुक विषय को पढ़ कर बड़े पद पर पहुँच गया है मेरा लड़का भी ऐसा ही बन जाये। यह कभी नहीं विचार करते कि उनके लड़के में वह शक्ति भी है या नहीं, क्यों कि उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण नहीं करते। माता-पिता की

गलती इसमें नहीं है। क्योंकि वे मनोवैज्ञानिक नहीं हैं वे केवल अपने पुत्र का हितचिंतन कर सकते हैं लेकिन उसको समझ नहीं सकते, क्योंकि ऐसा करने की शक्ति नहीं है।

न हमें विश्वविद्यालयों में मार्गदर्शक मिलता है न जीवन में। होता क्या है ? हम अपने आदर्श की एक मूर्ति (Ideal) बनाते जाते हैं, फिर उसको तोड़ते जाते हैं। अपने जीवन का विश्लेषण करके आप स्वयं देख सकते हैं कि बचपन से लेकर अब तक न जाने कितने व्यक्तियों को आपने आदर्श माना होगा। बहुत से मरे हुए व्यक्तियों को आदर्श माना होगा और बहुत से जीवित व्यक्तियों को। अपने मास्टर को माना होगा, अपने प्राध्यापक को, अपने उच्च अधिकारी या अपने नेता को माना होगा। अनेक लोगों को आपने अपने जीवन का आदर्श बनाया होगा, और जैसे-जैसे विचार पकता गया आपके मन में यह विश्वास होता गया कि यह मूर्ति मेरे लायक नहीं है। मैं इसको जैसा समझता था वैसा नहीं है। एक मूर्ति टूटती है, दूसरी बनती है, दूसरी टूटती है तीसरी बनती है। हमारे जीवन का आदर्श ही निश्चित नहीं हो पाता। परिणाम यह होता है कि जीवन का अन्तिम काल आ जाता है और हम यह नहीं जानते कि हम पहुंचना कहां चाहते हैं।

जब हमें यही पता नहीं कि हमें पहुंचना कहां है तो यह सम्भव कैसे हो सकता है कि हम अपने जीवन का निर्माण कर सकें। इसके मूल में एक भ्रान्त धारणा है। प्रत्येक व्यक्ति यह कहने लग गया है कि मैं अपने में पूर्ण हूँ। वह किसी की राय सुनना पसन्द नहीं करता क्यों कि उसके अन्दर यह भ्रान्त धारणा है कि मैं सर्वथा समर्थ हूँ। इस सर्व-समर्थता में सबसे ज्यादा भ्रान्ति पुस्तकों से आई है। धर्म के विषय में हम दो चार पुस्तकें पढ़ लेते हैं तो धर्म के विषय में बोलने लग जाते हैं। आपस में वाद विवाद करने लग जाते हैं। संभवतः धर्म के एक मूल ग्रन्थका भी अध्ययन हमने नहीं किया होगा। बहुत बार लोग पूछते हैं धर्म में यह खराबी है, धर्म में वह खराबी है। हम उनसे प्रायः पूछा करते हैं, तुमने धर्म के विषय में कौन ग्रन्थ पढ़े ? कम से कम चार वेद तो पढ़ ही लिये होंगे, उन्हें जाने दो, दस उपनिषदें तो पढ़ ही ली होंगी, चलो उन्हें भी कम से कम जाने दो, गीता का तो अध्ययन कर ही लिया होगा। वे कहते हैं नहीं महाराज ! यह तो मैंने कुछ नहीं पढ़ा ! तो भाई !

तुम क्या धर्म की खराबी बतलाते हो ? वह गिनने लगता है; 'मन्दिरों में यह होता है, अमुक जगह यह होता है'। हम कहते हैं कि यदि तुम इन्हीं बुराइयों के व्यवहारों को देख कर धर्म के सिद्धान्त का खण्डन करना चाहते हो तो जितने भी व्यापारी हैं सब चोर हैं, क्योंकि हम सौ व्यापारियों के नाम गिना सकते हैं जो दाम ज्यादा लेते हैं; तो क्या इससे यह नतीजा निकलेगा कि व्यापार करना कल से बन्द कर दिया जाय ? व्यापार का सिद्धान्त ठीक है, उसका पालने करने वाले गलती कर सकते हैं। तुम पहले धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन करो। क्या सिद्धान्तों का अध्ययन करके इस निर्णय पर आये कि धर्म में गलती है ? यदि दूसरा निर्णय हो कि धर्म में गलती नहीं है, उस के पालन करने वालों में गलती है तो पालन करने वालों के संशोधन का रूप निकालना पड़ेगा; इसमें स्वयं को शुद्ध करना पड़ेगा एवं शुद्धि लाने के लिये मनुष्य तैयार नहीं है।

कुछ दिन पूर्व एक बड़े बैंक के कार्यकर्ता हम से बोले मन्दिरों में क्या जायें, वे तो बड़े गन्दे हुआ करते हैं; तो उनकी सफाई के लिये यत्न करें, कहने लगे मुझे समय पर लोग मदद नहीं करते। तब हमने उन्हें अपना आश्रम दिखलाया और पूछा क्या तुमको यहां भी गन्दगी नज़र आती है। बोले, नहीं स्वामी जी ! यहां का मन्दिर तो अच्छा है। हमने कहा तो फिर आप रोज़ यहां आया जाया करो। तो बोले कि यह बड़ा दूर पड़ता है। अब विचार करिये। 'यह बड़ा दूर पड़ता है' कहना ही इस बात को बतला रहा है कि आपको किसी मन्दिर में जाना नहीं है न आपको किसी मन्दिर की सफाई से प्रेम है। आपको तो किसी मन्दिर में जाना नहीं है बल्कि उसके लिये कारण ढूंढना है। चाहे आप उसमें कभी दूरी का कारण ढूंढें, कभी गन्दगी का अथवा कभी हल्ले का।

संसार में क्या कोई भी स्थल ऐसा है जहां कोई भी दोष न हो। निर्दुष्ट पदार्थ तो संसार में परमेश्वर को छोड़ कर और कोई है ही नहीं, बाह्य पदार्थों में कोई न कोई दोष अवश्य रहेगा। यदि आप दोष की दृष्टि लेकर चलेंगे तो कभी भी आगे नहीं बढ़ सकते। हम यही करके अपने जीवन को खराब कर लेते हैं और हमारे जीवन में पूर्णता नहीं आ पाती। इसलिये हमको यदि मानव बनना है तो अपने सामने आदर्शों को लाना पड़ेगा और 'प्रथमं

महतां सेवा तद्दया पात्रता ततः' से वह आदर्श ही यहां पर बतलाया गया। जब हम महापुरुषों के साथ रहेंगे तब हमारे जीवन में यह चीज आयेगी। महापुरुषों के अन्दर एक बड़ी विलक्षणता होती है उनका दृष्टिकोण महत् होता है। उनके हृदय के अन्दर हमेशा क्षमा का प्रवाह रहता है। महापुरुषों के पास जाकर कभी यह नहीं समझना चाहिये कि वे हमको छोटा अनुभव करने को देंगे। वे तो हमेशा आपको आगे बढ़ायेंगे आपके गुणों की तरफ दृष्टि करेंगे। इसको कहा जाता है Receptive attitude एक इस प्रकार का मानसिक चिन्तन जिससे हम दूसरे की भलाइयों को अपने अन्दर ग्रहण कर सकें, बुराइयों को नहीं। यही सत् जन और असत् जन में फरक है।

इस समय हम परमेश्वर के विषय में नहीं कह रहे हैं, सामान्य सज्जन और असज्जन में क्या भेद है? सज्जन वही है जो गुणों का संग्रह कर सके और असज्जन वह जो दूसरे के दोषों की दृष्टि कर सके, दूसरे के अन्दर जितने दोष सम्भव हैं उन्हें निकाल सके और समझे कि मैंने बड़ी भारी विजय की है।

एक स्थान पर महाभारत की कथा कई साल तक सुनाने के बाद सुनाने वाले महात्मा ने एक प्रतिदिन सुनने वाले परिवार के सदस्यों से अलग-अलग पूछा कि तुमने इसमें क्या समझा? तो उस घर की बेटी बोली, मैंने तो यह समझा कि पाँच पति करने वाली भी पतिव्रता हो सकती है! मेरे पिताजी का दबाव है तू एक ही पति से विवाह कर, और मेरे सामने कालेज में कई लड़के आते हैं। तो मेरी समस्या तो हल हो गई कि मैं द्रौपदी की तरह पतिव्रता बनूँगी। महात्मा ने इसके बाद सेठ जी से पूछा कि उन्होंने क्या समझा। वे बोले मेरे एक छोटे भाई हैं जिनके साथ झगड़ा चल रहा है। मेरी पत्नी मुझ से अक्सर कहती है कि इनको ही अधिक ले लेने दो क्यों झंझट को आगे बढ़ाते हो, तो मैंने तो दुर्योधन की यह बात सीखी कि 'सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन यावद्भिद्यति मेदिनी तावदपि न दास्यामि विना युद्धेन केशव' कि सुई की एक नोक चुभाने लायक जमीन भी यदि युधिष्ठिर माँगता है तो मैं नहीं दूंगा। तो अब मैं भी कभी समझौता करने को तय्यार नहीं हूं, यह मैंने दुर्योधन से सीखा। महात्मा ने सोचा कि इतनी मिहनत से मैंने महाभारत की कथा

सुनाई और इन लोगों ने अच्छी शिक्षा ली। कहने लगे भाई! मैं धन्य हो गया, अब मेरा निर्णय यह है कि ऐसे जंगल में जाकर रहूंगा, जहां मनुष्यों की कथा न सुनानी पड़े।

विचार कीजिये, वहां नल दमयन्ती की भी कथा सुनाई गई और महाभारत ही में सती सावित्री की भी कथा आती है; लेकिन जिसको जो दोष चुनने थे वही चुन लिये गये बाकी सब परित्यक्त कर दिये गये। यही होता है जीवन के अन्दर। जो दोष-दृष्टिवाला होता है वह जहां जाता है दोष ही लेकर आता है उसी का नाम है असज्जन, सज्जन वह है जो सद् विषयक वार्ताओं को या गुण को ग्रहण करे। ऐसे ही महान्‌पुरुषों का संग हमें आगे बढ़ा सकता है। जब हम उनकी सन्निधि में जाते हैं तो वे हमें एक दृष्टि से अपनाते हैं, हमारे गुणों को देखते हैं। यदि हम किसी को बार-बार बुरा बताते हैं तो उसके मन में एक हीन भावना आ जाती है। मनोवैज्ञानिक लोग इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। वह समझने लगता है कि यदि मैं बुरा ही हूं तो अच्छा बनने के लिये प्रयत्न क्यों करूं, इसके विपरीत यदि उस पर गुणों का आरोप किया जाता है और उससे कहा जाता है कि तू ऐसा व्यक्ति होकर के ऐसा काम कैसे कर सकता है, तो क्या होता है? अर्जुन इसी स्थिति में पहुंच गया था और उसने हथियार डाल दिये थे। कहता है, मैं युद्ध करूंगा ही नहीं, किसी हालत में नहीं। यहां तक घबरा गया है कि कहता है, मेरी चमड़ी जल रही है, मेरा सारा शरीर घबरा रहा है, सिर में चक्कर आ रहा है। भगवान् उससे यह नहीं कहते कि अर्जुन्! तू नालायकी कर रहा है, क्यों इस प्रकार घबरा गया? क्या कहते हैं? 'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन'। अर्जुन्! तू तो बड़े अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ है, तू तो आर्य है, यह क्या अनार्यों की जैसी बात कर रहा है। तू तो स्वर्ग के योग्य है, तू इस समय स्वर्ग में न जाने लायक की सी बातें कर रहा है। तेरी कीर्ति तो दिग्दिगन्त में फैली हुई है, यदि योद्धा है तो अर्जुन है 'पार्थ एव धनुर्धरः' आज तू इस प्रकार की बात कर रहा है तो तेरा क्या हाल होगा? उसकी कीर्ति के ऊपर जोर देते हैं, उसकी आर्य कुलोत्पत्ति पर जोर देते हैं, उसका जो प्राप्तव्य स्वर्ग है उस पर जोर देते हैं; तो यह दृष्टि होती है जब हम महापुरुष के पास जाते हैं। वह स्वभावतः हमारे गुणों को आगे बढ़ाता है, गुणग्राही होता है।

महान् पुरुष के अन्दर एक और विलक्षणता होती है। वह कभी भी जोर देकर किसी को किसी चीज में प्रवृत्त नहीं कराता। यह भारी गलती माता पिता भी कर जाते हैं और दूसरों को मार्ग दर्शन करानेवाले कई अन्य लोग भी कर जाते हैं कि वे दूसरों के ऊपर अपने विचारों को थोपना चाहते हैं, हम दूसरों को जबर्दस्ती अच्छा बनाना चाहते हैं। इस जबर्दस्ती से कोई अच्छाई पैदा नहीं होती। संस्कारों के प्रवाह को जब तक आप बदल नहीं सकेंगे, जब तक आप उसकी इच्छा का शोधन नहीं कर सकेंगे, तब तक उसको जबर्दस्ती मार-पीट कर भला बनाने से कोई लाभ नहीं होगा। प्रायः लोग इस गलती को करते हैं। समझते हैं हम जबर्दस्ती किसी को अच्छे मार्ग में प्रवृत्त कर देंगे। नतीजा यह होता है कि समय आने पर जब वह अपनी इच्छा के अनुकूल आचरण करने लगता है तो उस काल में वह अपने से बड़ों के ठीक विपरीत चला जाता है। हमारे बालकों में अपराध की प्रवृत्ति के बढ़ने का कारण विद्रोह की भावना है। बड़े धार्मिक लोगों के पुत्र नास्तिक-शिरोमणि बन जाते हैं। ऐसा पहले भी होता था। हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद हुआ और कश्यप के पुत्र दैत्य हुए। महान् पुरुष एक ओर तो तुम्हारे गुणों के ऊपर जोर देकर गुण-जन्य संस्कारों को आगे बढ़ाते हैं दूसरी ओर वे हमेशा आदर्शों की ओर प्रेरणा देते हैं जिसे अंग्रेजी में Directive कहते हैं। Directive दो प्रकार की होती है, एक तो आज्ञा मूलक दूसरी प्रेरणा मूलक। तो वे दूसरे प्रकार की, केवल प्रेरणा देने वाली, अनेक चीजों को समझाते हैं, और इस बात पर बल देते हैं कि तुम्हें हिताहित का पथ बता दिया गया अब 'येनेष्टं तेन गम्यताम्' जो इसमें से इष्ट हो, जो तुम्हारी इच्छा का विषय हो उसके अनुसार ही तुम चलो।

भगवान् ने अर्जुन को इतना बड़ा उपदेश दिया, यहां तक कि अपना विराट् रूप भी दिखला दिया लेकिन यह कभी नहीं कहा कि अर्जुन! मैं तुझ से कहता हूं इसलिये ऐसा करले। अन्त में उससे यही कहते हैं, 'यथेच्छसि तथा कुरु' तू उसी क्रिया में प्रवृत्ति करना जिसमें तेरी इच्छा उत्पन्न हो गई हो। महापुरुष किसी पर बल से अपनी विचारधाराओं का प्रवाह नहीं डालते, धीरे-धीरे संस्कारों का परिवर्तन करते हैं, क्यों कि उनके हृदय में क्षमा का भाव है, धैर्य है। धैर्य एक बहुत बड़ा गुण है जो हमारे अन्दर से

निकलता चला जा रहा है। मनु ने धृति को प्रधान धर्म बतलाया था। हम चाहते हैं चीजें बड़ी जल्दी हो जायें।

हम एक बीज बोते हैं और छै महीने तक बाट देखते हैं कि इसमें से एक पौधा पैदा होगा। आप आम के बीज बोते हैं। सम्भवतः यदि आप सौ बीज बोते हैं तो अस्सी ही पैदा होते हैं बीस बीज शायद सूख जाते हैं। फिर भी आप सबको खाद देते हैं, सबको जल देते हैं, और तीन साल तक इस बात की बाट देखते हैं कि ये अन्त में जाकर फल बनेंगे। आप कभी जल्दबाजी नहीं करते। यदि जल्दबाजी करेंगे तो क्या कभी पौधा उत्पन्न हो सकेगा?

बन्दर की आदत होती है नकल करने की। एक बार बन्दरों ने विचार किया कि हम भी खेती करें तो बड़ी अच्छी सुविधा हो जाय, जगह-जगह जाकर डण्डे खाने न पड़ें। वे कहीं से चुरा कर गेहूँ ले आये। एक अच्छी जमीन भी देख कर खोदी और उसके अन्दर बीज भी डाल दिया। पर बन्दर के अन्दर मनुष्य की तरह धृति नहीं होती। धैर्य तो मानव का गुण है। बीज डालने के दो चार घंटे बाद ही सोचने लगे कहीं चींटी न खा गई हों, जरा देख तो लेवें, फिर से खोदा फिर से बीज को बाहर निकाला, देखा कि सुरक्षित है, फिर गाड़ दिया। घण्टे दो घण्टे बाद फिर गये, फिर उसको उखाड़ा, फिर देखा बीज सुरक्षित है, फिर गाड़ दिया। बताइये, कभी वह बीज इस प्रकार वृक्ष के रूप में जमने वाला है? वह तो वृक्ष तभी बनेगा जब आप उसको छोड़ देंगे।

बहुत सी मातायें जिनको दही जमाना नहीं आता दूध को गरम करती हैं, जामन डालती हैं, फिर घण्टे भर बाद जाकर देखती हैं कि दही जमा या नहीं। नतीजा क्या होता है? घर में दही खाने को नहीं मिलता। क्यों कि उसको बराबर हिलाया जा रहा है। जब तक उसको छोड़ नहीं देंगे तब तक जमेगा नहीं।

ठीक इसी प्रकार महापुरुष, जो होते ही धैर्य वाले हैं, कभी किसी के संस्कारों पर अपने संस्कारों को थोपते नहीं। वे केवल एक निर्देश मात्र करते हैं, जिसके अनुसार धीरे-धीरे उसके संस्कार बदलें। यदि देखते हैं कि अति दीर्घ काल लग रहा है तो भी उनके अन्दर अधैर्य नहीं होता। उनका तो यह सिद्धान्त होता है 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी।' काल की तरह

पृथ्वी की भी कोई सीमा नहीं है। ऐसा नहीं कि इन दस आदमियों को ही हमें अच्छे रास्ते पर लगाना है। हमारी कोई सीमा नहीं है।

महान् पुरुष के अन्दर धैर्य के दो कारण हैं। वह सारे संसार को दृष्टि में रखते हुए सोचता है कि यदि इन असंख्य जीवों में से एक भी जीव एक क्षण के लिये भी आगे बढ़ रहा है तो मैंने काफी कार्य कर लिया। इसलिये उसके मन में अधीरता नहीं आती, यह नहीं सोचता कि मेरे जीवन का अन्त आ रहा है, मैंने कुछ किया ही नहीं। यह दृष्टि कभी उसके मन में बनती ही नहीं। उसकी दृष्टि सदा पूर्णता की रहती है। वह नित्य तृप्ति और नित्य सन्तोष का अनुभव करता है। इस धैर्य के कारण चाहे जैसा व्यक्ति हो धीरे-धीरे उसकी दृष्टि बदलने लगती है। क्यों कि कैसा ही मानव हो, कितना ही हीन और नीचे गिरा हुआ हो, उसके अन्दर उस आत्मा की चमक अवश्य रहती है। इसलिये जब वह आत्मा की चमक देखता है तो आकृष्ट होता है, यह दूसरी बात है कि वह उसमें निरन्तर न लग सके। उधर की तरफ प्रवृत्त होने के लिये जो कीमत चुकानी पड़ती है उसको चुकाने के लिये वह तैयार न हो, तो उसके संस्कारों का प्रवाह इतना तीव्र है कि इच्छा करने पर भी वह हिल डुल जाता है, लेकिन जब देखता है तो उसकी तरफ खिचता अवश्य है।

सामान्य रूप से यदि आप किसी मनुष्य को देखते हैं कि उसके अन्दर हमेशा एक तृप्ति और सन्तोष रहता है तो आपके मन में अवश्य यह भाव आता है कि इसके पास कौन सी ऐसी चीज है जिसके कारण यह नित्य तृप्ति और नित्य सन्तोष का अनुभव करता है ? यह भावना इस कारण आती है कि आप स्वयं तृप्ति और सन्तोष को चाहते हैं, इनके लिये ही आप प्रवृत्ति कर रहे हैं, इसलिये जहां कहीं भी उसका परिस्फुटन देखते हैं, वहां आपके अन्दर अवश्यमेव आकर्षण आ जाता है। लेकिन संस्कारों के प्रवाह के कारण हमारा आकर्षण टिक नहीं पाता।

जब हम महापुरुषों की परिचर्या करते हैं, उनके साथ रहते हैं, तो उनके इस धैर्य के बल से, उनकी क्षमा के बल से, उनके निर्देश के बल से धीरे-धीरे हमारे संस्कारों का प्रवाह बदलने लगता है। हमको पता ही नहीं लगता हम कहां से कहां पहुंच गये। प्रायः उत्तम साधक और मध्यम साधकों में एक भेद देखने में आता है। अनेक प्रकार के साधकों के साथ सम्बन्ध होने पर इन

विषयों का पता लगने लगता है। उत्तम साधक के मन में हमेशा यह भावना होती है कि मैं तो अभी कहीं पहुंचा ही नहीं, जहां हूँ वहीं रह गया। जो मध्यम साधक होता है उसके मन में आता है कि मैं बड़ी उन्नति कर रहा हूँ। निश्चय समझिये कि जब यह मन में आता है कि मैं उन्नति कर रहा हूँ तो वह इस बात को बतला रहा है कि उन्नति नहीं हो रही है, क्यों कि एक विलक्षण बात है कि यदि आपका शरीर पुष्ट हो रहा है तो आपको कभी पता नहीं लगेगा कि मेरा शरीर पुष्ट हो रहा है। लेकिन यदि शरीर स्थूल हो रहा है तो आपको पता लगने लगता है कि शरीर भारी हो रहा है। स्थूलता में केवल वजन बढ़ता है, लेकिन पुष्टता होने पर कुछ पता ही नहीं चलता। ठीक यही हालत साधक की होती है। यदि केवल वह बाहर की बातों को स्वीकार करले तो वे उसके जीवन का या संस्कारों का अंग नहीं बन पातीं। उसको भार मालूम पड़ता है और वह समझता है कि मैं आगे बढ़ रहा हूं। लेकिन वह आगे नहीं बढ़ रहा है। कई साधक अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि कुछ समय तक तो उनकी साधना में निरन्तर प्रगति हो रही थी पर अचानक वह अवरुद्ध हो गई है। या कई अन्य लोग कुछ काल तक नियम पूर्वक जप, ध्यान इत्यादि करके उसे एक दम बन्द कर देते हैं और कहते हैं कि सब देख लिया, इस सब में कुछ सार नहीं है।

जैसे पुष्टि का तात्पर्य होता है कि हम भोजन को पचा कर, उसको परिवर्तित कर अपना स्वरूप बना लेते हैं, वह केवल बाह्य वजन मात्र नहीं रह पाता, ठीक उसी प्रकार जब हम नवीन विचारधाराओं को लेकर अपनी विचारधाराओं में उन्हें परिवर्तित कर देते हैं तो वे हमारे लिये संस्कार बन जाते हैं। जब तक आप किसी बात को केवल इसलिये मानेंगे कि स्वामी जी कह रहे हैं, या गीता कह रही है तब तक वह आपके विचार नहीं बन पायेंगे। वह गीता के ही विचार रह जायेंगे। समय आने पर वह अवश्य धोखा दे जायेंगे। लेकिन यदि आपने उन का चिन्तन-मनन किया है, उनके ऊपर बड़ी दीर्घ दृष्टि से विचार किया है तो आपकी एक दृष्टि बन जाती है, फिर आपको यह स्मरण नहीं रहता कि गीता का विचार क्या है, उपनिषद् का विचार क्या है, वह विचार आपके अन्दर दृढ़ हो जाता है, इसी लिये शास्त्रों के बार बार मनन के ऊपर जोर दिया गया है, केवल श्रवण के ऊपर नहीं। सुनने के बाद उस पर विचार करो, मनन और युक्ति के द्वारा

अपने अनुभव से मिलाओ। हम प्रायः अपनी इच्छा-शक्ति को ज्ञान-शक्ति के अनुसार इसलिये नहीं बना पाते कि हम केवल एक प्रकार की फाइल बन जाते हैं, जिसके अन्दर अनेक प्रकार के कागज रखे हुए हैं, जब जिस कागज की जरूरत पड़ी निकाल लिया।

विचार के क्षेत्र में भी ठीक यही बात है, कि प्रत्येक विषय में हमारा ज्ञान तो है (informative knowledge) लेकिन समन्वयात्मक ज्ञान (integrated knowledge) नहीं है। हमारे मन के अन्दर भिन्न भिन्न विचारधारायें है। हम यह जानते हैं कि अमुक यह मानता है और अमुक वह मानता है। हम यदि अर्थ शास्त्र (Economics) और समाज शास्त्र (Sociology) का अध्ययन करते हैं तो अत्यन्त विरोधी बातें दोनों पुस्तकों में पढ़ लेते हैं; भौतिक शास्त्र (Physics) और रसायन शास्त्र (Chemistry) का अध्ययन करते हैं तो दोनों के अन्दर अत्यन्त विरुद्ध बातें पढ़ाई जाती हैं; और कोई प्रश्न पूछता है तो तुरन्त उत्तर भी दे देते हैं कि रसायन शास्त्र यह कहता है, और भौतिक शास्त्र यह। उन शास्त्रों में तो यह कहा है पर तुम्हारे मस्तिष्क में क्या है? शून्य, कुछ भी नहीं! जब यह स्थिति है तो वह ज्ञान हमारी इच्छा नहीं बन पाता, हमें प्रवृत्त नहीं करा पाता।

हमको महान् पुरुष के साथ रह कर उनके विचारों को ग्रहण करना है ताकि वह उनके विचार न रह जायें, नहीं तो वह हमें स्थूलता देंगे। तभी तो हमें अपनी उन्नति मालूम पड़ेगी! जैसे स्थूल शरीर वाले को पता चलता है कि मैं फूल गया हूँ, वैसे ही जब हम अनेक प्रकार के विचारों को एकत्रित कर लेते हैं तो मालूम पड़ता है कि आगे बढ़ रहे हैं क्योंकि हम बोझ से दबे जा रहे हैं; लेकिन जब विचार करते करते वे विचार हमारे अंग बन जाते हैं, हम उनको ठीक समझते हैं तो वे हमारी पुष्टि का कारण बन जाते हैं। फिर हमको पता ही नहीं चलता कि हमारे विचार बढ़ रहे हैं। हम तो समझते हैं कि हम जहां हैं वहीं हैं, आगे नहीं बढ़ रहे हैं।

यह बहुत सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की चीज है। हम श्रवण करते हैं, श्रवण का अर्थ केवल सत्संग सुनना ही नहीं है। ग्रन्थों का अवलोकन

करते हैं, लेकिन वह सारे ही विचार हमारे सामने रह जाते हैं, उन्हें हम अपना नहीं पाते; इसीलिये शास्त्र ने कहा कि यदि ज्ञान से हमको इच्छा में जाना है तो उस ज्ञान को परिपुष्ट करना पड़ेगा, उसको अपना स्वरूप बनाना पड़ेगा। हमसे जब तक वह भिन्न रहेगा तब तक हमको आगे बढ़ाने में प्रवृत्त नहीं कर सकेगा।

'महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः' में दयापात्रता के द्वारा यही बताया कि महान् व्यक्ति अपनी शान्ति, क्षमा, धृति के द्वारा हम को आगे बढ़ाते हैं; हमको निर्देश देते हैं। वह निर्देश धीरे-धीरे दृढ़ होते चले जाते हैं और अन्ततोगत्वा हम पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं।

लेकिन जब हम किसी महापुरुष के पास जाते हैं तो उसके साथ ही विरोधी संस्कार भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः हमें इस बात की बहुत आवश्यकता रहती है कि किसी न किसी प्रकार से उनसे आकृष्ट हों। यह एक बड़ी विलक्षण चीज है, पर है सत्य, कि यह नियम नहीं है कि मनुष्य केवल अच्छी ही चीज से आकृष्ट हो। किसी व्यक्ति का पहनावा, मुख की आकृति, सामाजिक स्थिति, भावभंगी, गायन कला, उसके दार्शनिक सिद्धान्त आदि कई बातें आकर्षण के केन्द्र बन सकते हैं। पर ये सब उसकी आध्यात्मिकता के द्योतक नहीं हैं। अत्यन्त मामूली चीजें भी मनुष्य को आकृष्ट कर लेती हैं। बहुत से आदमी किसी से केवल इसलिये मिलने जाते हैं, या मिलना चाहते हैं कि वह अच्छे कपड़े पहनता है। यहां कोई बुराई नहीं है, पर आकर्षण का केन्द्र अति स्थूल विषय हो जाते हैं। लेकिन यदि उस आकर्षण के केन्द्र से किसी प्रकार हमको उस महापुरुष के साथ संग हो गया तो हम आगे बढ़ सकेंगे, अन्यथा नहीं।

इसीलिये ताकि वह हमारे आकर्षण का केन्द्र हो, हमको अपने संस्कारों का परिष्कार स्वतः पहले करना पड़ेगा। आगे के संस्कार तो वह परिष्कृत कर लेगा, परन्तु उसके पास जाने के लिये, अपना आदर्श बनाने के लिये हमको अपना परिष्कार करना पड़ेगा। यदि हम सांसारिक सफलता को ही आदर्श रूप से सामने रखेंगे तो वहां से हमको कभी शान्ति या तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकेगा। वह तो तभी होगा जब हम अपने आदर्श में इस प्रकार का परिष्कार लायेंगे, इस प्रकार के व्यक्ति के साथ सम्बन्धित

होंगे, जिसके अन्दर वह तृप्ति और शान्ति है। इसीलिये आदर्श का केन्द्र बनाते समय हमें बहुत सावधान होना पड़ेगा। इसी को लौकिक भाषा में कह दिया करते हैं 'भाई पानी पीना छान कर, और गुरु करना जान कर', ये सीधी सादी कहावतें हैं पर इनके अन्दर भाव बड़ा गूढ़ है।

गुरु कहते किसको हैं? मार्ग-दर्शक को ही गुरु कहा जाता है। जब तुम मार्ग-दर्शक को अपनाओ, क्योंकि उसके ऊपर तुम्हें अपने जीवन का आधार बनाना है, तो वह चाहे जीवित हो, चाहे मृत, चाहे कोई ग्रन्थ हो—यह नहीं कह रहे हैं कि किसी पुरुष को ही अपना मार्ग-दर्शक बनाओ, कोई ग्रन्थ भी मार्ग-दर्शक हो सकता है—लेकिन केवल उस ग्रन्थ की भाषा से आकृष्ट होकर उसे मार्ग-दर्शक नहीं बना लेना। उसके विचारों को देखना पड़ेगा, यह समझना पड़ेगा कि जो आकर्षण यह हमारे सामने रख रहा है उसकी पूर्णता में हम पूर्णता का अनुभव करेंगे; इस दृष्टि को लेकर जब हम पढ़ेंगे तभी हमारी 'महतां सेवा' हो सकेगी, तभी 'तद्दयापात्रता' आ सकेगी, और उसी हालत में यह सम्भव हो सकेगा कि हमारा जीवन एक नवीन रूप ले और हम एक नवीन दृष्टि से आगे बढ़ सकें।

हमें ज्ञान को इच्छा में लाना है। इच्छा का परिशोधन करना है। इच्छा का परिशोधन तभी हो सकता है जब संस्कारों का प्रवाह बदले। संस्कारों का प्रवाह तभी बदल सकता है जब धैर्य तथा क्षमा के द्वारा हमें संस्कारों का निर्देश मिले। हमको यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि हमने जीवन का एक नया कदम उठाया है, यह हमको दूसरी तरफ ले जाने वाला है। यह बहुत समझने की चीज है। इसके ऊपर जोर देना चाहिये।

यदि हम इसी के ऊपर डटे रहेंगे कि हम बड़े पाप करने वाले हैं तो हम कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। हमको तो यह पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि जब हम जीवन में एक नवीन प्रणाली अपना रहे हैं तो उस प्राचीन जीवन का परित्याग कर दिया। अब इस नवीन दृष्टि को लेकर ही आगे चलना है, उसके आदर्श के अनुरूप ही हमें बनना है। आप किसी गलत स्कूल में पढ़ चुके हैं, ठीक है। लेकिन अब जिस कालेज में आप भर्ती हुए हैं वह तो प्रथम श्रेणी का कालेज है। क्या आप सदा बैठ कर यही रोना रोते रहेंगे कि हमारा स्कूल बहुत बुरा था? उस स्कूल से तुम अब कालेज

में आ गये। उस स्कूल की चिन्ता छोड़ो। इसी प्रकार पहले हमने गलतियां कीं, हमसे अपराध और दोष हुए तो वह गलत स्कूल था। अब तो उस स्कूल को छोड़ दिया। नये स्कूल में आकर उन्हीं पुरानी बातों का चिन्तन क्यों करते हो, उन्हीं संस्कारों की दृढ़ता क्यों लाते हो? क्षमा और धैर्य के द्वारा, निर्देश के द्वारा धीरे धीरे इस प्रकार का मार्ग दर्शन होना है जिससे हम अपने जीवन का नवीन निर्माण कर लेते हैं।

ज्ञान को इच्छा रूप में तभी परिणत कर सकेंगे जब इस प्रकार महान् पुरुषों का सङ्ग करेंगे। महान् पुरुष वे हैं जिनके अन्दर तृप्ति और सन्तोष की पूर्णता उपलब्ध होती है। उनके साथ सत्संग करने का तरीका क्या है, इस पर आगे विचार करेंगे। यहां मोटी दृष्टि से तरीका बतलाते हैं।

जो कुछ भी श्रवण किया जाय उस को मनन के द्वारा अपना बना लें। यदि अपना नहीं बना सके तो हाथ जोड़ कर उनको वापस दे दें और कहें कि यह जो आपका अन्न का अंश था, यह आपकी शिक्षा का अंश हमारे अनुभव से मिलता नहीं है, अतः आप उसको वापस ले लीजिये। उसको वापस ही देना श्रेयस्कर है, क्योंकि अपने आपको बिना मतलब के अनेक ज्ञानों से भर लेने में श्रेय और कल्याण नहीं है। केवल कई चीजों को याद करना ही धार्मिक बन जाना नहीं है। यह तो जीवन परिवर्तन है, दृष्टिकोण का परिवर्तन है। लोग सुन लेते हैं, समझ लेते हैं, उनके मन में वह जंचता भी नहीं, फिर भी न उसे वापस करते हैं न उसके ऊपर आगे विचार ही करते हैं। तब वह सारा सुना हुआ व्यर्थ हो जाता है।

एक महात्मा थे। वे बार बार तत्त्व का उपदेश किया करते थे। महात्मा उपदेश ही क्या देंगे? हम प्रायः लोगों से हमेशा कहा करते हैं कि हमको केवल दो बातें सुनानी हैं, तीसरी बात हमारे पास सुनाने को है ही नहीं। पहली यह कि तुम परमेश्वर की ओर बढ़ो। यह पहली बात हो गई। परमेश्वर की तरफ तुम तब बढ़ पाओगे जब अपनी बुरी आदतों को छोड़ दोगे। इसके सिवाय तीसरी बात कुछ कहने को है नहीं। घुमा फिरा कर यही बात कहनी है। तो महात्मा बार बार वही शिक्षा दिया करते थे। एक व्यक्ति ऐसा था जो जहां कहीं वे कथा करने जायें वहां उनके प्रवचन सुनने जाया करता था। एक दिन उससे न रहा गया। बोला, स्वामी जी! मैंने आपके प्रवचन अनेक जगह सुने हैं, आपमें पुनरुक्ति का दोष है। आप

उन्हीं चीजों को फिर फिर सुनाते रहते हैं। स्वामी जी बोले, भाई ! मुझ में पुनरुक्ति का दोष अवश्य है, पर वह इस कारण है कि तुममें बहरेपन का दोष है ! वे बोले, नहीं स्वामी जी मैं बहरा नहीं हूं, मैं तो सब जगह सुन रहा था। स्वामी जी बोले यदि एक भी व्यक्ति मेरी बात को सुन कर गया होता और उसके अनुसार आचरण कर लिया होता तो आज वह मेरी जगह प्रवचन करता होता और मैं जाकर जंगल में बैठ गया होता। फिर मेरी अपेक्षा नहीं रहती।

यह विचार की चीज है कि शास्त्रों में बार-बार पुनरुक्ति आती है। कथा एवं सत्संग में पुनरुक्ति आती है। बहुत बार लोग कह भी देते हैं, वहां कथा में और क्या बतायेंगे, यही कहेंगे सत्य बोला करो, दूसरे की हिंसा मत किया करो, अच्छा काम किया करो। यह सब तो हम भी जानते हैं। लोगों के मन में गर्व है कि वे भी किताब पढ़े हुए हैं। समझते हैं कि हम धर्म को समझ गये हैं, फिर जाकर सुनने की क्या जरूरत है ? जरूरत इसलिये है, कि उनसे पूछो 'यदि तुम धर्म को जानते हो तो तुमने इसका पालन क्यों नहीं किया' ? कहेगा कि, क्या बतावें जानते तो हैं पर उसके अनुसार जीवन परिवर्तित नहीं कर पाते ! इसका कारण महत् पुरुष के संग का अभाव है। यदि संग मिल जाय और मनुष्य श्रवण-मनन में लगे तो वह जीवन के अन्दर एक नवीनता ले आयेगा। जीवन की उस परिवर्तनावस्था में मनुष्य की इच्छायें सर्वतोभावेन शुद्ध होकर उसको आगे ले जायेंगी।

इस परिवर्तन के लिये कैसे प्रयास किया जाय इस पर आगे विचार करेंगे।

संगवाद की ओर

तैत्तिरीय उपनिषद के ॐ शं नो मित्रः शं वरुण, शं नो भवत्वर्यमा' इस मंत्र पर विचार करते हुए बतलाया था कि शं का अर्थ व्यष्टि और समष्टि दृष्टि से कल्याण है। समष्टि परमेश्वर की तरफ हमारी दृष्टि का क्या स्वरूप होना चाहिये, इसे स्पष्ट करते हुए यह मंत्र कहता है कि विश्व कल्याण के अधिष्ठाता परमेश्वर की तरफ हमारी दृष्टि मित्र भावना की होनी चाहिये। सखा दृष्टि से ही हम आगे बढ़ सकते हैं, इस से ही व्यष्टि और समष्टि की एकता कायम हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अब 'शं नो मित्रः' का इस प्रकार अर्थ समझने के बाद 'शं वरुणः' पद आता है जिसका अर्थ है वरुण ही हमारे लिये कल्याणकारी हो। वरुण को वेदों में पाप का परिष्कार करनेवाला अधिष्ठाता देवता स्वीकार किया गया है। पापरूपता का सम्बन्ध हमारी इच्छा शक्ति के साथ है यह पहले देख चुके हैं। इच्छा शक्ति के संशोधन के साथ इसका किस प्रकार से सम्बन्ध है इसको बताने के लिये श्रुति शं वरुणः की विचारधारा को हमारे सामने रख रही है। लेकिन पाप को सामने न रख कर, उसको परिशुद्ध करनेवाले देवता को सामने रख कर श्रुति एक अन्य दृष्टि हमारे सामने रखती है। प्रायः लोग पापवाद के ऊपर जोर देते हैं, विशेषकर धर्मों के समूह में मनुष्य की पापरूपता के ऊपर जोर है। यहां श्रुति ने पाप के परिशोधन के ऊपर अधिक विचार किया। इसके द्वारा दैववाद की जगह पर संगवाद का आदर्श सामने रखा। संसार में दो प्रकार की विचारधारायें संस्कारों के विषय में हैं। एक प्रणाली को दैववाद या Determinism कहते हैं। उसमें दैव के द्वारा निश्चित स्वरूप के अन्दर ही हमारा परिगमन हो सकता है। हम अपने मन के चक्र में ऐसे फंसे हुए हैं कि हमारे लिये चलना सम्भव ही नहीं है। यह असम्भव की दृष्टि दैववाद की है, चाहे उसे परमेश्वर रूपी दैव मानें या प्रकृति रूपी। मनोवैज्ञानिक इसी बात को हमारे सामने रखता है कि हमारे

शरीर और मन का गठन ही इस प्रकार से हुआ है कि संघर्ष और तनाव आवश्यक हैं, उनको दूर करना हमारे लिये किसी प्रकार सम्भव नहीं। इस दैववाद (determinism) के विरोध में हमारे शास्त्रकार संगवाद को सामने रखते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य वैसा ही है जैसा संग करता है। संग के कारण उसने अपने संस्कारों को बुरा बना लिया था। संस्कारों को बुरा बनाने के कारण वह इस संसार के जाल में फंस गया और इसमें अधिकाधिक कष्ट भोगने लग गया। अब पुनः यदि अपने संग का परिवर्तन कर लेगा तो सत्संग के द्वारा संस्कारों में परिवर्तन कर लेगा, जिससे वासना में परिवर्तन होगा, और वासना के परिवर्तित होते ही जीव का स्वरूप ही बदल जायेगा।

दैववाद की जगह पर संगवाद का आदर्श रखने के लिये ही श्रुति ने 'शं वरुणः' कहा। यदि यह कह दिया जाता कि मनुष्य पापरूप है और पाप के अन्दर ही चल रहा है, यदि यह दृष्टि रखनी होती, तो दैववाद का सिद्धान्त हो जाता और इस चक्कर में मनुष्य ऐसा फंसा हुआ निर्णीत हो जाता कि उससे निकलना संभव ही नहीं होता। श्रुति 'वरुण' पद के द्वारा इससे निकलने का मार्ग दिखलाती है। इस प्रकार दैववाद के स्थान पर संगवाद होने के कारण ही हम वैदिक दृष्टि को अग्रवादी कह सकते हैं। अग्रवादी का अर्थ है आगे की दृष्टि रखने वाला। हम किस प्रकार अपना परिष्कार करके आगे बढ़ सकते हैं यह अग्रवाद का सिद्धान्त बताता है। इसी को Forward looking का दृष्टान्त भी मान सकते हैं। हम पीछे कैसे थे, पहले हम चाहे जैसे भी बुरे या किसी प्रकार के रहे हों, उसकी चिंता करने की जरूरत नहीं। संग के द्वारा भविष्य में हम अपना परिष्कार और परिवर्तन कर सकते हैं। संगवाद के द्वारा हमारे सामने अग्रवाद का आदर्श रखा जा रहा है। इसीलिये शास्त्रों में जितने विस्तार से मोक्ष का विचार किया गया उतना विचार बंधन के कारण का नहीं किया जाता। अविद्या हमारे अन्दर कैसे आई, अज्ञान के चक्कर में हम कैसे फंसे इसका विचार हम बहुत कम करते हैं। हमारे शास्त्रों में इसीलिये पीछे क्या हुआ इसके ऊपर विचार करने की आवश्यकता नहीं मानी गई। मान लीजिये आप सड़क में चलते हुए अकस्मात् अपने कपड़े पर लगी हुई कालिख देखते हैं। अब यदि इस बात का अन्वेषण करने में लगें कि यह दाग कहां और

कैसे लगा तो वह व्यर्थ ही सिद्ध होता है, उसको जानकर वह दाग मिटने का नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि आप कहीं से साबुन लाकर उसे धो डालें। इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि संस्कारों और कुसंग के चक्र से हम अपने को गंदा कर चुके हैं, पर ये संस्कार अनादिकाल से किस प्रकार आरम्भ हुए, हममें अज्ञान की कालिख किस प्रकार लगी, हमारी वृत्तियों में निम्न प्रवाहता किस प्रकार से आई, इन सारी बातों का विचार हमारे लिये अनावश्यक है। इससे हमको कोई लाभ नहीं पहुंच सकता। इसलिये हम अग्रवादी दृष्टि को अपनाकर कहते हैं जो होना था सो हो लिया, आज जहां पर स्थित हैं वहां पर चाहे जिस प्रकार पहुंचे हों, तथ्य तो केवल इतना है कि हम यहां पर पहुंच गये हैं और यहां से आगे कैसे बढ़ सकते हैं? आगे अपना सुधार कर अपने स्वरूप में स्थित कैसे हो सकते हैं? यही हमारे सामने आदर्श है। अतः वैदिक दृष्टि सदा अग्रवादी रही है, पृष्ठवादी नहीं। क्योंकि वह संगवादी है, दैववादी नहीं। यद्यपि इदानीं काल में हमारे अन्दर भी दैववाद का प्रवेश होने लगा है लेकिन वह केवल भारतवर्ष की ही समस्या नहीं मानव की समस्या है।

मनुष्य अपनी जिम्मेदारी को अपने ऊपर उठाना नहीं चाहता, उन्हें दूसरे के ऊपर टालना चाहता है। इस टालने का नाम ही दैववाद है। कोई कहता है परमेश्वर के कारण हम इस स्थिति में हैं, कोई कहता है हमारी शारीरिक तथा मानसिक गठन इस प्रकार की है कि हम इस स्थिति में हैं, कोई कहता है कि हमारे शरीर में अमुक अमुक प्रकार की नसें हैं जिनके कारण हमारी यह स्थिति हो गई है। मनुष्य कर क्या सकता है? कोई समाज को दोष देता है, कोई नीति को, पर स्वयं अपने आप पर जिम्मेदारी लेना मनुष्य नहीं चाहता। हमेशा किसी न किसी को ढूंढना चाहता है जिसको अपने दोष का कारण बता सकें—जिसे अंग्रेजी में Scapegoat कहते हैं, जिस पर हम अपनी सारी कमजोरियों को थोप देवे। लेकिन जब अच्छाई की बात आती है तो मनुष्य अपने ऊपर ले लेता है। यदि हमारे यहां खेती बढ़ जाती है तो हम बड़े घमण्ड से कहते हैं कि हमने पञ्चवर्षीय योजना के लिये इतना अधिक परिश्रम किया है कि हमारी उपज बढ़ गई है। इसके विपरीत यदि कहीं पर बाढ़ आगई और किसी कारण खेती नहीं हुई तो कहते हैं कि दैव-दुर्विपाक के कारण हमारे ऊपर

आपत्ति आ गई। विचार करिये, कभी भी हम खड़े होकर यह नहीं कहते कि उस महादेव को धन्यवाद है कि अबकी बार हमारी पञ्चवर्षीय योजना सफल हो गई और हमारा काम अच्छी तरह से हो गया। धन्यवाद लेने के लिये तो हम स्वयं खड़े होते हैं, कि हमने पञ्चवर्षीय योजना बनाई, हमने तरक्की की; लेकिन जब वह तरक्की गड़बड़ हो जाती है तो उस दोष को अपने शिर पर लेकर हम क्यों नहीं कहते कि हमने अमुक गलती की जिसके कारण हमारे ऊपर यह विपत्ति आई। तब दैव बीच में आ जाता है। दैववाद आ जाता है। हमारे अन्दर यह आधारभूत भूल आ गई है कि अच्छाई को अपने ऊपर लेना चाहते हैं, बुराइयों को दूसरे के ऊपर टालना चाहते हैं। शास्त्रों में एक कथा आती है। एक ब्राह्मण को अच्छा बगीचा लगाने का शौक था। उसने सुन्दर फल फूलों का बगीचा बनाया। वह स्वयं बागवानी करता था और सर्वत्र उसकी प्रसिद्धि थी। कभी वहां गायें प्रविष्ट हो जाती थीं, विशेष कर एक गाय ऐसी थी जो किसी न किसी प्रकार हटाने पर भी फिर वहां प्रविष्ट हो जाया करती थी। एक बार इस गाय को क्रोधित होकर उसने इतनी जोर से डंडा मारा कि वह मर गई। अब सर्वत्र बात प्रसिद्ध हो गई कि ब्राह्मण गोहत्यारा हो गया। प्राचीन काल में गोहत्यारे के हाथ से कुछ खाने को भी बुरा समझा जाता था। जब ब्राह्मण के सामने यह समस्या आई तो उसने तुरन्त हल निकाल लिया। वह कहने लगा कि मैंने गाय को नहीं मारा, शास्त्र में हाथ का अधिष्ठाता देवता इन्द्र होता है, इन्द्र ने ही मेरे हाथ द्वारा वह प्रवृत्ति कराई कि गाय मर गई। सब दोष इन्द्र के ऊपर है, मेरे ऊपर नहीं। इसी प्रकार हम कह देते हैं कि यदि बाढ़ आ गई तो दोष बादलों के ऊपर है और आंधी, टिड्डी आदि आ गये तो दोष हमारे ऊपर या हमारी योजनाओं के ऊपर नहीं, परमेश्वर के ऊपर है। यदि केवल उन्नति होगी तो वह हमारी है। इसी दृष्टि को ब्राह्मण ने भी अपनाया और कहने लगा कि इन्द्र की प्रेरणा से गोहत्या हुई अतः इन्द्र गोहत्यारा है, मैं नहीं। गांव के लोग सीधे थे और उसके प्रभाव में आकर सभी इन्द्र को गोहत्या का दोष देने लगे। उधर से नारद जी निकले और यह बात सुनी तो इन्द्र से जाकर बोले कि इन्द्र ! तुम्हारी सर्वत्र प्रसिद्धि गोहत्यारे के नाम से हो रही है। इसको दूर करने का तू क्या उपाय कर रहा है ? इन्द्र बोला मैंने तो कोई गाय मारी नहीं

है, फिर यह मिथ्या लाञ्छन कहां से लग गया ? नारद जी ने सारी कथा सुनाई, इन्द्र समझ गये। विचार करने लगे कि मरने से भी अधिक बुरी अपकीर्ति है। इसलिये कीर्ति की रक्षा के लिये उपाय करना चाहिये। वह दूसरे ब्राह्मण का रूप धारण करके उस गांव में आया और उस ब्राह्मण के बगीचे में गया। ब्राह्मण उस समय बगीचे को अच्छी तरह से खाद दे रहा था। इन्द्र बोला, ब्राह्मण देवता ! यह बगीचा तो बड़ा ही सुन्दर है, मैं बड़ी दूर से देखने के लिये आया हूँ, इसमें कितने माली नौकर रखे हैं ? ब्राह्मण बड़े गर्व से बोला, भाई ! कोई नौकर या माली नहीं है, मैं ही खाद देता हूँ, मैं ही पानी देता हूँ, और मैं ही संरक्षण भी करता हूँ। इन्द्र कई प्रकार की बातें पूछता गया, इसकी रूपरेखा किसने बनाई, इत्यादि। सबका निर्माता वह अपने को ही कहता चला गया। इन्द्र बोला कि सारे कर्मों का कर्ता तू अपने को बता रहा है; लेकिन जब बुराई की बात आई तब कहता है कि इन्द्र ने किया। केवल गाय को इन्द्र ने मारा ! क्या ठीक यही परिस्थिति हमारी भी नहीं है ? उस ब्राह्मण को तो हम कह देंगे कि वह दूसरों को धोखा दे रहा था। पर विचार करके देखिये तो हम अपने को भी धोखा देते हैं। जब कोई अच्छी बात होती है, यथा व्यापार में फायदा, तो हम निरन्तर कहते हैं हमारा व्यापार बड़ा सफल है, हम बड़ा परिश्रम कर रहे हैं, बड़ा कष्ट उठा रहे हैं। लेकिन अकस्मात् यदि घाटा हो जाता है तो कहते हैं क्या बतलायें, हम तो सारा अच्छा काम करते रहे पर अब परमेश्वर ने हमारे ऊपर कहर गिरा दिया। इस दोष दृष्टि के कारण हमारे अन्दर दैववाद का प्रवेश होने लग गया है। पर वास्तविक नियम यह है कि जहां पर कर्तृत्व होता है वहीं पर भोक्तृत्व भी होता है। जो करता है वही फल भी भोगता है। यदि कर्तृत्व का अभिमान चला जाये तो भोक्तृत्व का अभिमान भी जा सकता है। पर यदि करने वाला मैं हूं तो भोगने वाला भी मुझे ही सिद्ध करना पड़ेगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि दैववाद हमको अकर्मण्य बनाता चला जा रहा है। हम अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करके नहीं रख सकते तो इसका सबसे बुरा प्रभाव शास्त्रीय मर्यादाओं पर पड़ता है। लौकिक कार्यों को तो हम करते ही रहते हैं लेकिन शास्त्रीय कार्यों में प्रमाद करते हुए कह देते हैं कि क्या बतायें, हमारे साथ दैव ही नहीं ! यदि किसी व्यक्ति

से कहो कि तुम सवेरे उठकर भजन क्यों नहीं करते, तो वह तुरन्त कह देता है कि भगवान् हमें प्रेरणा नहीं करता। मालूम पड़ता है कि भगवान् केवल लोगों को दुकान जाने की ही प्रेरणा किया करता है, केवल व्यापार करने की ही प्रेरणा किया करता है और केवल भजन करते समय ही प्रेरणा करने में विरोध करता है और रुकावट डाल देता है। वस्तुतः यह दैववाद की दृष्टि हमें पीछे ले जा रही है, आगे नहीं। हिन्दू हमेशा संगवादी रहा है, दैववादी नहीं। संग के द्वारा सुधार करके अग्रवादी रहा है, आगे रहने की दृष्टि रखता है, पीछे रहने की नहीं। लेकिन यह दृष्टि आयेगी कैसे ? संगवाद की दृष्टि आने के साधनों पर विचार करते हुए देख रहे थे कि जब हमारा महापुरुषों के साथ संग होता है तब उसकी दयापात्रता द्वारा संगवाद की दृष्टि बनती है। महापुरुष जीवन के एक दर्शन का उपदेश करता है। यह ख्याल करने की बात है कि साधक प्रायः अपनी छोटी समस्याओं का हल निकालना चाहता है, उनका हल निकालने के लिये कोई मार्ग द्रष्टा या गुरु उपदेश नहीं करता। उसकी दृष्टि तो रहती है आपको जीवन का दर्शन दे देने की जिससे आप अपना हल स्वयं निकाल लें।

आज की बड़ी भारी समस्या यह है कि मनुष्य चाहता है कि हमें बनी बनाई गोली मिल जाय और उसको हम निगल लेवें। उसके लिये हमें किसी प्रकार की चेष्टा या प्रयत्न न करना पड़े। यदि हमको विटामिन 'सी' खाना है तो हम यह ज्यादा पसन्द करते हैं कि रोडोक्शन की एक गोली मुंह में डाल कर पानी पीलें। चार नीबुओं को निचोड़ कर पीना या नीबू का अचार बना कर खाना हमें पसन्द नहीं। यही दृष्टि हमारी सर्वत्र रहती है। समस्याओं को स्वयं हल करना न चाहकर हम चाहते हैं कि कोई उन्हें हल कर दे। आज संसार में सब प्रकार के लोगों की यही दृष्टि बनती चली जा रही है। यदि हम किसी समस्या पर सोचने को बाध्य होते हैं तो भी हम स्वयं सोचना नहीं चाहते, हम कोई मासिक पत्रिका खरीद कर उन समस्याओं का हल निकाल लेना चाहते हैं। यही स्थिति हमारी राजनैतिक क्षेत्र में होती है। हम अपने अखबार के सम्पादकीय (Editorial) को देखकर अपनी नीति को निश्चित करते हैं, क्या घटना हुई उसके प्रवाह पर हम वास्तविक स्वरूप से विचार नहीं करते। सर्वत्र हमारी दृष्टि यही है। इसी को कहा

जाता है स्पून फीडिंग (Spoon feeding)। लोग चाहते हैं कि चमचे के अन्दर भरके उनको पिला दिया जाय उसके लिये परिश्रम न करना पड़े।

लेकिन कोई भी महापुरुष इस प्रकार का कार्य करने के लिये तैय्यार नहीं; इसके द्वारा आपकी इच्छा-शक्ति कमजोर बन जाती है। यह ठीक है कि जितने भी आजकल के 'वाद' हमारे सामने आ रहे हैं, चाहे वह प्रजातन्त्रवाद हो, समाजवाद हो, चाहे साम्यवाद हो, वे सब समस्याओं को हल करके हमारे सामने रखने की चेष्टा करते हैं और कहते हैं कि हमने सारी समस्यायें हल करली हैं, तुम्हारा तो केवल एक काम है कि तुम हमारे साथ संगठित हो जाओ, हमारे दल में नाम लिखा लो, आगे तुम्हारी सारी जिम्मेदारी हम ले लेंगे। एक विलक्षण चीज आज देखने में आती है, कि प्रायः लोग नौकरी करना चाहते हैं और कहते हैं कि अगर हमें सरकारी नौकरी ४००) रु० महीना की मिल गई तो स्वतः व्यापार के द्वारा प्राप्त १०००) मास से भी अच्छा है क्योंकि हमें किसी चिंता की जरूरत नहीं है। कल क्या होगा इसकी चिंता नहीं है, काम नहीं भी करेंगे तो नौकरी छूटेगी नहीं, हम स्थित रूप से रहेंगे। हम समस्याओं का हल स्वयं करना नहीं चाहते। इसी प्रकार सब जगह हमारी समस्यायें बनती चली जा रही हैं। इसी का लाभ उठाकर आज जो प्रचलित अनेक वाद हैं—साम्यवाद, समाजवाद, प्रजातंत्रवाद आदि अनन्तवाद हैं—वे सब हमसे कहते हैं कि तुम हमारे साथ अपना नाम लिखा लो, हम तुम्हारी समस्याओं को हल कर देंगे।

और इसका लाभ अनेक अधार्मिक, और वस्तुतः अधार्मिक होते हुए भी जो अपने को धार्मिक समझते हैं, उठाते हैं। वह भी मनुष्य से यही कहते हैं कि हमने सारी समस्याओं को हल कर लिया है, हम तुमको सब बातों का जवाब बतलाते हैं, तुमको कुछ करने की जरूरत नहीं। तुम हमारे साथ सम्बन्धित हो जाओ, आगे मोक्ष पर्यन्त तुम को सब मिल जायेगा। और लोग यही मान भी लेते हैं कि हम किसी से कान फुकवा लेंगे, किसी से मंत्र ले लेंगे, किसी की कोई बात देख लेंगे, बस हमारा आगे कल्याण हो जायेगा। हम चाहते हैं किसीके आगे सिर झुकायें, वह हमारे सिर के ऊपर हाथ रखदे, बस मोक्ष का विधान मिल जाये। हमको यहां पर कोई साधना न करनी पड़े। मनुष्य बार बार यही जिज्ञासा करते हैं कि क्या कहीं कोई ऐसा स्थल है जहां पर जाते ही हमारी समाधि

लग जाये, भगवद्दर्शन हो जायें, हमको मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ? उसके लिये प्रयत्न और प्रयास करने के लिये हम तैयार नहीं होते। इस सब के मूल में क्या है ? वस्तुतः दैववाद है संगवाद नहीं।

इसीलिये कोई भी सद्गुरु इस प्रकार का व्यवहार करने के लिये तैयार नहीं है। यह नहीं कह रहे हैं कि ऐसा हो नहीं सकता लेकिन यदि ऐसा कर भी लिया जायेगा तो उसका नतीजा क्या होगा ? आपकी इच्छा-शक्ति कमजोर हो जायेगी, आप स्वयं कुछ नहीं बन पायेंगे। दूसरे का प्रतिबिम्ब बनने में लाभ नहीं है। धर्म का कार्य तो अपनी ही पूर्ण अभिव्यक्ति है, अपने ही स्वास्थ्य का पूर्ण लाभ करना है, न कि किसी अन्य का प्रतिबिम्ब बनना। क्यों कि आत्मा स्वयं ही बिम्ब रूप है। अतः वह इस आदर्श को सामने रखता है कि आपका व्यक्तित्व पूर्ण होवे, आप पूर्णता को प्राप्त करें; ऊपर से थोपी जाने वाली पूर्णता कभी आपको दृढ़ नहीं बना सकती। आप यदि विटामिन की गोलियां खा कर के अपने को तन्दुरुस्त रखना चाहेंगे तो वह कोई तन्दुरुस्ती नहीं है। यदि भोजन करके उसमें से शक्ति खींचने की ताक़त आपके पेट में नहीं है तो चाहे जितने विटामिन की गोलियां खाकर आप अपने को पुष्ट समझते रहें आपके अन्दर वास्तविक पुष्टता नहीं आयेगी। इसलिये जो वास्तविक धर्म का द्रष्टा है, वह आपके सामने केवल एक प्रकार के आदर्श को रखता है, आपको इस प्रकार की दृष्टि देता है कि समस्याओं का हल आप स्वयं कर सकें।

मनुष्य कहता है हमारी बुद्धि नहीं है, हम गलती कर सकते हैं। लेकिन धर्म कहता है कि गलती करने में कोई हर्ज नहीं है। गलतियां करके जो तुम सीखोगे वह तुम्हारी अपनी चीज होगी। साइकिल चढ़ना सीखने में आप घुटनों को तोड़ते हैं, इसलिये कोई कहे कि साइकिल के ऊपर चढ़ें ही क्यों, तो कभी साइकिल चढ़ना नहीं सीख सकोगे। घोड़े की सवारी करनेवाला अवश्य गिरता है लेकिन गिर करके ही चढ़ना सीखता है।

ठीक इसी प्रकार से जब आप व्यवहार में अपनी दार्शनिक दृष्टि लायेंगे तो उस दृष्टि की पूर्णता के लिये आवश्यक है कि आपके सामने कठिनाइयां आयेंगी। आप कई गलतियां करेंगे। पर वास्तविक द्रष्टा आपकी ग़लतियों की हंसी नहीं उड़ाता। वह जानता है कि इन गलतियों के द्वारा ही आपकी

पुष्टि हो रही है, आपकी बुद्धि का विकास हो रहा है, आप आगे बढ़ते चले जा रहे हैं।

इस दृष्टि को लेकर आजकल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में एक कमी रह जाती है। वहां मनुष्य के सामने एक खुला हुआ उपाय रखने की चेष्टा होती है, उससे पूर्ण बनने का प्रयत्न करने के लिये नहीं कहा जाता। यद्यपि कैरनहार्नी (Karen Horny) जैसे कुछ विचारकों ने अवश्य आत्म-समीक्षण (Self-analysis या auto-suggestion) पर जोर दिया है। वे बार बार कहते हैं कि दूसरों के द्वारा विश्लेषण से प्रभावित होने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि व्यक्ति स्वयं अपना मानसिक विश्लेषण करे। इस विषय पर कैरनहार्नी के कई ग्रन्थ हैं। लन्दन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ब्राउन ने भी इस पर विचार किया है। लेकिन प्रायः मनोवैज्ञानिक इसी पर अधिक जोर देते हैं कि वही तुम्हारे मन का विश्लेषण करेंगे, जिससे मन के अन्दर कमजोरी ही आती है, मन पुष्ट नहीं होता। धर्म ने कभी इसके ऊपर जोर नहीं दिया। धर्म का जोर तो इस पर रहा कि प्रत्येक मनुष्य अपने में पूर्ण बने। इस के लिये मनुष्य को ऐसी विचारधारा बनानी पड़ती है कि वह घटनाओं और परिस्थितियों को स्वीकार कर सके। अंग्रेजी में इसे रिसेप्टिव माइन्ड (Receptive Mind) कहते हैं। यद्यपि स्वीकार करना तो धर्म और मानस विज्ञान में एक सा आवश्यक है लेकिन धर्म में उसकी आवश्यकता अधिक हो जाती है। मनुष्य को उस जमीन की तरह बन जाना पड़ता है जो पानी बरसने पर उसको पी ले। प्रायः मनुष्य पत्थर बना रहता है। जिस प्रकार पहाड़ पर चाहे कितना ही पानी बरस जाय वह उसे केवल थोड़ी देर के लिये ठण्डा करके पहाड़ पर तरी ला देता है, पर दो चार घण्टे में ही सारा पानी बह जाता है और भूमि जैसी पहले थी वैसी ही रह जाती है; पर मिट्टी वाली समतल भूमि पानी को चूस लेती है और उसे अपने अन्दर बनाये रखती है। उसी प्रकार यहां भी मनुष्य को मृत्तिका बनना चाहिये ताकि जब जीवन-दर्शन आये तो उसको अपने अन्दर संग्रह करके उसके अनुसार स्वयं बन सके। तभी वह दर्शन लाभ करेगा अन्यथा नहीं। एक दूसरी बात भी है। जैसे पानी यदि चिकनी मिट्टी के ऊपर भी तेजी से बरसता है तो भी स्थिर नहीं रहता, बह जाता है, उसी प्रकार यदि हम चाहें कि हम एक, दो या दस दिन में सब ज्ञान प्राप्त करलें तो असम्भव है। ज्ञान तो धीरे-धीरे रिसता है। जैसे पानी

धीरे-धीरे बरसने पर ही खेती को लाभ पहुंचाता है उसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में हमारे संस्कारों की खेती को भी लाभ तभी अधिक पहुंचेगा जब पानी धीरे-धीरे बरसे। इसीलिये महापुरुष भी जब किसी को उपदेश देते हैं तो सारी साधनाओं का क्रम एक साथ नहीं बतला देते, बल्कि धीरे-धीरे उनका उपदेश करके साधक को आगे बढ़ाते हैं। एक साथ सब ज्ञान इसीलिये नहीं देते कि एक साथ देने पर वह जल व्यर्थ हो जायेगा। वह बह जायेगा। उसके अन्तःकरण गें प्रविष्ट नहीं हो पायेगा। इसीलिये वे धीरे-धीरे पानी बरसाते हैं। भागवतकार तो कहते हैं कि केवल धीरे-धीरे ही नहीं बल्कि कभी वह नही बरसाते हुए प्रतीत होते हुए भी बरसाते हैं।

सन्तःसदैव गन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न।
याहि स्वैर कथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ताः॥

कहते हैं कि महान् पुरुषों के पास तो हमेशा जाना चाहिये। आप पूछोगे कि बहुत बार जाते तो हैं पर वे उपदेश ही नहीं देते, चुपचाप बैठे रहते हैं तो उनके पास जाने से लाभ क्या? कहते हैं कि यद्यपि उपदेश नहीं करते हैं, तो भी वे जो सामान्य बातें करते हैं, जिनकी तुम्हें कोई कीमत भी प्रतीत नहीं होती वस्तुतः वे बातें भी उपदेश हो जाती हैं। उनका चलना, उठना, बैठना, देखना, सुनना धीरे-धीरे हमारे अन्तःकरण में प्रविष्ट होते चले जाते हैं। तो वे अकस्मात् सारी बातों का उपदेश क्यों नहीं कर देते? क्यों कि धीरे-धीरे चीजों को अन्दर प्रविष्ट होना पड़ता है। थोड़ा पानी बरसा, जमीन ने पी लिया, फिर बरसा, फिर जमीन ने पी लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे वर्षा होने से वह पानी पूरी तरह जमीन के द्वारा पिया जाकर के लाभ पहुंचा सकता है। हमारे मानस जगत में धीरे-धीरे विचारों की वृष्टि होती है तो हम धीरे-धीरे उनको पीते चले जाते हैं, हमारे विचार परिपुष्ट होते चले जाते हैं। इसके विपरीत यदि हम ऐसा नहीं कर पाते तो चाहे जितने विचार हम श्रवण करें प्रभावशाली नहीं हो पाते।

आजकल प्रायः यही होता है कि पुस्तकों को बहुत अधिक पढ़ते हैं। पर हम से यदि कोई पूछता है कि कितना पाठ किया करें तो हम कहते हैं कि यदि तुम्हारे पास बहुत समय हो तो एक श्लोक का पाठ कर लिया करो अथवा आधी ही लाइन बांच लिया करो। लोग कहते हैं महाराज! हम तो

गीता का पूरा पाठ कर जाते हैं, कोई कहता है कि तीन अध्याय का पाठ कर जाते हैं, और कोई कहता है कि एक अध्याय का पाठ कर जाते हैं। तो हमको बड़ा आश्चर्य होता है। हम सोचते हैं कि यदि गीता के आधे श्लोक को पढ़ने की अपेक्षा हो तो कम से कम दश घण्टे उस में लग जाने चाहिये, और दिन चौबीस ही घण्टे का है, यह आदमी पूरा पाठ कैसे कर लेता है? धीरे-धीरे हमें पता चला कि आजकल पाठ की एक पद्धति चली है। हम प्रायः कह दिया करते हैं कि भाई! यदि किसी ग्रन्थ का लोप भारतवर्ष में करना हो तो उसके पाठ की प्रथा चला देनी चाहिये। शास्त्रों के अन्दर तो यहां तक बतलाया गया है कि यदि कोई बिना अर्थ ज्ञान के वेदों को बांचने की चेष्टा करता है तो 'यथा खरश्चन्दन भारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' (सुश्रुत संहिता १/३०) जिस प्रकार गधे के ऊपर आप चन्दन लाद देवें तो वह यह तो जरूर जानता है कि उसके ऊपर पांच मन का बोझ लदा हुआ है, पर यह नहीं जानता कि उस चन्दन की क्या कीमत है, ठीक उसी प्रकार यह मनुष्य जरूर समझ लेता है कि मैंने सातसौ श्लोक याद कर लिये लेकिन उनका क्या सौरभ है, क्या ज्ञान है, क्या आनन्द है, इसे वह नहीं जानता। परिणाम यह होता है कि दुर्गा-सप्तशती जैसी पुस्तकें छपी हुई हैं जिसके अन्दर कुण्डलिनी योग का वर्णन किया गया है, जिसका प्रत्येक नवरात्रि को पाठ किया जाता है। लेकिन पाठ करनेवाले किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि तुम क्या इसका अर्थ भी समझते हो, तो वह कहता है कि यह तो मंत्रात्मक है, इसका पाठ करने से पुण्य होता है, अर्थ तो शायद व्यासजी ही जानते रहे होंगे, अर्थ का हमको कुछ पता नहीं।

पाठ कर करके वेदों की हमने यही स्थिति कर दी। इसी प्रकार हमने सब ग्रन्थों की यही स्थिति कर ली है। धीरे-धीरे गीता की भी यही परिस्थिति होती चली जा रही है। लेकिन यहां तो हम बतला रहे हैं कि धीरे-धीरे ज्ञान को बरसने दो। आधे श्लोक का पाठ करो लेकिन उसका मनन करो, उस पर विचार करो, उसके सारे रहस्यों को जानो और जानकर उनको अपने जीवन से सम्बन्धित करो। यद्यपि साक्षात् परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही गीता में उपदेश दे रहे हों, लेकिन यदि वह हमारे जीवन से सम्बन्धित नहीं हो रहा है, यदि हम उस उपदेश से कोई लाभ नहीं उठा सकते हैं तो वह उपदेश हमारे लिये सर्वथा व्यर्थ है। इससे कहीं अच्छा है

कि हम हरताल लेकर उसके पन्ने को पीली सियाही से रंग लेवें या उस श्लोक को काट करके अलग कर दें। जो श्लोक हमारे जीवन से सम्बन्धित नहीं हो सकता यदि वह किसी महापुरुष ने भी कहा है, स्वयं साक्षात् भगवान् ने भी कहा है तो हमारे लिये व्यर्थ है। आवश्यकता इसकी है कि उसे लेकर अपने जीवन में उतारें। हमारे प्रत्येक धर्मशास्त्र की यही दृष्टि है।

इसीलिये कहा कि इस ज्ञान को धीरे-धीरे रसने दो। हमें अपना हृदय खोल देना चाहिये। जब धीरे-धीरे उपदेशों की वृष्टि होती है तभी हम आगे बढ़ पाते हैं। लेकिन आज हमारे यहां क्या है? हमने मन को इतना बन्द कर रखा है कि इसके अन्दर जगह ही नहीं है। एक बार एक बड़े महात्मा से मिलने के लिये एक राजमंत्री गये। वहां जाकर बैठ गये और बोले भगवन् ! कुछ उपदेश दीजिये। महात्मा ने कहा पहले चाय पीलें फिर उपदेश देंगे। चाय बनाकर दो गिलास सामने रखे। मंत्री जी के गिलास में चाय डालना शुरू किया, जब वह भर गया तो भी चाय डालना बन्द नहीं किया। मंत्री बोला, भगवन् ! मालूम पड़ता है कि आपकी आंखों में कुछ खराबी आ गई है। पूछा क्यों, मेरी आंखों में तो कोई खराबी नहीं है। मंत्री बोले, गिलास भर गया है, चाय ढुलक रही है, पर आप चाय डालते ही चले जा रहे हैं। वे बोले, मैं सोचता हूं कि जितनी चाय तुमको दे सकूं उतनी दे दूं। तो मंत्री बोले कि यह गिलास तो भर गया, दूसरी बार आप यदि भर सकें तभी मुझको मिलेगी, नहीं तो सारी बह करके चली जायेगी, न आपके काम में आयेगी न मेरे। महात्मा ने कहा ठीक है, और अपने गिलास में चाय डाल ली। दोनों ने चाय पीली तो शान्ति से बैठ गये। मंत्री ने फिर कहा, भगवन् ! अब कोई उपदेश दीजिये। महात्मा बोले, जो उपदेश देना था मैं वह दे चुका, आगे कुछ उपदेश की आवश्यकता ही नहीं है। मंत्री बोले, मेरी समझ में नहीं आ रहा है, मैंने तो कुछ सुना ही नहीं। बोले 'तुमने स्वयं कहा था कि जो गिलास भरा हुआ है उसके अन्दर और चाय डालना व्यर्थ है।' मंत्री ने कहा, 'हां यह तो मैंने कहा था'। तो यही मेरा उपदेश है कि तुम्हारे अन्तःकरण में अपने राजकाज की इतनी भावनायें भरी हुई हैं और तुम्हारे मन के अन्दर स्वयं अपनी इतनी मान्यतायें हैं कि तुमको उपदेश देना व्यर्थ है। क्योंकि तुम्हारे मन में तो जगह खाली ही नहीं है। प्रायः हमारे जीवन के अन्दर यही होता है। हमारी मान्यतायें पहले से

मौजूद हैं। हम महापुरुष के पास जाते हैं केवल थपकी लेने के लिये कि वह भी कह देवे कि आपने जो समझा है बहुत ठीक है। बहुत से लोग आते हैं, घंटा भर तक अपनी विचारधारा को प्रकट करने के वाद पूछते हैं स्वामीजी ! क्या मैंने ठीक समझा है ? हम अच्छी तरह जानते हैं कि वह सुनना चाहते हैं कि 'हां ठीक समझा है'। यदि हम कह दें कि तुमने गलत समझा है तो वह कह देगा कि स्वामी जी ने गलत समझा है, वह यह कभी नहीं मानने को तय्यार होगा कि उसने गलत समझा है। इसलिये हम कह देते हैं कि भाई ! तुमने तो बिल्कुल ठीक समझा है। तो वे लोग बड़े प्रसन्न होकर चले जाते हैं। जो हमारे पास नित्य आने वाले विचारशील भक्त होते हैं वे बाद में कहते हैं महाराज ! उस आदमी ने तो ये बातें गलत कही थीं, आपने उनको बताया क्यों नहीं ? तो हम कहते हैं, भाई ! वह पूछने के लिये नहीं आया था, वह तो थपकी लेने के लिये आया था। मैंने थपकी देदी, बेचारा प्रसन्न होकर चला गया। यदि उसके मन में जगह खाली होती, यदि हम इस बात को अनुभव करते कि वह कुछ ग्रहण करने के लिये आया है तो देना हमारा कर्तव्य हो जाता, लेकिन जहां ग्रहण करने की इच्छा नहीं वहां देना व्यर्थ है।

बाजार में आप दूकान खोलकर बैठते हैं, जो ग्राहक आपसे माल खरीदने के लिये आता है उसी के हाथ आप माल बेचते हैं, यह तो नहीं करते कि कोई आपकी साड़ी की सुन्दरता को देखने के लिये खड़ा हो गया तो तुरन्त उसको बुलाने लग जायें। आपको इतने मात्र से संतोष हो जाता है कि मैंने बढ़िया साड़ी सजाई है, इसलिये यह देखने में प्रवृत्त हो गया है। ठीक इसीलिये शास्त्रकारों का कहना है कि जो शास्त्र की बातों या अनुभव की बातों को समझने के लिये नहीं आते उनके लिये उपदेश देना व्यर्थ हो जाता है। जब तक आप अपने अन्तःकरण को नहीं खोलेंगे तब तक यदि महापुरुष का उपदेश होगा भी तो व्यर्थ चला जायगा। उसका कोई लाभ नहीं होगा। हम जितना अपने को खोलेंगे, खोलने के बाद फिर उस उपदेश को ग्रहण करके जीवन का परिवर्तन करने का प्रयत्न करेंगे, उतना ही हम आगे बढ़ते चले जायेंगे ?

जिस समय चन्द्रमा स्वाति नक्षत्र में होता है, उस समय यदि जल की एक बूंद मेघ से गिर कर किसी ऐसे स्थल में चली जाती है जहां मोती

बनने वाला कीड़ा होता है तो उस बूंद के पड़ते ही वह कीड़ा उसके चारों ओर अपने को घुमाने लगता है। उसके मुख से एक प्रकार की लार निकलती है जो उस पानी के साथ सम्मिश्रित होकर कुछ ऐसे रसायनिक सम्मिश्रण बनाती है कि अन्ततोगत्वा वह पानी की बूंद मोती बन जाती है। जब वह मोती बन जाती है तो लोग बड़े प्रेम से उसको गले में धारण करते हैं। यह दशा किसकी है ? उस पानी की बूंद की। पर यदि वही बूंद वहां न पड़कर समुद्र में सीप के पास गिर गया होता तो उसकी क्या दशा होती ? वही बूंद तो शुद्ध जल था जिसे पीने के लिये चातक तरसता है। आजकल आप इन्जेकशन देने के लिये पैसा खर्च करके डिस्टिल्ड वाटर खरीदते हैं। ऊपर से बरसने वाला पानी वह डिस्टिल्ड वाटर है। वही जल यदि समुद्र में पड़ जाता है तो लवण वाला हो जाता है, तब वह बूंद पीने लायक नहीं रहती। पर यदि वही बूंद किसी कमल के पत्ते के ऊपर पड़ जाती है तो मोती की तरह चमकती है और एक मिनट के बाद लुढ़क कर जब तालाब में पड़ जाती है तो वैसा ही पानी बन जाती है। और वही बूंद यदि लोहार के गरम लोहे पर पड़ जाये तो उसका 'नामापि न श्रूयते' वह गायब हो जाती है, नाम भी सुनने को नहीं रह जाता। तो एक ही पानी की बूंद कहीं मोती बन जाती है; दूसरी जगह खारा पानी बन जाती है; तीसरी जगह गिरकर भाफ बनकर उड़ जाती है, उसका नाम मात्र भी देखने में नहीं आता; चौथी जगह पड़ती है तो मोती की तरह चमकती है; और यदि कहीं नदी में पड़ जाती है तो जैसा उसका स्वरूप है वैसा ही बना रह जाता है।

ठीक यही बात होती है जब महापुरुष आपको किसी तत्त्व का उपदेश करते हैं। एक व्यक्ति उस उपदेश को ग्रहण कर लेता है। फिर उसका मनन करता है। श्रुत से हमारे यहां मनन को सौगुना अधिक बतलाया है। यदि एक घण्टा आपने व्याख्यान सुना है तो उसके ऊपर आपको सौ घण्टा मनन करना चाहिये तब वह आपको फल दे सकेगा। जिस प्रकार उस बूंद को प्राप्त करके सीप अपने मुंह को खुला नहीं रखता, और अन्य जल कणों को आने नहीं देता, उसी बूंद को लेकर उस पर मनन करता है, उसके चारों तरफ घूमता है, विचार करता है, तब वह बूंद मोती बनकर

सबके लिये उपयोगी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार उपदेश को ग्रहण कर वह व्यक्ति इसी प्रकार का आचरण करता है।

पर वही बूंद पास के समुद्र में गिरने से जैसे खारा पानी बन जाती है, वैसे ही कई व्यक्ति उपदेश को सुनकर उसे खारा कर देते हैं। उसके उपयोगी अंश को अनुपयोगी बना देते हैं, व्यावहारिक अंश को अव्यावहारिक कर देते हैं। फिर अव्यावहारिक अंश को व्यवहार में लाने लग जाते हैं अर्थात् ठीक विपरीत क्रिया करने लगते हैं। युधिष्ठिर तो जन्म भर सच बोलते रहे, लेकिन लोग यही कहते हैं कि जब युधिष्ठिर ने भी एक बार झूठ बोला तो हम को तो झूठ बोलना ही पड़ता है। हम उनसे कहते हैं कि युधिष्ठिर को भी झूठ बोलने के कारण नरक का दर्शन करना पड़ा इस बात को क्यों भूल जाते हो। अतः आदर्श तो उनके सत्य पालन का ही है। इतनी कठिनाई मे उसका पालन करने पर भी यदि उन से झूठ बोला गया तो तुम सावधान रहना। वे अपनी सावधानी को न लेकर उस उपदेश को ही खारा बना देते हैं। जो उपदेश हम प्राप्त करें उसके ऊपर मनन करके उसे मोती बनाने की एक दृष्टि है; दूसरी तरफ यदि वही उपदेश ऐसे व्यक्ति के अन्दर चला जाता है जो स्वयं अपने दोषों के लिये एक दैववाद के आधार पर घूमना चाहता है तो कोई न कोई वैसा उपाय निकाल लेता है। वह यही कहता है कि महाराज! अच्छे से अच्छे आदमियों को हम दुःख भोगते हुए देखते हैं, फिर धर्म का पालन क्यों करें? यही उसको खारा बना देना है।

बहुत से लोगों की बुद्धि बड़ी शुद्ध होती है, कमल के पत्ते की तरह। जिस क्षण उस बात को सुनते हैं उस क्षण ऐसा ग्रहण कर लेते हैं कि पूछने पर वैसा ही सुना भी देते हैं। दीखता तो वह मोती की तरह है। मनुष्य बड़ा प्रसन्न हो जाता है कि इसने मेरे उपदेश को ठीक ग्रहण किया। लेकिन तीन दिन के बाद दिखता है कि वह आदमी जहां था वहीं वैसा ही है। कई लोग उपदेश को अपने बुद्धि तन्त्र के द्वारा ग्रहण कर लेते हैं, वह मोती की तरह दीखता है, पर वह मोती है नहीं, थोड़ी ही देर बाद लुढ़क जाता है। कई व्यक्ति ऐसे भी होते है जिनके ऊपर उपदेश पड़ते ही 'नामापि न श्रूयते' पता ही नहीं लगता कि वह कहां और कब उड़

गया। सुनने के साथ ही साथ वे उसे समाप्त भी करते चले जाते हैं। उनके ऊपर उसका असर कुछ पड़ता ही नहीं। हमारे आश्रम में कथा होती है। उसमें खाद्याखाद्य के ऊपर विचार हुआ कि जिस किसी के हाथ का छुआ हुआ न खाया करो। आगे बैठने वाला एक व्यक्ति बड़े प्रेम से सिर हिला के सुनता है तो ऐसा लगता है कि इस व्यक्ति ने अवश्य हमारी बात समझ ली होगी। हमारे आश्रम के नीचे ही दूकानें हैं, जब उन्हीं व्यक्तियों को उसी प्रवचन के अनन्तर उन दूकानों के गन्दे गिलासों में चाय पीते देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है कि ये किस बात पर सिर हिला रहे थे। ये इसी प्रकार के व्यक्ति होते हैं जिन पर पड़ी हुई उपदेश की बूंद का 'नामापिन श्रूयते' जो इतने गर्म लोहे हैं कि उपदेश होने के साथ ही समाप्त हो जाता है।

सरल हृदय वाला व्यक्ति नदी में पड़ी हुई बूंद के समान उस उपदेश को बिगाड़ नहीं सकता, जैसा है वैसा ही धारण कर लेता है। वह भी नुकसान की चीज नहीं। नुकसान तो तब है जब उसमें दोष का अंश आ जाय, जैसे समुद्र में होता है। जिस व्यक्ति का हृदय गरम लोहे की तरह है, अर्थात् दुर्वासनाओं के कारण उसकी यह स्थिति हो गई है कि वह नये तत्त्व को ग्रहण करने के साथ ही नष्ट कर देता है तो वह उपदेश को बचा नहीं पाता। यहां वासनाओं की गन्ध अर्थात् प्राचीन संस्कारों का प्राबल्य, बहुत स्पष्ट है; यद्यपि हम दैववादी नहीं हैं, फिर भी यह कह सकते हैं कि वहां संग असर नहीं करता। प्रश्न उठता है कि सब लोगों को संगवाद के द्वारा बदल देने का प्रयास क्यों नहीं किया जाता ? सारे ही महापुरुष मिलकर सारे समाज को क्यों नहीं बदल देते ? इसी कारण कि जड़। संस्कारों का प्रवाह इतना तीव्र है वहां महापुरुष तब तक धैर्य के साथ बैठे रहते हैं जब तक संस्कारों के उदय का समय नहीं आता। जब संस्कारों के उदय का समय आयेगा तो उसको अवश्य पुनः प्रवृत्त करेंगे, उसको संगवाद के द्वारा बदलने की चेष्टा अवश्य करेंगे। लेकिन यह होगा समय आने पर। समय न आने पर प्रवृत्ति कराना व्यर्थ ही नहीं होता बल्कि इससे कभी मनुष्य को गलत तरफ भी ले जाया जा सकता है। जिस प्रकार समुद्र में पड़ कर बूंद खारी हो जाती है, अन्ततोगत्वा उस बूंद का ही नुकसान हुआ,

ठीक इसी प्रकार यदि किसी पर जबर्दस्ती संगवाद के द्वारा अपना प्रभाव डालना चाहेंगे तो उसकी उन्नति का जो रूप बन रहा है उसमें बाधा पड़ जायेगी। दुःख भी उन्नति का ही रूप है।

प्रायः मनुष्य सोचते हैं कि आगे बढ़ना ही श्रेष्ठ मार्ग है। यह सत्य नहीं। कभी परिस्थिति ऐसी भी होती है जब पीछे हटने के द्वारा हम आगे बढ़ने के योग्य बनते हैं। जब आप नयी दिल्ली की कनाट प्लेस में कार को रोककर सामान खरीदते हैं तो कार में वापस आने तक सामने और पीछे दूसरों की गाड़ी खड़ी पाते हैं। बगल में सिर्फ कुछ रास्ता बचा हुआ देखकर आप गाड़ी को थोड़ा पीछे, फिर थोड़ा कुछ आगे करके गाड़ी को फिर पीछे हटाते हैं और तीन-चार बार आगे पीछे परिश्रम करने के बाद गाड़ी को वहां से निकालने में सफल हो जाते हैं। यदि कोई इसी बात पर जोरदे कि हमें तो आगे ही जाना है, गाड़ी को पीछे क्यों हटायें, तो वह आगे ले जाकर दूसरी गाड़ी को टक्कर ही मार सकता है कभी वहां से निकल के बाहर नहीं जा सकता।

इसी प्रकार हमारे संस्कारों का प्रवाह है। संस्कार और वासनायें एक दूसरे से क्रमपूर्वक बँधी हुई हैं। जब तक कुछ संस्कारों के अन्दर हम पीछे नहीं हटेंगे तब तक हमारा आगे बढ़ना नहीं हो सकेगा। महापुरुष में धृति है। वह जानता है कि इस समय इन संस्कारों के कारण यह पीछे जा रहा है, अपने कल्याण के मार्ग से भ्रष्ट हो रहा है, तथापि इसको इस समय थोड़ा पीछे जाने दो। वे धैर्य पूर्वक कहते हैं कि जरा पीछे हटाने के बाद ही इसको आगे बढ़ाने का रास्ता मिल सकेगा। तभी इसको हम सत्सङ्ग द्वारा आगे बढ़ा सकेंगे। जब यह समस्या आती है कि इसका सुधार क्यों नहीं कर लिया जाता तो उसके मूल में यही दृष्टि निहित है। इसी दृष्टि के कारण बड़े धैर्य की अपेक्षा होती है। नहीं तो मनुष्य गड़बड़ कर जाता है।

भारवि कवि का एक दृष्टान्त आता है। वे संस्कृत भाषा के बड़े भारी कवि हुए हैं। उनके पिता भी बड़े विद्वान् थे। यदि एक ही क्षेत्र में पिता और पुत्र दोनों प्रवेश करते हैं तो पुत्र के हृदय में हमेशा कुछ न कुछ हीन भावना बनी रहती है। यह मानसविज्ञान का विषय है। कारण यह होता

है कि पिता बच्चे से कम से कम तीस साल आगे तो रहेगा ही, जिस कार्य में पिता सिद्ध हस्त हो चुका है और उसमें ख्याति प्राप्त कर चुका है पुत्र जब उस काम में आगे बढ़ता है तो देखता है कि पिता तो बहुत आगे हैं और मैं बहुत पीछे हूँ। फिर पिता का यह स्वभाव भी हो जाता है कि पुत्र को बार बार टोकेगा। यह भी स्वाभाविक है क्योंकि पिता, चाहे पुत्र पच्चीस साल का हो जाय, सदा यही समझता है कि अभी वह कुछ जानता ही नहीं। इसलिये बार-बार कहेगा कि तुमने अमुक अमुक गलती की। यह उसके हृदय में एक हीन भावना का संचार कर देता है। वह समझता है कि मैं कुछ नहीं हूं। मुझे तो ये बार बार रास्ता बतायें तभी मैं आगे बढ़ सकता हूं। पिता की गलती अथवा किसी भी कारण से एक हीन भावना आ ही जाती है।

भारवि के पिता संस्कृत के बड़े भारी समालोचक थे और सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध थे। स्वभावतः जब भारवि लिखने लगे तो लिखने के बाद अपने पिता को दिखलाया करते थे। मैंने यह कविता लिखी क्या ठीक बनी है? उनके पिता उच्चकोटि के समालोचक थे जो बड़े से बड़े लेखकों की कृतियों की समालोचना करने का साहस रखते थे। उनकी दृष्टि में भारवि की कविताओं का मूल्य ही क्या हो सकता था? इसलिये वे बार बार उसमें गलती निकालते रहते थे। धीरे धीरे भारवि की यह परिस्थिति हो गई कि वे कठोर से कठोर परिश्रम करने लगे, जिसके फलस्वरूप इतनी सुन्दर रचना करने लगे कि सारे भारतवर्ष में उनकी प्रसिद्धि हो गई। सभी कहने लगे भारवि जैसा कवि कोई है ही नहीं, बड़ी सुन्दर रचना करता है। भारवेरर्थ-गौरवम्। भारवि की विशेषता यह थी कि वह एक छोटी सी बात के अन्दर गहन अर्थ भर देते थे। लिखते बहुत कम थे लेकिन उसके अन्दर अर्थ की गरिमा रहती थी। उनका एक एक श्लोक ऐसा होता था कि जिसके पच्चीस पच्चीस अर्थ निकल सकें। सारे भारतवर्ष में उनकी प्रसिद्धि हो गई।

लेकिन उनके पिता ने सोचा कि लड़के को और आगे बढ़ने को प्रवृत्त करें। अतः वे सदा उनके दोषों का ही परिष्कार किया करते थे। कहते थे कि बेटा! इसमें यह गलती रह गई है, अभी तो तूने कुछ किया ही नहीं। ज्यादा प्रयत्न कर, अभी तो तूने काम शुरू ही किया है। धीरे धीरे एक दिन ऐसा आया कि राजा के दरबार में सारे कवियों की प्रतियोगिता हुई। उसमें भारत के बड़े बड़े विद्वानों के साथ भारवि के पिता भी निर्णायक थे। सबने

एक स्वर से निर्णय किया कि भारवि का काव्य सर्वोत्तम काव्य है, उसको प्रथम पुरस्कार मिलना चाहिये। पर भारवि के पिता प्रमुख निर्णायक थे। उन्होंने खड़े होकर के कहा कि यद्यपि सभी निर्णायकों का मत है कि भारवि का काव्य सर्वोत्तम काव्य है लेकिन मैं इसे स्वीकार नहीं करता। मालूम पड़ता है कि मेरी वृद्ध अवस्था को देखकर इन सब लोगों ने भारवि का गौरव रख लिया है, नहीं तो मैं वस्तुतः इसकी कविता में इतनी योग्यता नहीं मानता। भारवि के हृदय पर चोट लगी। उन्होंने विचार किया कि गजब हो गया, मैंने इतना परिश्रम किया फिर भी मेरे पिता ऐसा कहते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि पिताजी के मन में मेरे प्रति दुर्भावना है, सम्भवतः पिताजी को मुझसे ईर्ष्या होती हो।

वास्तव में दो ही ऐसे स्थल होते हैं जहां हारने में गौरव का अनुभव होता है। एक तो पिता का पुत्र से और दूसरा गुरु का शिष्य से। पिता की सदा यह कामना होती है कि पुत्र मुझसे आगे बढ़े। वह यह कभी नहीं चाहता कि मैं पुत्र से बड़ा बना रहूँ। इसी प्रकार शिष्य के प्रति गुरु की यही कामना होती है कि यह मुझसे अधिक श्रेष्ठ हो। लोग मुझे भूल जायें इसको स्मरण रखें। लेकिन पुत्र इस बात को तब तक नहीं समझ पाता जब तक स्वयं पिता न बन जाये। यही हालत भारवि की थी। उसने सोचा आज भरी सभा में इन्होंने मेरा अपमान किया है। यह तो नहीं कहा कि सबने निर्णय दिया है इस कारण यह प्रथम हो गया, उलटा कहते हैं कि मेरे कारण इसको प्रथम बना दिया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि मेरे प्रति इनकी ईर्ष्या की भावना है। इसका निराकरण आवश्यक है। तो कैसे निराकरण किया जाय? सोचा कि न पिता रहेंगे और न मेरी ऐसी कटु समालोचना करेंगे। इतना भयंकर विचार मन में आ गया। मन की एक विचित्र परिस्थिति है। वह किस समय कैसा भयंकर निर्णय कर लेगा कोई नहीं कह सकता। इसीलिये मानस साम्राज्य के अन्दर संभल संभल कर चलना चाहिये।

महापुरुष इसीलिये जिस शिष्य को उपदेश देते हैं, जिसका मार्ग दर्शन करते हैं उसको बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से आगे बढ़ाते हैं। भारवि के पिता साहित्य के विद्वान् तो रहे, पिता का हृदय भी उनके पास था, पर वे मनोविज्ञान

को नहीं समझ पाये थे। यदि उन्होंने मनोविज्ञान को समझा होता तो समझ जाते कि हम मनुष्य को केवल दबा करके ही आगे नहीं बढ़ा सकते हैं; निवृत्ति (Negative Approach) से किसी को हम आगे बढ़ावें यह ठीक भी नहीं है। तदपेक्षया नवीन आदर्श में ढालना श्रेष्ठ है। भारवि के पिता इस तत्त्व को, इस रहस्य को अच्छी प्रकार नहीं समझते थे। अतः उनके व्यवहार की यहां तक प्रतिक्रिया हो गई कि भारवि ने विचार किया कि यदि मैं अपने पिता को आज ही मार दूं तो मेरा काम बन जाये। अतः रात्रि में एक तलवार लेकर पिता का काम तमाम करने को उद्यत हो गये। रात्रि में अन्दर गये तो देखा किवाड़ बन्द है। माता पिता दोनों जगे हुए थे। माता भारवि के पिता से कह रहीं थीं कि अब लड़का काफी बड़ा हो गया है, उसका विवाह भी हो गया है, अब भी तुम उसको हमेशा इस प्रकार से डांटा करते हो, यह ठीक नहीं है। शास्त्रों में कहा है कि 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' १६ वर्ष का पुत्र हो जाय तो उसे बेटा नहीं, मित्र समझना चाहिए। परमेश्वर को हमारे यहां इसीलिए सखा कहा और श्रुति इसी पर 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' तथा 'शंनो मित्रः' कह कर जोर देती है। क्योंकि अब जीव की दृष्टि हो जानी चाहिए कि मैं परमेश्वर की समान कोटि का हूँ। उसके जीवन में गम्भीरता को लेकर दृष्टि का परिष्कार तभी होता है जब यह सखा की भावना आती है। यहां षोडश शब्द 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे' केवल पुत्र के ही लिए नहीं है। परमेश्वर की दृष्टि से भी समझना चाहिए। षोडशकलं पुरुषम् (प्रश्न ६/१) के द्वारा इस पुरुष को शास्त्र में सोलह कलाओं वाला बताया है। इसलिए मनुष्य योनि में आने पर ही 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' में सखा शब्द का प्रयोग है, पशु योनि के जीव के अन्दर नहीं। पशु के लिए तो वह पशुपति ही रहता है, उसका पालन ही करता रहता है। वहां पर पिता की भावना प्रधान है। बच्चा जब सोलह वर्ष का हो गया अर्थात् जब जीव मनुष्य शरीर में पहुंच गया तो उसमें षोडश कलाओं का विकास हो गया। अब इसके प्रति सखा या मित्र-भाव ही प्रधान है। इसके ऊपर शास्त्रों ने बड़ा जोर दिया है।

भारवि की मां उसके पिता से कह रही थी कि लड़का बड़ा हो गया है, सब तरह से योग्य है। अब आपको इसी प्रकार से बात करना शोभा नहीं

देता। यदि किसी दिन लड़का बदल कर के जवाब दे देगा तो क्या रहेगा? भारवि के पिता कह रहे हैं 'मैं भी इस बात को समझता हूँ। तू ठीक कह रही है। लड़का बड़ा हो गया है। उसको इतना ज्यादा दबाना नहीं चाहिए। लेकिन मैं यह विचार कर रहा हूँ कि यदि यह दो चार साल और परिश्रम करेगा तो इससे बहुत आगे बढ़ जायेगा। फिर शायद हमेशा यह संस्कृत साहित्य में अमर हो जाये, इसके जैसा कोई लेखक रह ही नहीं पायेगा। मैं सोचता हूँ कि और तो कोई विद्वान् इसकी समालोचना करने की योग्यता रखता ही नहीं, क्योंकि यह उत्तम कवि हो गया है, दूसरों को साहस ही नहीं होता कि वे इसकी समालोचना करें, इस काम को मेरे अतिरिक्त और कौन करेगा? इसलिए मैं सोचता हूँ कि दो चार साल तक और इसे इसी प्रकार जरा उकसाता रहूँगा तो यह सम्भवतः संस्कृत का सबसे महान् कवि बन जायेगा।'

भारवि बाहर खड़े हुए ये बातें सुन रहे थे। उनको ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो हृदय को किसी ने बड़े जोर से कचोट दिया हो। सोचने लगे 'मैं जिस पिता को अपनी ईर्ष्या का पात्र समझता था उनका भाव कितना शुद्ध है? वे मुझे कितना आगे बढ़ाना चाहते हैं! मुझसे बड़ा भारी पाप हुआ, मुझे इसका परिशोधन करना चाहिए।' उस समय तो वे वापस अपने कमरे में आ गये। प्रातःकाल होते ही पिता के चरणों में गिर कर रोने लगे। कहने लगे, पिता जी! मुझसे बड़ी गलती हुई। पिता ने पूछा बेटा! क्या हुआ? तो कहने लगे कि मुझसे एक बहुत बड़ा मानस पाप हुआ है। इतना बड़ा कि जिसका फल क्या भोगना पड़ेगा मुझे पता नहीं। पिता कहने लगे, क्या हो गया है, बता तो सही, मैं प्रायश्चित्त भी बतला दूंगा। कहने लगे कि मेरे मन में कल रात्रि यह संकल्प आया कि मैं आपकी हत्या कर दूं। मैं तलवार लेकर पहुंच भी गया। अतः मैं आपका हत्यारा हूँ।

पिता हंस कर बोले बेटा! ऐसी बात तेरे मन में क्यों आयी? उन्होंने सब बताया कि किस प्रकार उनके मन में यह आया कि पिता के मन में उनके प्रति ईर्ष्या है और किस प्रकार माता-पिता की बातें सुनकर वह दूर हुआ, और प्रायश्चित्त पूछने लगे। पिता ने उनको बड़े प्रेम से गले लगा लिया। बोले बेटा! इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है। अपराध तो मेरा है जो मैं तेरी

मानस स्थिति को नहीं समझ सका। मैंने तेरे साथ ज्यादती की फिर भी यदि तू कहता है कि तेरे द्वारा मानस पाप हुआ है तो उसका विचार न करना और केवल आगे की दृष्टि रखना और यह ध्यान रखना कि मैंने जो कुछ किया है वह तुझको इससे बहुत आगे बढ़ाने के लिए किया। तू यह न समझ लेना कि मैं जहां पहुंच गया हूँ उससे आगे जाने का रास्ता नहीं है। बेटा! इसका प्रायश्चित्त यही है कि तू वैसा ही परिश्रम करते रहना जैसा मेरी डांट खाने पर करता।

भारवि के पिता में पुत्र को आगे बढ़ाने की इच्छा थी। ठीक इसी प्रकार यदि उपदेशक या मार्गदर्शक भी जबर्दस्ती अपनी बात दूसरे पर लादने का प्रयास करता है तो वही गलती होगी जो भारवि के पिता ने की थी। बहुत बार धार्मिक लोग इसी गलती को करने लगते हैं। अपने आदर्शों को दूसरे के ऊपर जबर्दस्ती थोपने का प्रयत्न करते हैं। परिणामस्वरूप उन लोगों के हृदय में एक विप्लव की भावना आ जाती है। इसलिये सदा उपदेशक को उतना ही जल सींचना चाहिये जिसमें उसकी दृढ़ता बनी रहे। इस प्रयत्न से ही सफलता हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

यह दृष्टि हमें दैववाद की अपेक्षा संगवाद की तरफ ले जायेगी। संगवाद का अर्थ यह नहीं है कि हम अकस्मात् सारा परिवर्तन कर देंगे। परिवर्तन धीरे-धीरे ही होगा। लेकिन संगवाद के अन्दर एक विलक्षण दृष्टि है जो यहां बताई जा रही है। 'शं वरुणः' से अधिष्ठाता देवता को लेकर पाप की निवृत्ति बतलाई गई है। वैसे ही संगवाद में संग का अर्थ केवल महापुरुष का ही संग नहीं है। संग का अर्थ है सब का संग। व्यष्टि और समष्टि का भी यहां पर घनिष्ठ सम्बन्ध बताया जा रहा है। यदि एक व्यक्ति सोचे कि केवल मैं अपना सुधार करलूं तो बड़ी कठिनाइयां सामने आ जाती हैं। संगवाद का आदर्श यह दृष्टि रखता है कि यदि हमारे संगी साथी सुधर जाते हैं तो हमें अपने को सुधारने के लिये भी नवीन मार्ग-दर्शन मिलता है, हम उससे सरलता से चल सकते हैं।

संगवाद का सिंद्धान्त अपनानेवाला अपना सुधार तो करता ही है, लेकिन वह महापुरुषों के संग द्वारा जो प्राप्त करता है उसको तुरन्त फैलाना

चाहता है। यह एक बड़ी भारी दृष्टि हमारे सामने बार बार रखी गई है। शास्त्रकारों ने जहां प्रार्थनायें की हैं वहां इस बात पर जोर दिया है, 'मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।' कहते हैं कि जो पुरुष जिस चीज से मुक्त हो जाय—जिन संस्कारों से रहित हो जाय (यहां यह नहीं समझना चाहिये कि मुक्त का अर्थ सर्वथा मुक्त या सारे संस्कारों से रहित है) उनसे अपने संगी साथियों को भी छुड़ाना उसका कर्तव्य हो जाता है। मान लीजिये कि आपका यह दृढ़ निश्चय हो गया कि शराब पीना बुरा है तो आप इस भरोसे मत रहिये कि जब आपको मोक्ष या ब्रह्म-निर्वाण मिल जायेगा तब आप लोगों से कहेंगे कि शराब मत पियो। यह दृष्टि नहीं है। शराब से तो आप अभी मुक्त हो गये। सर्वज्ञात्म महामुनि बड़ी सुन्दर बात कहते हैं। "यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते' कि जहां जहां से निवृत्त होता चला जाता है वहां वहां से उसकी मुक्ति होती चली जाती है। संगवाद यह आदर्श हमारे सामने रखता है कि जिन-जिन चीजों का संग हम से छूट जावे तुरन्त उनका विस्तार करना प्रारम्भ कर दें। हम अपने संग से दूसरों को प्रभावित करें। क्योंकि यह निश्चित समझिये कि यदि आप एक घण्टे के लिए भी ऐसा संग करते हैं जो आपको बहिर्मुख करता है, विषयाभिमुख करता है, तो इस घण्टे का संग कभी न कभी प्रबल बनकर आपके ऊपर आ जायेगा और उस एक घण्टे के संग को हटा देगा जो आपने महापुरुषों के साथ किया है। अतः महापुरुष का संग जब आप करें तो केवल इस बात को सामने नहीं रखना है कि आप स्वयं ही संग द्वारा सुधरें। यह दैववाद या स्वार्थवाद की दृष्टि होगी कि हम तो अपना सुधार करलें और दूसरों का भाग्य होगा तो वह सुधर जायेंगे। या कि जब भगवान का अवतार होगा तब लोग सुधर जायेंगे। हमारे यहां अवतार भी दैववाद की दृष्टि बनाया जा चुका है। मानव स्वतन्त्रता की चरम सीमा—भक्ति द्वारा भगवान को वश में करना—ही अवतारवाद की दार्शनिक पृष्ठ भूमि थी जिसे हमने भ्रांति से पारतंत्र्य का रूप दे दिया। लोग कहते हैं कि जब पाप बढ़ रहा है तो भगवान् आकर इस को सुधारेंगे, हमको कुछ करने की क्या जरूरत है? यह अवतारवाद का सिद्धान्त भी दैववाद के पेट में है। यदि पाप के बढ़ने से भगवान् का अवतार होता है तो पाप-वृद्धि ही यत्न साध्य है। उसको बढ़ाने की चेष्टा में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर इसमें सब प्रमाणों

का विरोध है। स्मृति भी कहती है कि 'दूसरे का धर्म भयावह है'। अतः अवतार का प्रयोजन साधुओं की वृद्धि ही स्वीकार्य है। गीता में कहा है 'परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां, धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।' (गी० ४/८) साधुओं की वृद्धि प्रयत्न-साध्य है। अतः अवतारवाद के मूल में भी संगवाद है दैववाद नहीं, यह मीमांसा स्वीकार करनी पड़ेगी। यह नहीं कि अवतार नहीं होता, लेकिन जब वह होगा तभी वह सुधारेगा, हमको कुछ करने की आवश्यकता नहीं, ऐसा कथन अवतारवाद का दुष्प्रयोग है। वस्तुतः उस सुधार को हमें ही करना है। संगवाद हमें केवल अपने सुधार के लिए ही प्रेरित नहीं करता बल्कि हमारे सामने यह आदर्श भी रखता है कि हम जहां कहीं होवें, जिस किसी के समीप होवें उन संगियों को सुधारने की हम चेष्टा करें। उससे स्वयं हमारा भी कल्याण होगा। हम भी आगे बढ़ सकेंगे। दैववाद की दृष्टि को छोड़कर व्यष्टि और समष्टि दोनों से हमको संगवाद की दृष्टि लेनी है। हमें अपने संग को सुधारना है, महापुरुषों का संग करना है; तथा जो हमारे संग में आयें उनको सुधारने के लिए प्रयत्न करना है, लेकिन उसी प्रकार से धैर्य पूर्वक, जबर्दस्ती अपनी बात लाद कर नहीं। जब हम धीरे-धीरे सुधार करेंगे तभी संगवाद के आदर्श का पूर्ण रूपेण पालन हो सकेगा। वह पूर्ण रूप से हमको आगे बढ़ा सकेगा।

तभी हमारी इच्छा शक्ति में बल आ सकेगा। इस संगवाद के सिद्धान्त से हम आगे बढ़ सकेंगे। और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसके द्वारा हमारे संस्कार परिष्कृत होंगे और हमारे साथ रहने वालों के संस्कार भी परिष्कृत होते चलेंगे। यदि उस समय किसी कारण हमारे संस्कारों में कोई गलती भी आ गई तो कोई दूसरा हमको बतलानेवाला होगा।

भगवान ने गीता में एक बड़ी सुन्दर बात कही है। 'मच्चिता मद्गतः प्राणा बोधयन्तः परस्परं। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ (गी, १०/९) कहते हैं कि जो मेरे अन्दर चित्त वाले हैं, और सारी क्रियायें मेरे लिए ही करते हैं वे इस अवस्था में भी एक दूसरे का बोधन कराते हैं, एक दूसरे को जगाते हैं। मनुष्य कितना ही उत्तम क्यों न होवे, कभी न कभी उसमें ऐसा संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है जो उसके मार्ग का निरोधक हो सकता है। अतः जिनके साथ हम रहते हैं वे हमको जगा देते हैं और कहते हैं कि भाई! तू यह क्या गलती

कर रहा है ? कभी हमें भी उनको जगाने का अवसर होता है। 'कथयन्तश्च मां नित्यम्' से भगवान् कहते हैं कि वे आपस में वार्तालाप भी करते हैं तो उन आदर्शों के ही विषय में बात करते हैं। 'तुष्यन्ति च रमन्ति च' उनको सन्तोष उसी में होता है, आनन्द भी आता है।

रहने का स्थान तभी सुन्दर लगेगा जब आस-पास का वातावरण भी सुन्दर होगा। इसलिए रहने को लोग अच्छा शहर और मुहल्ला ढूंढते हैं। दिल्ली के चांदनी चौक को छोड़कर लोग इसी कारण नयी दिल्ली में चाणक्य-पुरी का निवास अधिक पसन्द करते हैं। यहां भी संग के गुण से पहले प्रवृत्ति होती है तदुपरान्त मानस राज्य में संगवाद को स्वीकार न करके लोग स्वयं भी भ्रान्त होते हैं और दूसरों को भी भ्रान्त करते हैं।

इस प्रकार का संग कब उपस्थित हो सकेगा ? जब हम समाज की अर्थात् समष्टि की दृष्टि सामने रखेंगे। समष्टि के कल्याण से ही हमारा कल्याण है। केवल व्यष्टि ही यदि कपना कल्याण करना चाहता है तो वह भारी भ्रम में पड़ा हुआ है। अपना भी कल्याण आवश्यक है, पर समष्टि की दृष्टि का बिना परित्याग किये। यह संगवाद का सिद्धान्त हमें अपने जीवन में सुधार करने को प्रवृत्त करता है और हमारे आस-पास के लोगों के जीवन को भी सुधारने में प्रवृत्त होता है।

इस संगवाद की दृष्टि को अपनाने पर ही हमारी इच्छा-शक्ति प्रबल होती चली जाती है। यदि कभी हमारी इच्छा शक्ति में संस्कारों के प्रवाह के कारण कमजोरी आ जाती है तो दूसरे के कहने से फिर उस संस्कार का परित्याग करके अपनी इच्छा-शक्ति को प्रबल, प्रबलतर और प्रबलतम बनाते चले जाते हैं। इच्छा-शक्ति को प्रबलतम बनाने के उपाय पर आगे विचार किया जायेगा।

मानस रोग : भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि

तैंत्तिरीय उपनिषद के प्रथम मंत्र 'शं नो मित्रः शं वरुणः शंनो भवत्वर्यमा' पर विचार करते हुए कल्याण की दृष्टि का निरूपण 'शंनो मित्रः' से किया फिर 'शं वरुणः का अर्थ बतलाया कि पाप को शुद्ध करने वाले तत्त्व से वरुण का प्रयोजन है । वैदिक देवताओं के अन्दर वरुण ही पाप नाशक माने गये हैं । पाप का घनिष्ठ सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा शक्ति के साथ है । किस प्रकार पाप इच्छा द्वारा ही होता है इस को जानने के लिये पाप के ऊपर कुछ विस्तृत विचार आवश्यक है ।

धीरे धीरे वैज्ञानिक दृष्टि भी द्वैतवाद से अद्वैतवाद की तरफ जा रही है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक हमारी दृष्टि में द्रव्य और शक्ति का भेदवाद चलता था । हम मानते थे कि पदार्थ अलग चीज है और शक्ति अलग है । द्रव्य भी नष्ट नहीं हो सकता है और शक्ति भी नष्ट नहीं हो सकती (Law of Conservation of Matter and Energy) द्रव्य और शक्ति दोनों नित्य पदार्थ हैं । दोनों अलग हैं । शक्ति द्वारा द्रव्य या पदार्थ संचालित होते हैं । इस प्रकार की मान्यतायें थीं ।

आइन्स्टाइन ने सबसे बड़ा सिद्धान्त हमारे सामने रखा कि शक्ति और द्रव्य का अत्यन्त भेद विज्ञान सम्मत नहीं । अणुबम के विस्फोट के बाद यह सिद्ध हो चुका है कि शक्ति और द्रव्य आपस में परिवर्तनीय हैं । एक को दूसरे में बदला जा सकता है । शक्ति का ही संग्रह करने पर वह पदार्थ हो जाता है । इस प्रकार ($E=MC^2$ शक्ति = द्रव्य मात्रा $\times$ १८६०००^{२}) हम द्रव्य और शक्ति के द्वैतवाद से आज द्रव्य और शक्ति के अद्वैतवाद तक पहुंच गये हैं । पर आज का मनोविज्ञान एक नया कदम उठा रहा है । अब तक हम यह मानते थे कि द्रव्य और मन दो अलग अलग पदार्थ हैं ! आधुनिक अन्वेषणां, विशेष कर के जो अमरीका के राइस इन्स्टिट्यूट में हुए हैं, अब इस बात की पुष्टि

करने लग गये हैं कि जिस प्रकार शक्ति और द्रव्य एक हैं उसी प्रकार मानस तत्त्व और भौतिक तत्त्व एक ही हैं।

बहुत पहले हमारे यहां वेदों का उद्घोष रहा है और सामवेद की छान्दोग्योपनिषद हमको बतलाती है "अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छा. ६/६/५) कि हे सोम्य, मन तो अन्नमय ही है। यह अन्न के अनुसार ही बनता है। हमारी सामान्य भाषा में भी कह दिया जाता है कि 'जैसा खावे अन्न वैसा बने मन'। इस प्रकार मन के ऊपर भौतिकत्व की दृष्टि को पहले वैज्ञानिक लोग स्वीकार नहीं करते थे। वे मन को द्रव्य से अलग मानते थे। लेकिन उन्होंने आधुनिक अन्वेषण बड़े विचित्र वैज्ञानिक ढंग से किया। उसको विस्तार से यहां बताने की आवश्यकता नहीं। जो इसके विषय में विशेष जानना चाहते हैं वे न्यू फ्रन्टियर्स ऑफ माइन्ड (New Frontiers of Mind) इत्यादि पुस्तकों में पैरा साइकॉलाजी (Para-psychology) का अध्ययन कर सकते हैं। उन्होंने पाया कि यदि मनुष्य अपने मन में किसी पदार्थ के परिवर्तन का बार बार संकल्प करता है तो उस संकल्प का प्रभाव पदार्थ के ऊपर पड़ता है। समझने के लिये एक मोटा दृष्टान्त देते हैं। उन लोगों ने यह प्रयोग किया कि चार आदमी ताश लेकर बैठ गये और ताश बांटने लगे। एक आदमी को यह काम दे दिया गया कि वह बार-बार इस बात का विचार करे कि मेरे पास अमुक ताश का पत्ता आवे। उन्होंने जब उसका प्रतिशत निकाला तो देखा कि ठीक वही पत्ता कई बार आता है। यदि एक आदमी बार-बार किसी चीज पर मन को एकाग्र करता है तो वह उस पदार्थ को प्रभावित करता है और जैसा संकल्प बार-बार किया जाता है वैसा ही होने लगता है। उन्होंने इस प्रकार के अनेक वैज्ञानिक अन्वेषण किये हैं। ये सब अन्वेषण हमें कहां ले जारहे हैं? अब तक वैज्ञानिकों की दृष्टि में जो मानस और भौतिक जगत् के अन्दर द्वैत था उसे हटाकर मन और द्रव्य की अद्वैतता के परिस्थापन में ये अन्वेषण गतार्थ हो रहे हैं। इससे एक विलक्षण बात हमारे सामने आ रही है, उस पर यहां कुछ विचार करेंगे।

मन का प्रभाव बाहर के पदार्थों पर किस प्रकार पड़ता है, जैसे इस विषय में अन्वेषण हो रहे हैं, वैसे ही मन का प्रभाव जो शरीर पर पड़ता

है उस विषय का एक बड़ा विज्ञान है जिसको आत्मदेह चिकित्सा (Psycho-somatic medicine) कहते हैं। वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि बहुत से रोग मन से सम्बन्धित हैं। मन के क्षेत्र में जब विप्लव होता है, तनाव पैदा होते हैं, संघर्ष होता है तो उनके परिणामस्वरूप शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है। मन और शरीर भौतिक हैं। शरीर एक द्रव्य है जिस पर मन का प्रभाव पड़ता चला जा रहा है। उदरव्रण (Peptic ulcer) ऊर्ध्वतिति (Hyper Tension) आदि बहुत से रोगों का अन्वेषण करके वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि वे सब मन से सम्बन्धित हैं। शरीर में अन्दर अनेक प्रकार की पीड़ाओं को, यहां तक कि दांत के दर्द और हड्डियों के दर्द तक को उन्होंने मन के साथ सम्बन्धित बताया है। जब तक मन की ग्रन्थियां नहीं सुलझ पातीं और उन रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों का मानस उपचार नहीं किया जाता तब तक इन रोगों का मूल नष्ट नहीं हो पाता है। इस पर बहुत अन्वेषण हो रहे हैं। इस के अन्दर एक सूक्ष्म बात है जो समझ लेनी चाहिये। जब कहा जाता है कि अमुक रोग मानस हैं तो उसका अर्थ यह लगा लिया जाता है कि रोगी केवल कल्पना करता होगा कि मुझे ऐसा रोग है। ऐसा समझना ठीक नहीं है। यदि किसी के पेट में दर्द है या पैर में दर्द है और उससे डाक्टर लोग कह देते हैं कि यह मानस रोग है तो इसका अर्थ यह नहीं समझना कि उसको पीड़ा है ही नहीं और वह उसकी केवल कल्पना कर रहा है। डाक्टर के कथन का तात्पर्य तो केवल इतना है कि मानस वृत्तियों से स्नायुसंस्थान विवृत होता है जो अंगविशेष में रोग पैदा करता है। ठीक जैसे कीटाणु प्रवेश रोग का कारण है वैसे यहां मानस विकार रोग का कारण है। रोग तो सर्वथा सत्य ही है।

मन का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है इसे मोटी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। जब ऐसा भोज्य पदार्थ आपके सामने आता है जिसे आप चाहते हैं तो उसी क्षण आपकी जीभ में से लार टपकने लगती है। यह क्या है? मन का जिह्वा के ऊपर असर पड़ रहा है। इसी प्रकार आपके मन का प्रभाव आपके पेट के ऊपर भी पड़ता है। और यदि सारी अन्तर्ग्रन्थियां अत्यधिक रूप से दीर्घ काल तक उत्तेजित करदी जाती हैं तो धीरे-धीरे स्वभावतः उसका नतीजा यह होता है कि शरीर के अंगविन्यास में विकृति आने लगती है

जो रोग है। ऐसे अनेक रोगों को हम देख रहे हैं जो हमारे मानस से प्रभावित होते हैं। हमारे मन के अन्दर उनका कारण विद्यमान है। यह भी हमें मानने को बाध्य करता है कि हमारे मन और शरीर के अन्दर द्वैत नहीं अद्वैत ही है।

इससे हमारे सामने यह दृष्टिकोण आता है कि हम अपने शरीर को भी तब तक ठीक नहीं रख सकते जब तक अपने मन को ठीक न रख सकें। भारतवर्ष में यह समस्या आज विशेष रूप से खड़ी हो गई है। हम बहुत बड़े बड़े अस्पताल बनाते चले जा रहे हैं। अनेक प्रकार के रोगों के इलाज के लिये हम विशेष अन्वेषण करते चले जा रहे हैं। दूसरी तरफ हमारे मानस रोगों की अभिवृद्धि होती चली जा रही है। शारीरिक रोगों का इलाज करते हुए हम इस बात को भूलते जा रहे हैं कि बहुत से शारीरिक रोगों का मूल कारण हमारे मन में विद्यमान है। यदि हम मन का परिशोधन नहीं कर सकेंगे तो जितना भी बाह्य इलाज करेंगे वह सारा परिश्रम व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। रोग के भौतिक कारण, चिकित्सा और संक्रमण इत्यादि पर अत्यधिक बल देने से रोग पलट कर नया रूप धारण करते हैं जिन्हें अंग्रजी में 'Compulsive diseases' कहते हैं। भारत में पश्चिम के इस अनुभव से लाभ उठाकर हमें नूतन रोग की इस प्रक्रिया से सावधान रहना चाहिये।

यह बहुत सूक्ष्म चीज है। इसे बहुत समझने की आवश्यकता है। भारतवर्ष के अन्दर अब तक मानस रोग अत्यन्त अल्प रहे हैं, इस बात को विदेशी वैज्ञानिकों ने भी माना है। यहां डा. आलपोर्ट आये और उन्होंने बहुत बड़े अन्वेषण किये। वे इस नतीजे पर पहुंचे कि अमरीका में अस्सी प्रतिशत लोगों में मानसिक रोग विद्यमान हैं और भारतवर्ष में बीस प्रतिशत लोगों में भी मानसिक रोग विद्यमान नहीं है। इतना बड़ा फर्क उन्होंने अपने १९२५ के अन्वेषण में प्रकट किया था। आज परिस्थिति बदलती जा रही है।

अभी थोड़े समय पूर्व बंगलौर में एक बड़े डाक्टर मानसिक रोगों के विशेषज्ञ थे। वे बतला रहे थे कि अब उनका खयाल है कि मानसिक रोगों की संख्या भारतवर्ष में ५० प्रतिशत लोगों तक पहुंच गई है। विचार करिये १९२५ से लेकर १९६० के अन्दर इतने परिवर्तन के आने का मूल कारण

क्या है ? पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने बहुत सी विचारधारायें इस विषय में प्रकट की हैं। प्रोफेसर ब्राउन ने अपनी पुस्तक सायेंन्स एण्ड इन्डिवीजुयेलिटी (Science and Individuality) में कहा है कि, यद्यपि मैं वैज्ञानिक दृष्टि से इस बात को नहीं कह रहा हूं, फिर भी यह सत्य है कि जो लोग धार्मिक परम्पराओं के अन्दर जीवित रहते हैं, और उन्हीं के अन्दर आगे बढ़ते हैं, उनमें धार्मिक परम्पराओं की अधिकता होती है और स्वभावतः मानसिक रोगों की न्यूनता रहती है। जो मानसिक रोगों की कमी उनके अन्दर देखने में आती है उसका कारण उन्होंने बतलाया कि धर्म के अन्दर एक निवारकतत्त्व (Preventive Factor) कोई ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा मानस रोग कम हो जाते हैं। वे कहते हैं कि एक वैज्ञानिक के नाते मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ। अब यदि आप समझना चाहते हैं कि धर्म किस प्रकार से मन को प्रभावित करता है तो धार्मिक लोगों को धर्म का अन्वेषण करना पड़ेगा।

अब हमारे यहां यह परिस्थिति हो रही है कि ज्यों ज्यों हम धार्मिक दृष्टि को छोड़ते चले जा रहे हैं त्यों त्यों हमारे यहां मानसिक रोगों की वृद्धि होती चली जा रही है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि हम इन बातों का अच्छी तरह अपनी दृष्टि से अन्वेषण करें।

अन्त में एक बड़ी बात सोचने की यह है कि मानसिक तनाव, मानसिक रोग होते क्यों हैं। इस पर विचार करने से हम पाते हैं कि मनुष्य जितना ही अपने आप को संसार का केन्द्र मानता है, उसकी दृष्टि जितनी ही आत्म-केन्द्रित होती है, उतना ही उस के अन्दर मानस रोगों की अभिवृद्धि होती है। क्योंकि मानस तनाव बढ़ते चले जाते हैं। जिस समाज में प्रत्येक मनुष्य केवल अपने को ही एकमात्र भोग का साधक मानता है और चाहता है कि सारे भोग केवल मुझ से ही सम्बन्धित हो जायें, मानसिक तनाव उतना ही अधिक बढ़ता चला जाता है। सन्तोष में ही मन सुखी और शान्त रह सकता है असन्तोष के अन्दर नहीं। आज धर्म से हमारी दृष्टि दूर होती चली जा रही है। जिसका परिणाम यह हो रहा है कि असन्तोष की धारा का प्रवाह बढ़ता चला जा रहा है

जैसे जैसे धर्म से हमारी दृष्टि दूर होती चली जाती है, वैसे वैसे मानस रोग बढ़ते चले जाते हैं। यद्यपि मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार की दृष्टि हमारे

सामने रखी हैं, कोई कहता है कि हमारे अन्दर की कामवासना (Sex-instinct) ही रोगों का कारण है; कोई कहता है कि मनुष्य के अन्दर समाज के नेतृत्व (Power) की इच्छा निहित है। जब यह नेतृत्व की इच्छा पूर्ण नहीं होती, समाज उसकी बात को नहीं मानता तो मनुष्य के अन्दर एक हीन भावना (Inferiority Complex) पैदा हो जाती है वह हमारे रोगों का कारण है। इस प्रकार कोई कुछ मानते हैं और कोई कुछ।

जब हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो पाते हैं कि इन सब सिद्धान्तों के अन्दर एक कमी है। वे सब समग्र मानव को संग्रहीत करके चलने को तैयार नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति की एक विशेष इच्छा होती है। व्यक्ति-वैचित्र्य को स्वीकारने पर इन सबको संग्रहीत करके एक तत्त्व के ऊपर प्रत्युपस्थापित करके ही हम एक ऐसा दर्शन दे सकेंगे जिसमें सबका समन्वय हो सके। प्रत्येक को अलग अलग लेने से प्रत्येक समाज और प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में भिन्न-भिन्न इच्छा को प्रधान पायेंगे और इनको अलग अलग लेने से दृष्टियों का समन्वय उपस्थित नहीं कर सकेंगे।

प्रोफेसर ब्राउन अपनी पुस्तक (Science and Individuality) साइन्स एन्ड इन्डिवीजुएलिटी के अन्त में लिखते हैं कि यदि हमको किसी ऐसे एक Master Instinct को ढूंढ़ना पड़ेगा तो हमको किसी एक ऐसे पूर्ण (Perfect) ब्रह्म (Absolute) की कल्पना करनी पड़ेगी जिसके अन्दर सत्यम्, शिवं, सुन्दरं (Truth, beauty and goodness) का समन्वय हो सकेगा। तभी हम एक ऐसा आदर्श अपने सामने रख सकेंगे जिसके अनुसार हम अपनी ऐसी व्यवस्था बना सकेंगे कि हमारे मन के अन्दर नवीन सन्तोष का उदय होगा और हम मानसिक तनाव से दूर होते चले जायेंगे। बचपन में हमारे आदर्श ठीक नहीं बन पाते, हमारे सामने सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का आदर्श नहीं रखा जाता। हमारे सामने कोई धन का आदर्श रखता है तो कोई समाज के नेतृत्व का, कोई संसार के अति तुच्छ भोगों की ओर हमारी दृष्टि ले जाता है और हमें यह शिक्षा दी जाती है कि संसार के पदार्थों को ही हम सब कुछ समझें। परिणाम यह होता है कि एक महान् आदर्श से हम अनुप्राणित नहीं हो पाते। जब कोई महान् आदर्श हमारे सामने नहीं होता तो हम उसके लिये प्रयत्न नहीं करते। तुच्छ पदार्थों के लिये ही प्रयत्न

करते रहते हैं । इसलिये हमारे अन्दर सन्तोष की भावना कभी पूर्ण नहीं हो पाती । इस सब का कारण हमारे बचपन की परिस्थिति होती है । हमारे बचपन के अनुभव अनेक प्रकार के होते हैं । वे हमारे अन्दर निहित हो जाते हैं । एक बड़े डाक्टर को हम तब से जानते हैं जब वह बहुत छोटा लड़का था । यद्यपि वह काफी धन कमाता था पर उसके मन में तनाव था । वह सदा दुःखी बना रहता था । उसकी पत्नी आकर हम से कहती थी कि इन्हें आप समझा दीजिये । उसको बुलाकर हमने बातचीत की । बात बहुत छोटी थी । बचपन में उसके मां बाप मर गये थे और वह मामा के घर पला था । वहां उसे स्नेह और सौहार्द नहीं मिला । जब उसको किसी चीज की कामना होती थी तो उसको अपने मुंह से कहना पड़ता था कि मुझे अमुक वस्तु चाहिये । उसके मामा बहुत बड़े व्यक्ति थे अतः मांगने पर जो कुछ वह चाहता था मिल ही जाता था, लेकिन जैसे माता-पिता स्वभावतः बगैर मांगे हुए पदार्थों को दे देते हैं वह स्थिति वहां पर नहीं थी । बड़े होने पर भी उसके अन्दर वही भावना रह गई कि हर चीज को मैं मांगू । पर अब वह इस परिस्थिति में था कि लोग उससे मांगते थे, पर उसकी पुरानी मांग की भावना हट नहीं रही थी । वह अपने पुत्र, पत्नी सबसे चाहने की इच्छा, मांगने की इच्छा, रखता था, देने की इच्छा उसके मन में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पायी थी । इसलिए वह दुःखी बना रहता था । जब उसे इस तत्त्व को अच्छी तरह समझाया कि जीवन के अन्दर दोनों हो दृष्टियों को लेकर के चलना पड़ता है, हमको देना भी पड़ता है , लेना भी पड़ता है तो उसकी दृष्टि परिष्कृत हो गई और उसके सामने यह आदर्श आया कि लेने की अपेक्षा देना बड़ी चीज है । देने में जो सुख है वह लेने में नहीं । यह दृष्टि ज्यों-ज्यों उसकी बनती चली गई उसके जीवन में परिवर्तन आता चला गया । उसकी मानसिक ग्रन्थियां शिथिल होती चलीं और अन्त में इस समय सुखी और सफल व्यक्ति बन पाया है ।

जब हमसे जीवन में बार-बार कहा जाता है कि धन ही प्रधान चीज है या सामाजिक नेतृत्व ही प्रधान चीज है तो हमारे अन्दर उसी प्रकार की भावना बन जाती है । जिसको प्रसभचिन्तन या Compulsive Thinking कहते हैं । आपने शेक्सपीयर के नाटक हेमलेट में एक पात्र के बारे में

पढ़ा होगा कि वह बार-बार हाथ धोता रहता है। इस सब के मूल में कारण है मन की एक भावना, एक ग्रन्थि, जिसे दूर करने के लिए मनुष्य बार-बार उसी प्रकार से सोचने की चेष्टा करता है और समाज में आगे नहीं बढ़ पाता। अपनी भी उन्नति नहीं कर पाता और दूसरों के लिए भी सरदर्द बन जाता है। ऐसे लोगों से प्रायः हम कह दिया करते हैं कि वह पागल है या विचित्र है। हम कभी सोचने के लिये तैयार नहीं होते कि वह एक रोग से पीड़ित है। शराबी को हम पापी कहते हैं, क्या कभी हमने यह भी सोचा कि शराब पीना एक रोग है। जो मनुष्य संसार की वास्तविकता से अपने को छिपाना चाहता है, संसार से भय खाता है, और उससे दूर होने के लिए शराब पीता है तो वह अपने आपको भूलना चाहता है। कहने को तो लोग कह देते हैं कि क्या करें समाज में रहते हैं बहुत से लोग पीते हैं इसलिए हमको भी पीना ही पड़ता है। पर बहुत से लोग पीते हैं तो आप क्यों पीते हैं ? समाज में बहुत से लोग गरीब होते हैं इसलिए आप अपना सब धन तो नहीं बांट देते, आप क्यों नहीं गरीबी को अपनाते ? आप शराब पीने में प्रवृत्त इसीलिए होते हैं कि आप संसार को देखना नहीं चाहते, उससे छिपना चाहते हैं। अपनी कमजोरियों को आप स्वयं नहीं देखना चाहते। हमको यह नहीं सोचना है कि अमुक व्यक्ति पापी है बल्कि यह देखना है कि क्या वह किसी मानस रोग से पीड़ित है ? उसके अन्दर कोई ग्रन्थि ऐसी है जिसके कारण वह समाज से भय खाता है ? हमको उसके सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित करना है कि तुम्हारे अन्दर की हीन भावना तुम्हारी अपूर्णता है। तुम अपने गुणों का प्रस्फुटन कर सकते हो, आगे बढ़ सकते हो। तुम्हें समाज से भय खाने की जरूरत नहीं; तुम्हें स्वयं अपने आप से शरम करने की जरूरत नहीं; साहसी बनो; आगे बढ़ो। तुम संसार में इतना आगे बढ़ सकते हो कि सब को पीछे छोड़ सकते हो। चाहे वह शराब पीना हो, चाहे अन्य प्रसभचिन्तन और प्रसभ-क्रिया (Compulsive Thinking and Compulsive Acting) हो, हमें उसे रोग की दृष्टि से देखना है। यहां पर वेद हमारे सामने एक बहुत बड़ा आदर्श रख रहा है। 'शं वरुणः' के द्वारा श्रुति क्या कह रही है ?

श्रुति में सामान्यतः एक शब्द एनः का प्रयोग किया जाता है। एनः भूल को कहते हैं। वैदिक धर्म की दृष्टि में हम मनुष्यों को केवल पापी और पुण्यात्मा इस प्रकार के दो हिस्सों में बांटना पसन्द नहीं करते थे। हमारी दृष्टि बड़ी विशाल है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम सोचते हैं कि मनुष्य पाप इसलिए करता है कि वह मानस रोग से पीड़ित है। यदि उसकी मानस ग्रन्थियां दूर हो जाती हैं तो फिर वह पाप नहीं कर सकता। हम पापी को रोगी मानने को तैयार हैं। उसके मन के अन्दर जो रोग है वे ही पाप रूप प्रवृत्ति करा रहे हैं। मनुष्य झूठ इसलिए बोलता है कि वह मानस रोग से पीड़ित है। वह चाहता है कि मैं झूठ बोलकर समाज के अन्दर सम्मान को प्राप्त करूं। इस झूठे सम्मान को प्राप्त करने की भावना के मूल में उसकी हीन भावना है। वह सोचता है कि यदि लोगों को इस बात का पता लग जायगा तो मेरी इज्जत कम हो जायगी। उस इज्जत को ठीक करने के लिए उचित आचरण करने का उसमें साहस नहीं है। इस साहस के अभाव से ही वह एक मानस रोग से पीड़ित है। उस रोग के द्वारा भयाक्रान्त होकर, उससे दबकर, पाप की वृत्ति को उत्पन्न करता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसकी मानस ग्रन्थियों को खोल दें, उसकी उस ग्रन्थि को हटा दें। ऐसा केवल 'तू पापी है' कहने से नहीं होगा, न केवल 'इस पाप को छोड़ दो' कहने से ही होगा। आचार्य शंकर ने 'को दीर्घ रोगो भव एव साधो' कहकर यही व्यक्त किया है। (प्रश्नोत्तरी मणिरत्नमाला)

हमारी सारी साधनाओं का मूल इच्छा-शक्ति की अभिवृद्धि है, जब इच्छा-शक्ति बढ़ जाती है तो स्वतः जिस चीज को गलत समझें उसकी प्रवृत्ति नहीं करते। इसीलिए हमारे यहां की दृष्टि का संसार के अन्य मजहबों और मत मतान्तरों की दृष्टि से आधारभूत भेद है। वे मनुष्य को पामात्मा और पुण्यात्मा इन दो हिस्सों में बांटते हैं। हम ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हम कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य पूर्ण है। कुछ गलतियां उसमें हैं तो वे रोग हैं। जिस प्रकार शरीर में यदि कोई रोग हो जाता है तो उस व्यक्ति से घृणा नहीं की जाती उसका इलाज किया जाता है। ठीक इसी प्रकार मानस रोगों से पीड़ित व्यक्ति को पाप करने की प्रवृत्ति होती है। हम इन रोगों को दूर

करने की चेष्टा करनी चाहिए। उन व्यक्तियों को केवल पापी मान कर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यह उनकी गलती नहीं है, यह तो रोग है; वे दया के पात्र हैं, घृणा के नहीं।

महर्षि पतंजलि अपने योग सूत्र में कहते हैं कि साधक को चाहिए कि पापियों के प्रति उपेक्षा का भाव तो अपने हृदय में लावे पर जुगुप्सा या घृणा का भाव कभी न लावे। लोग प्रायः कहते हैं कि पाप से घृणा करो, महर्षि पतंजलि कहते हैं—पाप से घृणा करने की जरूरत नहीं, उसकी उपेक्षा कर दो उपेक्षा मात्र से ही वह व्यक्ति सुधर जायेगा। प्रायः हम अपने जीवन में दूसरे के पाप के ऊपर अधिक ध्यान देकर उसके पाप की अभिवृद्धि के कारण बन जाते हैं, दूसरों के पाप-चिन्तन से हमारे मन में पापसंस्कार दृढ़ हों यह स्वाभाविक मनोविज्ञान का नियम है।

संसार वैसा ही है जैसा हम उसे देखना चाहते हैं। एक छोटा लड़का था। वह कभी किसी पहाड़ के ऊपर चला गया। वहां जाकर वह बड़े जोर से बोला 'अरे दुष्ट' तो वहां से प्रतिध्वनि आयी 'अरे दुष्ट'। आकर मां से कहने लगा कि मुझ से आज एक लड़के ने 'दुष्ट' कहा। मां ने कहा कि आस-पास कोई लड़का है नहीं वह तुम्हें कहां मिला। कहने लगा कि जब मैं पहाड़ पर ऊपर गया था तो वहां मैंने इस तरह से आवाज मारी तो उसने मुझे जवाब दिया। मां ने समझाया कि किसी ने जवाब नहीं दिया, यह तेरा कहना ही प्रत्युत्तरित होकर तेरे पास आया। यही संसार का रूप है। इसे सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि संसार के ऊपर जो प्रतिक्षेप करोगे, उसके प्रति जो दृष्टि बनाओगे, वही लौटकर तुम्हारी तरफ आयेगी। हमने लोगों के अन्दर पापित्व की दृष्टि बनाना शुरू कर दिया। हमने कहना शुरू कर दिया कि अमुक हीन है, अमुक नीच है, अमुक के प्रति हमें घृणा करनी चाहिए। जब हम वर्णाश्रम व्यवस्था के टूटने के मूल कारण को सोचते हैं तो यही पाते हैं कि लोगों के अन्दर एक भावना आ गई कि बाकी सब हीन हैं, नीच हैं केवल हम उच्च हैं। वर्णाश्रम भावना के अन्दर कभी भी उच्च और नींच की कल्पना नहीं थी। भगवान् कहते हैं 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गी० १८/४५)। जो कोई वर्णाश्रम में अपने कर्म को करता है वह 'संसिद्धि'

अन्त में परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। यदि भंगी झाड़ू लगाता है तो उसका काम उतना ही कीमती हो जाता है जितना कि मन्दिर में रहने वाले पुजारी का।

जब हमारी यह दृष्टि हट गई, हमने पदार्थों के अन्दर उच्च और नीच की भावना बनाली तभी से हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था भंग होने लग गई। यह हीनता और उच्चता की भावना व्यक्ति को विशृंखलित कर देती है, समाज और व्यक्ति को तोड़ देती है। ठीक इसी प्रकार हमारे अन्दर भी भावना आने लग गई कि अमुक व्यक्ति पापी है। इसका परिणाम हुआ कि हमने शराब पीनेवाले को पापी बतलाया। तो क्या हुआ? आज शराब पीने वाले तो पुण्यात्मा बन चुके हैं, पर जो शराब नहीं पीनेवाले हैं वे पापी बन चुके हैं। उनसे कहा जाता है कि वे तो out of date हो गये हैं, वे पिछड़ गये हैं और जमाने के साथ आगे नहीं बढ़ सकते। हमने मांस खाने वाले को पापी कहा। तो आज मांस खाने वाले तो भले आदमी हो गये हैं, और नहीं खाने वालों को पिछड़ा हुआ माना जाता है। वे पापी बन गये हैं। हमने उन चीजों के ऊपर व्यवस्थित दृष्टि को सामने रखकर, उनके मानस रोगों को समझकर, उनको परिवर्तित करने की कामना नहीं की। केवल एक चीज को बुरा बता कर छोड़ दिया। मानस रोग एक रोग है और केवल मानस रोग से पीड़ित व्यक्ति ही पाप करता है। जब तक हम यह नहीं समझेंगे तब तक हम न इस रोग को दूर कर सकेंगे और न जिसको श्रुति 'एन', या भूल कहती है उसी को दूर कर पायेंगे।

इस विलक्षण दृष्टि के साथ एक अन्य विचित्रता देखने में आती है। धीरे-धीरे जैसे हमारी सभ्यता आगे बढ़ती चली जा रही है वैसे-वैसे हमारे दुःखों की अभिवृद्धि होती चली जा रही है। इसका कारण भी हमें व्यक्ति के अन्दर ही ढूंढ़ना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति का विचार आत्मकेन्द्रित है—अपने आप को ही जगत् का केन्द्र मान कर चलने की प्रवृत्ति उसे इस बात को सोचने ही नहीं देती कि उसको दूसरों से भी कुछ मदद मिलती है। हम चाहे व्यापार करें, चाहे नौकरी, यह सारा संसार एक अयुत सिद्धावयव (integral) है, आपस में ऐसा संगठित शरीर है कि किसी भी एक जगह को थोड़ा सा बिगाड़ते हैं तो सारा संसार ही बिगड़ जाता है। जब तक

संसार की अयुत सिद्धावयवता हमारे सामने स्पष्ट नहीं हो जाती, उसका दृष्टिकोण बिल्कुल खुल नहीं जाता, तब तक हम संसार में कभी भी साम्य उपस्थित नहीं कर पायेंगे। न तो हम स्वयं सुखी हो सकेंगे क्योंकि अयुत सिद्धावयव में जब तक अन्य सारे हिस्से न बदल दिये जायें तब तक आप एक हिस्से को नहीं बदल सकते।

जैसे ब्रह्माण्ड में अयुत सिद्धावयवता है वैसे ही हमारे शरीर के अन्दर भी है। उसमें यदि एक फुंसी हो जाती है तो उसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। सारे शरीर का खून दौड़ कर कहां जाता है, श्वेताणुवृद्धि क्रिया को करने के लिये शरीर में बुखार चढ़ जाता है। फुंसी तो पैर में हुई है फिर बुखार शरीर में क्यों? क्योंकि शरीर अयुत सिद्धावयव है, उसमें एक जगह परिवर्तन आता है तो वह सर्वत्र उपलब्ध होने लगता है। पिण्ड की तरह ब्रह्माण्ड भी अयुत सिद्धावयव है। यदि एक जगह हम गलती करते हैं तो वह गलती फैलती ही चली जाती है।

इस दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि जिसको हम पापी कह रहे हैं उसे पापी बनाने में हमारा भी योग है। बाइबिल में एक बड़ी अच्छी कथा आती है। एक बार किसी पापी को मारने के लिये लोग पत्थर उठाने लगे थे। उस समय ईसा मसीह उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि पहला पत्थर वही मारे जिसने स्वयं पाप न किया हो। जरा विचार करिये। जब हम किसी को पाप करते देखते हैं तो प्रथम विचार हमारे मन में आना चाहिये कि क्या इस प्रकार की गलती हमने कभी नहीं की। यदि इस जन्म में नहीं की तो भी यह देखना चाहिये कि क्या इस प्रकार के संस्कार हमारे मन में नहीं हैं। जो पाप नहीं करते, जो विचार शील हैं प्रायः ऐसे बहुत से लोगों के मन मेंभी पाप आया जरूर करता है। वे झूठ बोलते नहीं, पर मन में कल्पना जरूर होती है कि यदि इस समय झूठ बोल जायें तो। उनकी शिक्षा और संस्कृति ऐसी होती है कि वे अपने आप पर नियन्त्रण कर लेते हैं। लेकिन संकल्प का उठना इस बात को बता रहा है कि पूर्व अनुभव, पूर्वजन्मों में यह पाप हुए हैं। यदि पाप न हुए होते तो यह संकल्प ही नहीं उठता।

जब हम स्वयं उसके द्वारा बद्ध हो रहे हैं, वह दोष स्वयं हमारे अन्दर है तो हम केवल दूसरे को कैसे दोषी करार देवें। यदि हमारे अन्दर कोई

अपराध है तो हम उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं, अपने आप से दूर भाग नहीं सकते। ठीक इसी प्रकार यदि अन्य व्यक्ति के अन्दर हमको कोई दोष नजर आता है तो हमें उससे भागने की जरूरत नहीं है। हमको उसमें एक नये दृष्टिकोण को लाने की जरूरत है, उस व्यक्ति में एक परिवर्तन लाने की जरूरत है। उसके लिये प्रयत्न करना ही हमारे लिये कर्तव्य हो जाता है।

अतः शास्त्र हमारे सामने केवल पाप को नहीं रखता, पाप के सुधार को, प्रायश्चित्त को भी रखता है। वह पाप को एक रोग बताता है और उसको दूर करने के लिये हमारे सामने एक आदर्श रखता है। यह बात किसी भी अन्य धर्म या मतमतान्तर में नहीं मिलती। क्योंकि अन्य धर्मों में द्वैतवाद है। वह माने वैठे हैं कि पाप और पुण्य सर्वथा अलग २ चीजें हैं, परमेश्वर और शैतान दो अलग अलग चीजें हैं और कुछ व्यक्ति परमेश्वर की तरफ जाते हैं तो कुछ व्यक्ति शैतान की तरफ। लेकिन हम जिस दृष्टि को अपनाते हैं उसमें संसार में केवल एक ही पारमेश्वरी शक्ति है। गलती से हम उससे दूर हो सकते हैं, पर सभी लोग जब तक वहाँ पर नहीं पहुँचेंगे, चाहे वह किसी रास्ते से पहुँचें—चाहे सीधे, चाहे टेढ़े रास्ते से—तब तक हमें शान्ति और सुख की उपलब्धि हो नहीं सकती।

इसीलिए हमारे यहां न तो कोई ऐसा स्थल है जो नित्य स्वर्ग होवे, न कोई ऐसा स्थल है जो नित्य नरक होवे। हमारे यहां भी स्वर्ग और नरक की कल्पना है लेकिन उनमें तभी तक रहना होता है जब तक पुण्य और पाप का भोग समाप्त न हो जाय। दूसरों के यहां अनन्त स्वर्ग या अनन्त नरक की कल्पना है। वे यह मानते हैं कि यदि किसी ने गलती करली तो उसका फल नित्य मिलेगा और यदि किसी ने शुभ कर्म कर लिया तो नित्य फल ही स्वर्ग में मिलेगा। हम लोग कहते हैं कि जब आप कोई भी काम करते हैं तो वह कार्य ही स्वयं अनित्य है, थोड़े समय के लिए हुआ है, तो उसका फल कभी भी नित्य नहीं हो सकता, अतः नास्त्यकृतः कृतेन (मुण्ड) कृतक अर्थात् जो किया जाता है, वह कभी नित्य फल को उत्पन्न नहीं कर सकता। चाहे वह पाप हो चाहे वह पुण्य। इस दृष्टि से नीचे गिरा हुआ व्यक्ति भी वस्तुतः नीची सीढ़ी के ऊपर है और आगे बढ़ने के लिए तैयार है। हो सकता है कि वह इतनी तेजी से बढ़े कि आप पीछे छूट जायें। विशेषकर बड़े-बड़े सन्तों के जीवन में

एक विलक्षण बात देखने में आती है । जीवन के आद्य भाग में उनमें हम बड़ी पाप की स्थिति देखते हैं । एक बड़ी भारी हीन, गिरी हुई स्थिति से फिर अकस्मात् कोई परिवर्तन आ जाता है ।

हम पहले कह आये हैं कि हमारे यहां 'अकस्मात्' नामक कोई पदार्थ नहीं है, हम संगवादी हैं दैववादी नहीं । अतः कोई संग ऐसा मिल गया । कोई ऐसा सम्बन्ध हो गया कि उनके जीवन में सर्वथा परिवर्तन हो गया-ऐसा परिवर्तन हो गया कि पुण्य के मार्ग में धीरे-धीरे चलनेवाले अन्य सब लोगो को पीछे छोड़कर वह सबसे आगे बढ़ गया । इसमें कारण है इच्छा शक्ति की प्रबलता । जिसमें इच्छा शक्ति प्रबल होती है वह पाप भी अधिक कर सकता है तो पुण्य भी अधिक कर सकता है । प्रायः यह देखा जाता है कि दृढ़ बुद्धि वाले लोग यदि वास्तिक होते हैं तो दृढ़ नास्तिक होते हैं, और यदि किसी कारण से आस्तिक बन जाते हैं तो दृढ़ आस्तिक बन जाते हैं, जो ढीले-ढाले आस्तिक होते हैं वे ढीले ढाले नास्तिक भी होते हैं ।

प्रायः हम अपने जीवन में इसीलिए आगे नहीं बढ़ पाते । हम देखते हैं कि हमारी इच्छा-शक्ति बिल्कुल हमारे हाथ में नहीं है और परिणाम यह होता है कि जैसी हवा आती है वैसे हम परिवर्तित हो जाते हैं । हमारे अन्दर वह दृढ़ता नहीं आ पाती जिसको लेकर हम पूर्ण रूप से आगे बढ़ सकें, स्वयं अपने जीवन को परिवर्तित कर सकें और अपने साथ वालों को भी परिवर्तित कर सकें । संग मिलने पर भी हम तभी लाभ उठा सकेंगे जब हमारी इच्छा-शक्ति में प्रबलता होगी । इसीलिए महापुरुष दूसरे की इच्छा-शक्ति को मजबूत करने की चेष्टा करते हैं कभी दूसरे की इच्छा-शक्ति को कमजोर करने की चेष्टा नहीं करते । आचार्य अभिनवगुप्त मालिनी-तन्त्र के वार्तिक में कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति दृढ़ता पूर्वक काम करता है तो वह अपनी इच्छा-शक्ति को प्रबल कर रहा है, एक दिन वह सम्भवतः उसी के द्वारा आगे बढ़ सकेगा ।

साधारण जीवन में भी हम पाते हैं कि आदमी पहले चिड़िया के ऊपर निशाना लगाना सीखता है, ताकि कभी युद्ध हो तो अपने अचूक निशाने से शत्रु का भी संहार कर सके । चिड़िया को मारना बुरी चीज है पर आत-

तायी शत्रु को मारने का शास्त्र अधिकार देता है। चिड़िया को मारने में वह गलती कर रहा है। उचित यह था कि निरीह प्राणियों के ऊपर शस्त्र प्रयोग न करके किन्हीं अन्य प्रकार के जड़ पदार्थों को अपना निशाना बनाता। इस गलती को करने पर भी जब उसका निशाना सध गया तो वह उसका सदुपयोग कर सकता है। शास्त्र में अनेक बार आता है कि एक मनुष्य बार-बार हत्या करता रहा, अकस्मात् किसी कारण से उसने किसी योग्य पुरुष की रक्षा कर दी, किसी गौ, या ब्राह्मण की रक्षा कर दी, तो फलस्वरूप बड़ा पुण्य उत्पन्न हो गया। इन सब कथाओं का रहस्य क्या है ? इनका बाहरी स्वरूप जो भी हो, आभ्यन्तर अर्थ यह है कि यदि हम अपनी शक्तियों का दुष्प्रयोग दृढ़ता से करते हैं तो भी बाद में उनका सत्प्रयोग होने से हम आगे बढ़ सकते हैं। पर ध्यान रहे कि सुप्रयोग हो जाय। उत्तम पक्ष तो यही है कि शक्तियों का सदा सत्प्रयोग हो, दुष्प्रयोग किया ही न जाय। तब उनकी पुष्टि सर्वथा अच्छी तरह होगी और हमारे ऊपर दोष की आपत्ति भी नहीं आयेगी। लेकिन इतना तो हमको मानना ही पड़ेगा कि जब हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति अत्यन्त पाप में रत था फिर उसमें एकाएक परिवर्तन आ गया तो हम कहने लगते हैं कि इस पर परमेश्वर की विलक्षण दया हो गई। यहां तक कल्पना कर लेते हैं कि परमेश्वर के अन्दर वैषम्य दोष है, क्योंकि किसी के ऊपर अकारण कृपा कर देता हैं। बहुत से लोग तो हाथ पर हाथ धर के भी बैठ जाते हैं कि अमुक के ऊपर परमेश्वर की कृपा होगई तो किसी न किसी दिन हमारे ऊपर भी हो ही जायेगी :

विचार की दृष्टि से देखिए तो ऐसा नहीं होता। यद्यपि वह पापी था, लेकिन उसने अपनी कुछ शक्तियों को इस प्रकार का बना लिया कि जब उसके अन्दर परिवर्तन आया तो सर्वथा परिवर्तन आ गया। जब हम किसी व्यक्ति को नीचा देखते हैं तो यह नहीं कह सकते कि चूंकि वह हमसे नीचा है इसलिए सर्वदा ही नीचा रहेगा। सम्भवत: समय आने पर वह हमसे भी आगे बढ़ जायेगा। जब इस दृष्टि को लेकर चलते हैं तो हमारे अन्दर कभी भी दूसरे के प्रति हीनता की भावना नहीं आयेगी। हम आत्म-केन्द्रित नहीं बनेंगे, अपने को ही संसार का केन्द्र नहीं मानेंगे। न यह सोचेंगे कि सारी चीजों की श्रेष्ठता का हमारे अन्दर ही आविर्भाव होना चाहिए। एक अयुत-

सिद्धावयव दृष्टि को लेकर हम सब की श्रेष्ठता में अपनी श्रेष्ठता को देखेंगे और अपनी श्रेष्ठता में सब की श्रेष्ठता को देखेंगे।

इस आदर्श को श्रुति हमारे सामने रखती है। प्रायः लोग यह समझते हैं कि हम श्रेष्ठ प्राणी हैं। श्रुति कहती है कि तुम्हारी श्रेष्ठता में जितना भी जड़ और चेतन जगत् है सबने मदद की है। अतः तुम्हारी श्रेष्ठता के अन्दर सबकी श्रेष्ठता है। कहीं भी यदि तुमको श्रेष्ठता प्रतीत होती है, तो उस श्रेष्ठता का तुमको भी एक अंश मिलता है, तुम भी उसके द्वारा सम्बन्धित हो जाते हो। इस व्यष्टि और समष्टि की श्रेष्ठता की दृष्टि को शास्त्र—विशेषकर श्रुति—हमारे सामने रखती है।

महर्षि पतंजलि ने इससे एक सूत्र बनाया है कि किसके प्रति क्या दृष्टि करें। मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्।·(यो० सू० १/३३) जब हम किसी को हर्ष में देखते हैं तो प्रायः ईर्ष्या करने लग जाते हैं। हम सोचने लगते हैं कि यह इतना सुखी है, मैं क्यों नहीं हूँ? वह ईर्ष्या का भाव हमें बिना कारण जलाता है। दूसरे की अभिवृद्धि हो गई है, उसका वेतन हजार रुपया है, उसको बड़ा पद मिल गया तो तुम्हारा क्या? यदि कहो हमारा तो नुकसान हो गया, हम को पद नहीं मिला, तो ईर्ष्या करने से तुम्हें मिल तो नहीं जायेगा। तुम अपने को जला रहे हो, उसके प्रति दुर्भावनायें बना रहे हो। इससे तुमको क्या लाभ होगा? अपनी उन्नति के लिए तुम प्रयत्न करो, यह तो ठीक है, लेकिन ईर्ष्या का क्या मतलब? यदि किसी को आगे बढ़ते देख यह भाव उत्पन्न हुआ कि इसी तरह हम भी प्रयत्न करके अपनी उन्नति करें तब तो ठीक है। केवल यह सोचना कि यह क्यों आगे बढ़ गया ईर्ष्या का द्योतक है। वह न केवल हमको जलाती है बल्कि उससे दूसरे के हृदय में भी हमारे प्रति वैसा ही भाव बन जाता है, और हम भी दूसरों की ईर्ष्या के पात्र बन जाते हैं। दूसरे जब हमसे ईर्ष्या करते हैं तो हम उसको सहन नहीं कर पाते हैं।

प्रारम्भ ही में कह चुके हैं कि संसार एक प्रतिध्वनि है। जैसे हमारे हृदय के अन्दर भाव बनते हैं वैसे ही संसार के अन्दर भाव बनते चले जाते हैं। एक राजा एक बार घूमने निकला। एक चौराहे के सामने निकला तो अक-

स्मात् एक मकान को देखकर मन्त्री से बोला कि इस मकान को तुड़वा दो। मंत्री ने कुछ दिनों बाद राजा से कहा कि महाराज ! वह मकान एक गरीब बनिये का है, क्यों तुड़वा दें ? राजा ने कहा, पता नहीं मैंने उस समय ऐसा आदेश क्यों दिया। फिर दो चार महीने के बाद राजा उसी तरफ से निकला। उसी मकान को देख कर गाड़ी रोक ली और कहने लगा मंत्री, मैंने तुम से कहा था कि यह मकान तुड़वा देना। अभी तक तुमने तुड़वाया नहीं। मंत्री बोले, "हुज़ूर ! मैंने चार दिन बाद आपसे पूछा था तो आप बोले रहने दो"। राजा बोला "अच्छा मैंने ग़लती से कह दिया होगा, कल इसको जरूर तुड़वा देना। यह मेरा निश्चित आदेश है"। मंत्री बड़े चक्कर में था। उसने बनिये से पूछा ठीक-ठीक बताओ क्या तुम कभी किसी अपराध में पकड़े गये थे ? वह बोला "नहीं, मैंने कभी कोई अपराध नहीं किया"। दूसरे दिन मंत्री राजा से बोला "राजन् ! मुझे उसका कोई अपराध प्रतीत नहीं होता। ऐसे गिराने से तो बदनामी हो जायेगी आप क्यों उस मकाम को तुड़वाना चाहते हैं" ? राजा ने कहा "अच्छा जाने दो"। दो चार महीने बाद राजा फिर उधर से निकला, तो क्रोध में आकर बोला, मंत्री ! मैं कई बार कह चुका हूँ तुम इस मकान को तुड़वा दो, तुम नहीं तुम तुड़वाते हो, अब आज शाम तक ही इस मकान को तुड़वा दो। यह मेरा आदेश है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह न करना। मंत्री विचार करने लगा बात क्या है, फिर बनिये के पास गया, और पूछा तुम काम क्या करते हो, कहने लगा लकड़ी बेचता हूं, लकड़ी की टाल मेरे पास है। तुमने अभी कोई विशेष लकड़ियाँ खरीदी हैं ? हां साल भर पूर्व चन्दन का माल मंगवाया था।

बात यह थी कि साल भर पूर्व राजा की तबियत खराब हो गई थी, उसने सोचा संभवतः राजा मर जायेगा तो चन्दन की आवश्यकता पड़ेगी। यदि माल पास में होगा तो मन चाहा दाम लगा कर उस लकड़ी को बेच सकेंगे। पर राजा ठीक हो गया। अब वह मन में विचार करता रहता था कि राजा तो ठीक हो गया और मेरी इतनी पूंजी चन्दन की लकड़ी में फंस गई। इसका व्याज भी आयेगा कि नहीं, और चन्दन की लकड़ी खरीद ही कौन सकता है ? कब राजा मरे, कब हमारा माल बिके ?

यह उतने स्थूल रूप से उसके मन में नहीं था कि राजा मर जाय लेकिन सूक्ष्म रूप से उसकी वृत्ति कह रही थी कि यदि राजा मर जाय तो अच्छा हो, मेरी रकम वापस आ जाय। इसीलिये राजा जब उधर से निकलता था तो उसके मन में भाव आता था कि यह मेरा दुश्मन है, इस को खत्म करदें। राजा के मन में यह भाव स्थूल रूप से नहीं था। उसको पता ही नहीं था कि उसके मन में यह भाव क्यों आता है। आप भी अपने जीवन में अनेक बार देखते हैं कि किसी व्यक्ति से मिलने पर आपको उस पर क्रोध आता है, बिना कारण ही झुंझलाहट आती है। आप समझते हैं कि यह आदमी अच्छा नहीं है। बहुत से व्यक्ति कहते हैं, "महाराज ! इस व्यक्ति को देखते ही हमारे मन में हो गया कि यह बदमाश आदमी है"। उसका मूल क्या था ? क्योंकि वह स्वयं किसी न किसी से ईर्ष्या करता है। वह स्वयं जब दूसरे के ऊपर ईर्ष्या करता है तो उसके ऊपर भी दूसरे को ईर्ष्या होने लग जाती है।

यह विश्व एक संग्रथित तत्त्व है, एक अयुत सिद्धावयव है। एक का असर दूसरे पर पड़ता है। प्रायः हरेक आदमी दूसरे की निन्दा करता है। क्यों करता है ? लोगों को इस बात का बड़ा आश्चर्य होता है। जब लोग आकर कहते हैं कि अमुक आदमी अमुक की निन्दा करता है तो हम कहते हैं "तुम भी तो दूसरों की निन्दा करते हो"। क्योंकि सब एक दूसरे की निन्दा करते हैं, एक दूसरे की ईर्ष्या से प्रभावित होते हैं, सब एक दूसरे से जलते रहते हैं इसलिए लोगों ने इसको स्वभाव मान रखा है कि ऐसा होना स्वाभाविक है।

लेकिन शास्त्र हमारे सामने दूसरी दृष्टि रखता है। वह कहता है कि दूसरों की ईर्ष्या के पात्र तुम जब बनो तो तुरन्त समझलो कि तुम किसी दूसरे को अपनी ईर्ष्या का पात्र बना रहे हो। यदि तुम अपने मन से ईर्ष्या को निकाल दोगे तो दूसरों की ईर्ष्या के पात्र तुम नहीं बनोगे। उपर्युक्त राजा का किस्सा हमारे साथ प्रति दिन होता चला जा रहा है। जब हम अपने को आत्म-केन्द्रित मानते हैं, समझते हैं कि हम विश्व के केन्द्र हैं, तो सभी लोग अपने को विश्व का केन्द्र मानने लगते हैं और संघर्ष अवश्यम्भावी हो जाता है हमारे मानसिक तनाव बढ़ते चले जाते हैं।

उनकी निवृत्ति का उपाय हमको नहीं मिलता। वेद कहता है कि इस द्वैत दृष्टि का अपहरण करो। तुम सारी सृष्टि को एक समझ कर चलो। जब किसी को पापी देखो तो यह भावना न रखो कि वह पापी है, बल्कि देखो कि इसके अन्दर एक मानस रोग है। वह मानस रोग मेरे अन्दर भी है। हो सकता है कि उसके अन्दर ज्यादा है और मेरे अन्दर कम लेकिन यह भी सम्भव है कि मेरे अन्दर कोई अन्य रोग इससे भी अधिक हो। वे रोग मुझे प्रतारित कर रहे हैं। मैं इनसे घृणा किस प्रकार कर सकता हूं ? इसलिये महर्षि पतंजलि कहते हैं 'मुदिता'। दूसरे को हर्ष से देखो, दूसरे को सुखी देखो। अपने मन में प्रसन्न होओ और इस भाव को उत्पन्न करो कि कम से कम यह व्यक्ति तो संसार में प्रसन्न है, यह तो हर्ष का केन्द्र है। यदि यह खुश है तो कम से कम यह तो एक ऐसा व्यक्ति है जिसके साथ हमारी कोई लड़ाई नहीं होगी क्योंकि सुखी व्यक्ति की लड़ाई किसी दुखी व्यक्ति से नहीं हुआ करती है। मान लीजिये कांग्रेस का एक बड़ा पंडाल बना हुआ है जिसमें कई मंत्री और प्रधान मंत्री बैठे हुए हैं। वहां यदि एक स्वयं-सेवक लोगों को पानी का गिलास पिला रहा है तो वह प्रधान मंत्री की ईर्ष्या का पात्र नहीं बन सकता कि मुझे तो लोगों को पानी पिलाने को नहीं मिल रहा है। यदि उसकी ईर्ष्या के पात्र कोई बन सकते हैं तो समान पद वाले जो प्रधान मंत्री बनना चाहते हैं। आपको कभी भी अपने नौकर के प्रति ईर्ष्या नहीं होती है क्यों कि वह अति तुच्छ है। अतः जब आप दूसरे को बहुत बड़ा देखते हैं, हर्ष वाला देखते हैं तो मुदिता होनी चाहिये कि कम से कम यह तो एक ऐसा व्यक्ति है जो हर्ष से भरा हुआ, सुखी और सन्तुष्ट है। कम से कम मुझे तो इस व्यक्ति से कभी ईर्ष्या का भय नहीं। प्रसन्न होना चाहिये। दूसरे को प्रसन्न देख कर स्वयं प्रसन्न होना, ईर्ष्या की भावना न आने देना ही मुदिता है।

जब अपने से किसी निम्न को देखें तो इस दृष्टि को न बनने देवें कि यह पापी है, हीन है बल्कि उसके प्रति उपेक्षा की भावना को अपनावें। पापी के प्रति दो प्रकार की भावनायें होती हैं। प्रायः घृणा की भावना होती है और उसको पददलित करने की भी भावना होती है। कोई आदमी दूसरे की गलती को देखता है तो दुनियां भर में प्रकाशित करना चाहता है कि उसने

यह बात गलत कर दी। विचारशील कभी ऐसा नहीं करता। दूसरे की गलती को प्रकाशित करने से क्या लाभ ?

कुछ दिन पूर्व एक सज्जन ने आकर हमें सुनाया कि अमुक आदमी हमारी निन्दा करता है। हमने कहा "वह हमें तुम से अधिक प्रिय है"। कहने लगे क्यों ? हमने कहा क्योंकि उसने यदि हमारे ऊपर पत्थर मारा तो वह दूर गिर गया था, मेरे हृदय पर आकर नहीं लगा। तुमने फिर उस पत्थर को लाकर छाती पर मार दिया। तुमने यह हमें इसलिये सुनाया कि हम अच्छा नहीं मानेंगे कि अमुक व्यक्ति मेरी निन्दा करता है। पर इसे जान कर हमको फायदा क्या था ? यदि उसके मन में मेरी निन्दा का विषय रहा है तो तुमने मुझे बता कर मेरे अन्दर उसके प्रति बुरा भाव भरने की चेष्ट की; उससे तो उसने मेरा जो नुकसान करने की चेष्ट की थी वह अत्यल्प थी। यदि वह मेरी निन्दा दूसरे से करता है तो मेरे प्रति दूसरे में बुरी भावना हो सकती है पर मेरा मन तो शान्त था। तुम मेरे मन को असुखी बनाने आये हो अतः तुम मेरे अधिक दुश्मन बने, वह नहीं।

लोगों ने उल्टा मान रखा है कि प्रिय व्यक्ति वह है जो मुझे आकर यह बताता है कि दूसरे मेरी निन्दा कर रहे हैं। तुम को क्या मतलब कि दूसरे तुम्हारे विषय में क्या कह रहे हैं, न तुम्हारा कोई लाभ, न तुम्हारी कोई हानि। यह एक दृष्टि है। इसको अपनाते ही पापी के प्रति उपेक्षा की दृष्टि हो जाती है। उसकी तरफ से दृष्टि हट जाती है। न हम उसको पद दलित करना चाहते हैं; न हम उसको दबाना चाहते हैं; न हमारे मन में उसके प्रति घृणा की भावना उत्पन्न होती है, न हम उसको बुरा मानते हैं।

पतंजलि कहते हैं मुदिता, उपेक्षा और करुणा। करुणा तब होती है जब हम ऐसे व्यक्तियों को देखते हैं जो रोगों से पीड़ित हैं, दुखित हैं। यहां मानस और शारीरिक दोनों प्रकार के रोग समझ लेने चाहिये। धन इत्यादि के द्वारा कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति को जब हम देखें तो उस समय हमारे मन में घमण्ड की भावना आती है कि हम को तो वह दुख नहीं है। उस समय भावना आनी चाहिये थी करुणा की कि अरे, यह दुखी है इसको दो प्रेम के शब्द कह दें ! किसी के दुख को देख कर आप कह दीजिये कि तेरे ऊपर बहुत दुख पड़ा तो उसका मन शान्त हो जाता है। आपका कुछ लगता नहीं। यह करुणा का

भाव आपको आगे भी बढ़ाता है । आपके मन में दुःखी के प्रति जो करुणा है उसकी प्रतिध्वनि आपके ऊपर भी आयेगी । जो दूसरों के ऊपर करुणा करेगा उसके ऊपर जब कष्ट आयेगा तब उसको भी करुणा मिलेगी, तब संसार के अन्दर उसको भी एक मरहम मिलेगा, जिसके अन्दर बड़े से बड़ा दुख ढक जाया करेगा । जो ऐसा नहीं करता है, जो दूसरों के ऊपर करुणा नहीं दिखलाता है उसके जीवन में जब कभी उसके ऊपर कष्ट आता है उसके अच्छे से अच्छे मित्र छोड़ कर चले जाते हैं ।

बहुत से व्यक्ति कहते हैं स्वामी जी हमने दूसरों का बहुत कल्याण किया, दूसरों को बहुत फायदा पहुंचाया लेकिन जब हमारे ऊपर आपत्ति आयी तो वे सब हमारे दुश्मन हो गये । हम प्रायः उनसे कहा करते हैं 'भाई' ! तुम अपना मन टटोल कर देखो । तुमने जो दया दिखाई थी उसमें घमण्ड का भाव था । तुम सोच रहे थे कि मैं उसके ऊपर दया कर रहा हूँ, अतः वह मेरा हमेशा कृतज्ञ बना रहे । तुम यह समझ रहे थे कि मैंने इसका बड़ा उपकार किया है । तुम्हारे हृदय में करुणा का भाव नहीं था । यह भाव नहीं था कि इसका उपकार किये बिना मैं रह नहीं सकता हूँ । जब हमारे अन्दर करुणा का भाव होता है तो दूसरे के कष्ट से हमें दुःख होता है । वाशिंगटन के जीवन की एक घटना है । वे एक बार कहीं जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक सूअर कीचड़ में फंसा हुआ तड़प रहा है । वे अपनी घोड़ा गाड़ी से नीचे उतर पड़े और बड़े परिश्रम के द्वारा उन्होंने उस सूअर को बाहर निकाल दिया । जब वे राष्ट्रपति भवन में पहुंचे तो लोगों ने देखा कि कीचड़ से लथ-पथ हैं । सारी बात शहर में फैल गई । लोगों ने आकर जब उनको मुबारक-बादी दी कि आपके हृदय के अन्दर कितनी दया भरी हुई है तो कहने लगे कि मेरे अन्दर दया नहीं है, बल्कि उसे उस दुःख की अवस्था में देखकर यदि मैं चला आता तो मेरे मन को दिन भर दुःख होता रहता कि उस सुअर की क्या हालत हुई होगी । मैंने सोचा कि कपड़े ही तो गन्दे होंगे, यदि मैं आधा घंटा परिश्रम कर लूं तो कहीं अच्छा है बजाय इसके कि दिन भर बैठा हुआ उसकी चिन्ता करता रहूँ । मैंने अपने मन को शान्ति देने के लिये यह काम किया, किसी पर दया करने के लिये नहीं ।

यह है करुणा का भाव । जब हम देखते हैं कि हम जिन पर उपकार कदते हैं, जिनके ऊपर दया करते हैं, धन देते हैं, सब कुछ करते हैं, वे अंत

में हमसे सहयोग नहीं करते बल्कि विरोधी बन जाते हैं तो हम इसीलिये दुःखी होते हैं कि हमने वास्तव में उनके प्रति करुणा का भाव नहीं रखा था। आप यह समझते थे कि मैं बड़ा हूँ इसलिये इसके ऊपर उपकार कर रहा हूँ। तो अब इसके मन में भी वही भाव आया कि इसके पास उपकार करने को धन था तब इसने उपकार किया, आज यह दुःखी है तो रहने दो, हमारा क्या ? यह दृष्टि क्यों आई ? यदि आपके अन्दर वास्तविक करुणा होती तो करुणा की प्रतिध्वनि मिलती। आज हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में करुणा की भावना का अन्त होता चला जा रहा है। इससे एक सामाजिक दृष्टि भी सम्बन्धित है।

इसे संक्षेप में समझ लीजिये। हमारे यहां सामाजिक परिस्थिति यह बन गई है कि हमने करुणा का सारा भार राज्य के ऊपर देना स्वीकार कर लिया है। हमने राज्य को भूति (Welfare State) मान लिया है हमारा राज्य सारी करुणा का कार्य करे, हम न करें। इसलिये हम सारा धन देते हैं राज्य को और राज्य उसको वितरित करता है। आज विलक्षण चीज देखने में आती है। यदि सरकार बाध्य करती है तो हम अपने नौकरों का वेतन बढ़ाने के लिये तैयार हैं। हम अपनी तरफ से बढ़ाने के लिये तैयार नहीं। सरकार को हम टैक्स देंगे। उससे सरकार ही मजदूरों के लिये मकान बना देगी लेकिन हम यह करने को तैयार नहीं कि पहले ही मजदूरों के उपर इतना खर्च करदें कि हम को सरकार के पास जाने की जरूरत न पड़े। हम यह नहीं कह रहे हैं कि केवल व्यापारी ही इसके अपराधी हैं। यह सामाजिक दृष्टि ही अपराधी है कि हम राज्य को केन्द्र बनाते चले जा रहे हैं। यह बड़ी गलत दृष्टि है। इसमें करुणा उत्पन्न नहीं हो पाती।

इसीलिये राज्य चाहे जितना उपकार करे, फिर भी लोगों के मन में राज्य के प्रति यह सद्भावना उत्पन्न नहीं हो पाती है। हम यह नहीं कहते कि हमारे राजागण उत्तम कार्य करने के लिये परिश्रम नहीं कर रहे हैं। लेकिन उसका फल क्यों नहीं होता ? लोगों के अन्दर क्यों विपरीत भावना बनती चली जा रही है ? क्यों कि राज्य हृदयहीन पदार्थ है एवं राजपुरुष के हृदय में करुणा नहीं है। उनके हृदय के अन्दर एक दूसरी दृष्टि है। वह यह कि हम इनके ऊपर उपकार करते हैं, ये हमारे उपकार को मानें और हमारी वाहवाही करें।

पर मनुष्य का स्वभाव है कि जब इस प्रकार के उपकार को प्राप्त करता है तो उसके विरुद्ध विप्लव करता है। वह नहीं चाहता कि यह अनुभव करे कि कोई मेरे से उच्च है। जब माहात्म्यभाव (Superiority Complex) आता है तो उसकी प्रतिक्रिया अपने ऊपर आती है कि मैं हीन हूं। ऐसा हीन भाव (Inferiority Complex) स्वाभाविक है। ये दोनों आपस में मेल नहीं रख सकते। अतः करुणा की भावना को बढ़ाने की जरूरत है।

सारे सामाजिक जीवन को देखिये। यदि कहीं बाढ़ आती है तो यह भावना नहीं होती कि हम जाकर बाढ़ पीड़ित को एक धोती दे आयें। हम चाहते हैं कि एक चैक काट कर किसी संस्था को दे दें। उस संस्था वाले नौकर को रख कर वहां धोती बांट आयें। परिणाम क्या हुआ ? आपने दिया अवश्य, पर जिसे मिला उसे करुणा द्वारा नहीं मिला। तो नतीजा वही होता है कि सब कुछ आप करते हैं फिर भी लोग आपके उपकार को नहीं मानते। यही चीज घर के अन्दर भी होती है। केवल समाज में या राष्ट्र में ही नहीं, व्यक्ति के जीवन में भी यही होता है। पति पत्नी को कुछ देना चाहता है इस कारण नहीं कि मेरी पत्नी है इस लिये दे दूं। उसके अन्दर भी यही दृष्टि होती है कि वह अच्छा कपड़ा पहनेगी तो समाज में मेरी अच्छी स्थिति बनेगी। पति पत्नी, पिता और पुत्र में इन विचारों का संग्रह होता चला जा रहा है। नतीजा क्या होता है ? सब कुछ होता है, पर सब कुछ करने पर भी जो प्रेम का भाव होता है वह नहीं बन पाता।

पतंजलि ने मुदिता, करुणा और उपेक्षा का विधान किया। यदि इनको अपना कर हम आगे चलते हैं तो हमारे मानस तनाव दूर हो सकेंगे। मानस रोगों से ही हमारे शरीर में रोग आते हैं। आज अनेक रोग आते चले जा रहे हैं। जहां देखो वहीं सुनने में आता है कि उनकी हृदय गति बन्द हो गई। हृदय रोगों का सम्बन्ध वैज्ञानिक दृष्टि से मानस जगत् के साथ सिद्ध हो चुका है। उसी प्रकार और भी कई रोग आज आते हैं—जैसे एक्जिमा। स्थूल रूप से इसे हम शारीरिक रोग समझते हैं। पर इसके बारे में भी वैज्ञानिकों ने अन्वेषण करके सिद्ध कर दिया है कि इसका सम्बन्ध मानस जगत् के साथ है।

मन के अन्दर किसी प्रकार का तनाव ही इन शारीरिक रोगों में अभिव्यक्त होता है। जिनको हम अत्यन्त स्थूल रोग समझते हैं उनका सम्बन्ध भी किन्हीं मानसिक तनावों के साथ है।

जब हमारी दृष्टि धार्मिक बनती है, विशाल बनती है, आत्म-केन्द्रित न रह कर परमात्म-केन्द्रित हो जाती है, जब हमारी दृष्टि के अन्दर सारा विश्व एक अयुत सिद्धावयव बन जाता है तो हम मानसिक तनावों से छूट जाते हैं। मुदिता, करुणा और उपेक्षा के द्वारा हमारे अन्दर एक ऐसी दृष्टि बन जाती है, एक ऐसा जीवन-दर्शन बन जाता है कि स्वभावतः हम रोगों से मुक्त हो जाते हैं। हम स्वयं भी सुखी हो जाते हैं और जिनके साथ रहते हैं उनको भी सुखी कर सकते हैं।

'शं वरुणः' द्वारा, केवल, पाप की दृष्टि नहीं, पाप के शोधक वरुण की दृष्टि को हमारे सामने शास्त्र रख रहा है। इसको लेकर हमें आगे चलना है।

यदि आप किसी कमरे को साफ करना चाहते हैं तो कैसे साफ करेंगे ? झाड़ू से। तो जब तक आप झाड़ू नहीं बनेंगे तब तक आप किसी कमरे को कैसे साफ कर सकेंगे ? यदि आप केवल पंखा बन कर रहना चाहें तो क्या सफाई कर सकते हैं ? ठीक यही स्थिति हमारी हो रही है। यदि हम अपने अन्दर और अपने पड़ोसी के पाप को नष्ट करना चाहते हैं तो इस उच्च भावना को लेकर कि मैं इससे ऊंचा हूँ, इसको सुधार दूंगा, काम नहीं चलेगा। हमें तो यह भावना करनी पड़ेगी कि मैं झाड़ू हूँ, इसे साफ करूंगा। जब यह दृष्टि हमारे अन्दर बनेगी तभी हम आगे बढ़ पायेंगे।

आज हम हरिजनों के उत्थान का प्रयत्न करते हैं। सर्वत्र हम प्रयत्न करते हैं कि लोगों की उन्नति करें। लोगों की उन्नति हो भी रही है। पर मानसिक दृष्टि से उनकी अवनति होती चली जा रही है। आपस का सौहार्द नष्ट होता चला जा रहा है। इसका कारण यह है कि हम आत्म-केन्द्रित होते चले जा रहे हैं। हमारे अन्दर से करुणा का भाव सूखता चला जा रहा है।

हमारे अन्दर से मुदिता का भाव नष्ट होता चला जा रहा है। उपेक्षा की भावना तो सर्वथा नष्ट होती चली जा रही है। इसकी जगह पर ईर्ष्या की भावना हमारे मनमें आती चली जा रही है, 'मैं ऊंचा हूँ' यह भावना और घृणा की भावना आती चली जा रही है। इस कारण हम स्वयं बीमार हो जाते हैं, स्वयं दुःखी हो जाते हैं, और दूसरों के दुःख का कारण बन जाते हैं।

यहां 'शं वरुणः' के द्वारा शास्त्र ने यह आदर्श रखा है कि हम इस दृष्टि को अपना करके आगे चलें। मानस रोग और उनके मूल कारण मानसिक तनावों को दूर करके आगे बढ़ें।

इच्छा और इच्छा-शक्ति

अब तक वरुण के स्वरूप पर विचार करते हुए उसको पापों का शोधक बतलाकर, पाप के मूल का विचार कर रहे थे कि किस प्रकार इच्छा-शक्ति ही पाप और पुण्य दोनों का कारण बनती है। इच्छा-शक्ति के परिष्कार से कैसे हम पाप से पुण्य की तरफ जा सकते हैं इस पर विस्तार से विचार किया। वस्तुतः ज्ञान और क्रिया-शक्ति के मध्य में इच्छा-शक्ति है क्यों कि इच्छा-शक्ति के द्वारा ही ज्ञान क्रिया रूप में परिणत होता है। जब तक ज्ञान क्रिया में परिणत नहीं होता तब तक ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये इच्छा-शक्ति ही एक मात्र साधन है।

इच्छा-शक्ति के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं तो उसके दो स्वरूप पाते हैं। एक है इच्छा। और दूसरी इच्छा-शक्ति। इच्छा पतन का मार्ग है और इच्छा-शक्ति उत्थान का। यद्यपि इच्छा शब्द दोनों में आता है लेकिन इससे भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये। इच्छा सदा मनुष्य को पतन के मार्ग में ले जाती है और इच्छा-शक्ति अभ्युत्थान के। इन्हें अंग्रेजी में Desire और Will power इन दो शब्दों से व्यक्त किया जाता है। इच्छा-शक्ति शिव के अधीन है अतः वह श्रेय है। हमारी इच्छा, जब हम उसके अधीन होते हैं, केवल प्रेय है। वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड के अन्दर यही एक विचित्रता है कि जिस चीज का हम शासन करने वाले बन जाते हैं वह, हमारे अधीन होने के कारण और हमारा स्वरूप शिव से अभिन्न होने के कारण, सर्वदा हमें शुभ या श्रेय की तरफ ले जाती है। यदि हम उसके अधीन हो जाते हैं तो वही चीज हमें प्रेय के मार्ग में ले जाती है। श्रुतियां हमें बार बार बतलाती हैं कि मनुष्य के सामने ये दोनों मार्ग खुल कर आते हैं:—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसे वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते। (काठकसंहितोपनिषद् १/२/२)

बार बार श्रुतियों का उद्घोष है कि मनुष्य एक चौराहे पर खड़ा है जहां उसको मार्ग का चुनाव करना पड़ता है। एक मार्ग श्रेय का है और दूसरा प्रेय का है। एक कल्याण और सुख का मार्ग है दूसरे में केवल प्रातिभासिक आनन्द है, सुख जैसा दीखता है पर वास्तविक सुख है नहीं। इनमें से एक मार्ग को ही अपनाकर मनुष्य चल सकता है। श्रेय और प्रेय का चुनाव प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में प्रत्येक क्षण में करना ही पड़ता है। दोनों में से श्रेय मार्ग का अवलम्बन करके ही हम महान् बन सकते हैं। वस्तुतः होता क्या है? जब हम प्रेय का चुनाव करते हैं तो श्रेय को भूल जाते हैं. जब श्रेय का चुनाव करते हैं तो प्रेय को भूल जाते हैं। जब हमारे सामने समस्या आती है तब हम प्रेय को चुन लेते हैं, जब उन समस्याओं को कार्य रूप में परिणत करने जाते हैं, उसके द्वारा जब हमारे ऊपर कष्ट आते हैं तब हम श्रेय मार्ग का चुनाव करने लग जाते हैं। इसीलिये हमारे जीवन में हमेशा ही संघर्ष बना रहता है। मानो दो शक्तियाँ हमें निरन्तर खींच रही हैं। इसी को भगवान् को बताते हुए अर्जुन ने कहा 'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः' (गी ३/३६)। ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई हमको बलपूर्वक, जबर्दस्ती पाप में लगा रहा है। यह जबर्दस्ती और कुछ नहीं केवल हमारे चुनावों की गलती है। हम गलत चीज को चुन लेते हैं और उसके अनुसार अपने मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं। जब उसका नतीजा, कठिनाइयां आती हैं तब उनका सामना, विरोध और विजय करने के लिये हमारे पास शक्ति नहीं रहती। उस समय हम श्रेय का चिन्तन करने लगते हैं। उस समय हम सोचते हैं कि कठिनाइयों से कैसे निकलें। चुनाव के समय तो गलती कर जाते हैं और चुनाव का फल जब सामने आता है तो उसका सामना नहीं करते। इसलिये शास्त्रों का उद्घोष है कि चुनाव करते समय ही विचार करलो। पहले यदि तुम प्रेय का मार्ग चुनते हो तो निश्चित समझलो कि इसका अंत दुःख में होना है।

मान लो किसी को मधुमेह (Diabetese) है। यह बीमारी प्रायः उसी को हुआ करती है जिसे मीठा खाने का अधिक शौक होता है। परन्तु ज़ब यह शक्कर की बीमारी हो गई तो मीठा जहर बन जाता है। यदि उसके सामने मीठा आ गया तो उसके सामने दोनों मार्ग खुले हुए हैं, या तो वह अपनी इच्छा का नियन्त्रण करके, इच्छा-शक्ति के द्वारा उसका प्रतिरोध करके, उस मिठाई को दूर हटादे या उस मिठाई का सेवन करले और बाद में होने वाले रोग का सामना करे। हम मिठाई खाते समय तो सोचते हैं कि इस समय खालें आगे जो होगा सो देखा जायेगा, जब जो आगे होने वाला था वह हमारे सामने आ जाता हैं तो हम रोने लगते हैं, कष्ट उठाने लगते हैं। यही हमारे जीवन की प्रतिक्षण की समस्या है। यह एक बड़ी-सीधी सी चीज है लेकिन हम इसका सामना करने के लिये तैयार नहीं होते। सारे तथ्यों को हम सामने नहीं रखते कि क्या-क्या कठिनाइयां आ सकती हैं। इसीलिये हम मार्ग भ्रष्ट हो जाते हैं और बाद में चिन्ता करने लगते हैं। प्रेय काल में हम श्रेय के चिन्तन से चिन्तित रहते हैं और श्रेय काल में हम प्रेय के चिन्तन से चिन्तित रहते हैं।

हमारा सारा जीवन दो भागों में बंट जाता है। हम एकान्त में और तरह से रहते हैं और संसार के साथ और तरह से रहते हैं। एक बड़ी विचित्र चीज संसार में देखने को मिलती है, कि जब हम एकान्त में रहते हैं तो स्वेच्छा से रहते हैं। वस्तुतः एकान्त में अपनी इच्छा के अनुकूल रहना बड़ा सरल और सीधा सा है। जहां कोई आपको देखनेवाला नहीं वहां आप जो चाहते हैं वही करते हैं। लेकिन जब आप जगत् में आ जाते हैं, दूसरे लोगों के सामने व्यवहार में आ जाते हैं, तब आपकी स्थिति सर्वथा विपरीत हो जाती है और आपका ध्यान इस बात पर नहीं रहता कि हम अपनी इच्छा के अनुसार चलें, बल्कि इस बात पर रहता है कि दूसरे हमारे विषय में क्या कहेंगे। तब प्रायः आप परेच्छा से प्रेरित हो जाते हैं। इसीलिये हम प्रायः कहा करते हैं कि जनसमूह के अन्दर सत्यवादी होना कोई चीज नहीं है। यदि तुम एकान्त में स्वेच्छा से सत्यवादी हो तभी सत्यवादी हो, यदि परेच्छा से सत्यवादी हो तो वस्तुतः सत्यवादी नहीं, बल्कि

प्रतिष्ठाकामी हो। यश की कामना से सत्य बोलना सत्य बोलना नहीं है, यद्यपि दोनों में बाह्य दृष्टि से सत्य बोलना एक स्वरूप ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने में हम परेच्छा से प्रेरित होते हैं और स्वेच्छा के द्वारा एकान्त में व्यवहार करते हैं। लेकिन वस्तुतः महापुरुष वह है जो स्वेच्छा के द्वारा लोगों के बीच में व्यवहार करे। ध्यान रखिये यहां इच्छा-शक्ति की बात कर रहे हैं इच्छा की नहीं।

आजकल समाज में एक ग़लत धारणा हो गई है। लोग कहते हैं कि यदि हम अपनी इच्छा के अनुसार समाज में व्यवहार करें तो ग़लती क्या है? ग़लती तो कुछ नहीं है, लेकिन जब तक आपकी इच्छायें परिष्कृत नहीं हो जातीं तब तक आप जितनी भी चेष्टायें करें उन इच्छाओं का प्रतिघात होना अवश्यम्भावी हो जायेगा। जब हम कह रहे हैं कि स्वेच्छा से जनता के सामने व्यवहार करो तो उसका तात्पर्य है कि आपकी इच्छा इतनी परिष्कृत होनी चाहिये कि आप सत्य इसलिये न बोलें कि लोग देख रहे हैं बल्कि सत्य बोलना आपका स्वभाव हो गया है। आपने इच्छा-शक्ति के द्वारा उसको जय कर लिया है। हमारे शास्त्रों में जहां कहीं ज्ञानी की बात आती है वहां शास्त्र बार-बार इस बात को कहते हैं कि ज्ञानी कभी परेच्छा से व्यवहार नहीं करते, वे सर्वथा स्वतंत्र होते हैं, यहां तक कि वेद के विधिनिषेध का भी खयाल नहीं रखते, निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः। उसके सामने विधिनिषेध भी नहीं रहता। लोगों ने इसका अर्थ यह समझ रखा है कि मनमाना आचरण करने वाला ज्ञानी पाप कर्मा होते हुए भी पाप का भागी नहीं बनेगा। पर जहां कहीं विचार आया है वहां यही बात सामने रखी गई है कि 'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्त व्यायामभूमिषु' (नैष्कर्म्य सिद्धि ४/६७) राग तो वस्तुतः चित्त में अज्ञान का चिह्न है।

अज्ञान के कारण ही मनुष्य में पाप की बुद्धि उत्पन्न होती है। पाप हमेशा एक मानस रोग का कारण है। ज्ञानी की सारी ही ग्रन्थियां खुल चुकी हैं। श्रुतियों का उद्घोष है: 'सोऽविद्याग्रन्थि विकरतीह सोम्य' (मु० २/१/१०)। हे सोम्य! आत्मज्ञानी अपनी अविद्याग्रन्थि को, हृदय ग्रन्थि को काट डालता है। इसलिये उसके लिये यह सम्भव ही नहीं हो

सकता है कि उसके अन्दर पाप की इच्छा उत्पन्न हो। तो जब कहा जाता है कि 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः' (जीवन्मुक्तानन्द लहरी) तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह निषेध का कार्य करता है, बल्कि उसका सारा व्यवहार ही ऐसा हो गया है जो विधि रूप ही होता है। अतएव यहीं आगे कहा है 'किंच पुण्यरतः पूर्वं ज्ञान माप्नोति नान्यथा। पश्चाद्ध्यतद्वासनया पुण्यमेव करोत्यसौ'। (जी० मु० ल २८)।

जिस प्रकार अच्छा गायक प्रायः इस बात का ध्यान नहीं करता कि उसकी तान ठीक निकल रही है या ग़लत। इसका उलटा अभिप्राय मत समझ लेना कि वह अपस्वर का उच्चारण करता है, इसका अभिप्राय तो यही है कि वह कभी अपस्वर अपने गले से निकाल ही नहीं सकता। जिसको ताल का पूरा ज्ञान है वह कभी नाचते हुए ताल में गलती नहीं कर सकता, इसलिये कहा जाता है कि वह उधर ध्यान ही नहीं देता। मोटर चलाने वाले को जब चलाने का अभ्यास हो जाता है तो वह मोटर भी चलाता रहता है और बात भी करता रहता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वह एक्सीडेन्ट भी कर सकता है। यदि ऐक्सीडेन्ट हो जाता है तो वह उसकी गलती ही मानी जायेगी, उसके अभ्यास की पूर्णता तो इसी बात में है कि वह उधर ध्यान न देता हुआ भी अपने व्यवहार को पूर्ण रूप से निभा सकता है। जब इस दृष्टि को लेकर हम चलेंगे तभी समझ सकेंगे कि क्यों शास्त्र कहता है कि ज्ञानी के लिये किसी भी प्रकार का विधि निषेध नहीं है। उसके लिये तो 'प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः'। इसका अर्थ है कि वह शास्त्र खोलकर नहीं देखता कि यह ठीक है या गलत और न विचार ही करता है। उसका अन्तःकरण या मन जो कह देता है वही ठीक होता है। लेकिन साथ में विशेषण भी कालिदास दे देते हैं कि 'सतांहि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' (अ० शा०)। 'सताम्' (सब लोगों के लिये नहीं) केवल जो सत्पुरुष हैं, याने जो आत्मचिन्तन करने वाले हैं, आत्मा के अन्दर, सन्मार्ग के अन्दर लगे हुए हैं, उनके लिये ही यह बात ठीक सिद्ध हो सकती है; क्योंकि अति दीर्घ काल तक प्रयत्न करके उनका ऐसा अभ्यास हो गया है कि उनके अन्तःकरण में ठीक ही बात का उदय

होता है। एक मोटे दृष्टान्त से समझ लीजिये। जब छोटे लड़कों को पहाड़े याद कराये जाते हैं तो यदि उनसे कह दिया जाता है कि बताओ आठ का आठ गुना कितना होता है तो वह गिनना शुरू करता है और अन्त में जाकर कहता है आठ आठे चौंसठ। लेकिन आपको तो अभ्यास हो गया है और आप से पूछा जाता है तो आप तुरन्त चौसठ कह देते हैं, गिनती की जरूरत नहीं पड़ती। वहां पर आपके चित्त में सन्देह भी नहीं उत्पन्न होता है कि भाई ! मैं देख तो लूं गिन कर कि ठीक है या गलत। इसीलिये कहा है कि 'सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः'। जो अति दीर्घ काल पर्यन्त इस प्रकार की साधना में लगा हुआ है उसके अन्तःकरण में इतनी शुद्धि आ जाती है कि उसकी प्रवृत्ति कभी अशुद्ध मार्ग में होती ही नहीं है। कभी गलत पद उससे उठ ही नहीं सकता। 'सोऽविद्याग्रन्थिं विकरतीह सोम्य'। जिसने अविद्या ग्रन्थि को काट लिया है उसके सामने यह समस्या ही नहीं रहती, निषिद्ध क्रिया उससे होती है ऐसा नहीं, निषिद्ध क्रिया तो उसके लिये सम्भव ही नहीं है।

हम बतला रहे थे एकान्त में हम स्वेच्छा से कुछ और हैं और समाज में परेच्छा से कुछ और। हमें इस स्वेच्छा और परेच्छा में इतना अधिक समन्वय कर लेना है दोनों में इतना ऐक्य ले आना है, उनमें इतना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेना है कि हम जब और लोगों के साथ हों तो उस समय हम स्वेच्छा से ही शुभ कर्म करें। इससे लाभ क्या होगा ? हम गुलाम की तरह जीते हैं। जब हम जनता के सामने रहते हैं उस समय जीते नहीं हैं शुभ कर्म जरूर करते हैं। लेकिन किस दृष्टि से ? जैसे हम को जबर्दस्ती टैक्स देना पड़ता है। भला आदमी राजा को टैक्स देता जरूर है क्यों कि यदि वह टैक्स नहीं देगा तो राजा उसका सब कुछ छीन लेगा, कुर्की करा लेगा। इस भय से वह टैक्स देता है, पर टैक्स देने में उसको कभी प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता। उसी प्रकार हम एक अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं, एक पुण्यमय जीवन व्यतीत करते हैं, लेकिन उसके अन्दर हमारी दृष्टि क्या है ? लोग क्या कहेंगे इसलिये लोगों के लिये टैक्स रूप में हम इस चीज को करते देते हैं। उसको करने में हमको सुखानुभूति नहीं

होती। स्वेच्छा से हम कुछ और करना चाहते हैं, परेच्छा से, बलात्कार से, सामाजिक दबाव के कारण हम से कुछ और कराया जा रहा है। इसीलिये हम जी नहीं रहे हैं। हमारा जीवन एक प्रकार का प्रायश्चित्त हो जाता है। मानस विज्ञान में ये विघ्न हमारे सामने रखे जाते हैं उनके मूल में यह द्वैध है। हमारा जीवन दो प्रकार का हो जाता है, हम चाहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। हम बनना कुछ और चाहते हैं पर बन कुछ और जाते हैं। हमारी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है; और जहां जहां सहजावस्था नष्ट हो जाया करती है, ज्यों-ज्यों मनुष्य के अन्दर स्वाभाविकता से दूरी आती चली जाती है त्यों-त्यों दुःख अवश्यम्भावी हो जाता है। हम इसी एक चक्कर में पड़ जाते हैं, इससे निकलने का हमारे पास कोई रास्ता नहीं रहता और चेष्टा करने पर भी नहीं निकल पाते।

हम बार-बार अच्छा बनने की चेष्टा करते हैं, लेकिन सदा अच्छा बनने के समय हमें कष्ट का अनुभव होता है। बुरा बनते समय हमें सुख का अनुभव होता है क्यों कि बुरापना हमारा स्वभाव बना हुआ है और अच्छापना हमारे ऊपर लाद दिया गया है। यहां शास्त्र हमारे सामने यह आदर्श रख रहा है कि स्वेच्छा और परेच्छा का भेद हट जाये, हमारे अन्दर स्वेच्छा और परेच्छा का संघर्ष न रह जाये, हम एक ही इच्छा से प्रवृत्त हों तथा सुख का अनुभव कर सकें।

थोड़े समय पूर्व भारत के ऊपर चीन का आक्रमण हो गया था तो लोगों ने बिना मांगे हुए ही जा जाकर सरकार को रुपया दे दिया क्यों कि उनके अन्दर स्वेच्छा और परेच्छा की एकता हो गई थी। राज्य को उस समय धन की आवश्यकता थी। इस का सदुपयोग होगा या दुरुपयोग यह हमारा विषय नहीं है, केवल इतना कहने की अपेक्षा है कि राज्य को धन की अपेक्षा थी और लोगों ने भी इस बात को समझा तो राज्य की इच्छा और जनता की इच्छा एक हो गई। अतः लोगों ने प्रसन्नता से जा जाकर धन दिया, यह नहीं समझा कि हम एक टैक्स दे रहे हैं। ठीक इसी प्रकार यदि हम प्रतिदिन के व्यवहार में भी समझ सकें कि जो हम टैक्स दे रहे हैं उसका उचित उपयोग हो रहा है तो हमारी स्वेच्छा और परेच्छा मिल

जायेगी, फिर वह हमारे लिये एक कष्टप्रद चीज नहीं रह जायेगी। तब हमारे लिये इतने बड़े-बड़े टैक्स अफसर नहीं रखने पड़ेंगे, क्यों कि हमारा निश्चय हो गया कि इसे देने में हमारा कल्याण है।

इसी प्रकार जीवन की अच्छाई को जब हम अच्छी तरह से समझ लेंगे कि वह हमारे लिये कल्याण मार्ग वाली है, उसके द्वारा हमें लाभ पहुंचेगा तभी हम पुण्यमय जीवन को वास्तविक रूप से व्यतीत कर सकेंगे। नहीं तो पुण्यमय जीवन तो हमारे लिये प्रायश्चित्त का प्रकारान्तर बन गया है। यदि हम समाज में रहते हैं तो हमको प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है। हमारी बात की लोगों के सामने कीमत होनी चाहिये। इसलिये अच्छा बन करके हम उसकी कीमत चुकाते हैं, हम जीते नहीं हैं बल्कि जीना हमारे ऊपर लाद दिया जाता है। शास्त्र हमारे सामने आदर्श रखता है कि केवल किसी प्रकार से प्राणन क्रिया करके अपने आपको जीवित न समझ लो, जीवित रहना सीखो, जीने में आनन्द लेना सीखो। जब तक तुम जीवन को आनन्दमय नहीं बना सकोगे तब तक तुम्हारा जीवन व्यर्थ ही सिद्ध होगा। जीवन का आदर्श आनन्द है।

जीवन का आदर्श सदा एक संघर्षमय जीवन, कष्टमय जीवन के अन्दर रहना नहीं है। यह ठीक है कि साधना काल में संघर्ष रहेगा। जब तक हम साधना कर रहे हैं, जब तक हम स्वेच्छा और परेच्छा में एकात्म्य नहीं ला पाये हैं, तब तक स्वभावतः हमारे अन्दर संघर्ष रहेगा। धीरे-धीरे हमें दोनों की एकता को प्राप्त करना है। लेकिन हम संसार को हमेशा के लिये ही एक ऐसा स्कूल न बना लेवें, जहां से कभी कोई पास होकर निकले ही नहीं? मान लीजिये कि एक ऐसा कालेज खोल दिया जाये जिसमें मनुष्य भर्ती तो हो सकता है, लेकिन कभी वहां से डिग्री लेकर निकल नहीं सकता, जो एक बार भर्ती हो गया वह जन्म भर पढ़ता ही रहेगा तो शायद आप अपने बच्चों को कभी वहां पढ़ने के लिये भेजना पसन्द नहीं करेंगे। आप तो यह चाहते हैं कि मनुष्य स्कूल में भर्ती हो तो उससे पास होकर आगे निकल जाये। ठीक इसी प्रकार यह संसार एक बड़ा भारी विश्वविद्यालय है। इसके अन्दर हम ज्ञान, इच्छा, क्रिया का समन्वय करने के लिये आये हैं। हमारी अविद्या-ग्रन्थि कट जाये, हमारे सब दुःखों का कारण हट जाये, हम

एक ऐसा सामरस्य प्राप्त करलें कि अपने मालिक खुद बन जायें, हमारे सामने से माया मोह का पर्दा हट जाये, इसके लिये यह एक बड़ा भारी विश्वविद्यालय है। लेकिन यहां आकर हम इन चीजों को सीखते ही नहीं. हमारा सारा जीवन बीत जाता है, हम बिल्कुल छोटे पैदा हुए थे और बूढ़े हो जाते हैं, लेकिन बदलते हुए जीवन के परिवर्तनों के बावजूद हम जहां थे वहीं बने रहते हैं।

हम जब इस जीवन से जाने लगते हैं, तब विचार करते हैं कि हमने यहां आकर क्या प्राप्त किया। क्या हम एक भी अपनी भावना को जीत पाये? क्या हमने कोई भी चीज ऐसी प्राप्त की जिसकी प्राप्ति के कारण हम अपने को सफल समझ सकें, जिसके कारण हम समझ सकें कि इस विश्वविद्यालय में भर्ती होकर हमने कुछ प्राप्त किया है? तो जीवन में अन्धकार नजर आने लगता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में प्रायः मनुष्य विचार करने लगते हैं कि मैंने जीवन में आकर क्या किया, मैं जैसा आया था वैसा ही चला जा रहा हूँ, मैं कैदी की तरह आया था और कैदी की तरह ही चला जा रहा हूँ, मालूम पड़ता है कि एक जेल से दूसरी जेल में भेजा जा रहा हूँ, यहां आते हुए जिस प्रकार कष्ट की प्रतीति हुई थी यहां से जाते हुए भी उसी प्रकार की कष्ट की प्रतीति होती है। एक भावुक कवि ने कहा है कि जब तुम संसार में आये थे तो सारा संसार हंसा था, लेकिन तुम रोये थे। यही तो होता है कि जब बच्चा घर में उत्पन्न होता है तो सब लोग ताली बजा कर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। लेक़िन बच्चा क्या करता है? पैदा होते ही रोता है, अगर नहीं रोता तो लोग समझते हैं कि कुछ गड़बड़ी है। उसके रोने से सारे संसार को प्रसन्नता होती है, हर्ष होता है कि हाँ, बच्चा ठीक है। इसका कभी बदला लेने की भी सोचते हो? यदि इस घटना का बदला लेना है तो एक ही बदला हो सकता है वह यह कि जब तुम इस संसार को छोड़ कर चलो तो सारा संसार रोयें, वह दुःखी हो कि तुम जा रहे हो और तुम्हें प्रसन्नता हो कि इस विश्वबन्धन से छूट कर मेरी वह स्थिति आ रही है जिसके अन्दर कोई बन्धन मेरे अन्दर नहीं रहेगा। लेकिन होता क्या है? हम पाते हैं कि जब हम यहां आये थे तब हम रोये थे और दुनियां हंसी थी, जब जाते हैं तब भी हमीं रोते हैं, बाल बच्चे कहते हैं चलो अच्छा हुआ,

बूढ़ा था, रात भर खांसता रहता था, हमको नींद नहीं लेने देता था, भगवान् ने अच्छा किया कि इसको उठा लिया।

कुछ वर्ष पूर्व हम कानपुर गये थे। वहाँ एक सम्पन्न घर में भोजन करने के लिये गये तो सब लोग आये। एक बुढ़िया नब्बे, पचानवे वर्ष की आयी। कहने लगी, भगवन् ! अब मैं वृद्ध हो गई, मेरे मन में अब कोई कामना नहीं है, लेकिन यह आशीर्वाद दीजिये कि मेरे लड़के लड़कियां यहां प्रसन्न रहें, खूब आगे बढ़ते रहें। जब तक वह यह बात कह रही थी तब तक वहाँ उसकी बहुएं आ गईं। कहने लगीं, महाराज ! आप तो सब कुछ जानते ही हैं, बताइये महाराज ! नारायण इसे कब उठायेगा ? रात भर खांसती रहती है, हमको सोने भी नहीं देती ! यही संसार का स्वरूप है। बुढ़िया सोचती है कि किसी प्रकार से बच्चे ठीक रहें, लेकिन बच्चे सोचते हैं कि यह यहां से उठके चली जाये। सम्भवतः स्पष्टतः मुंह पर कहने का साहस कम लोग करेंगे, लेकिन यदि आप अपने हृदयों को टटोलेंगे तो पायेंगे कि हृदयों में तो ऐसी भावना उत्पन्न हो ही जाती है। इसका कारण किसी का अपराध नहीं है। हमने जीवन में आकर ठीक प्रकार से शिक्षा प्राप्त नहीं की, इसी का यह नतीजा होता है।

अतः भावुक कवि कहते हैं कि जब हम यहां से जायें तो इस प्रकार से जायें कि दुनियां तो दुःखी हो, क्योंकि हमने उसको कुछ सुख और शान्ति पहुंचाई है, और हमारे अन्दर प्रसन्नता हो, क्योंकि इस विश्वविद्यालय में आकर हमको जो कुछ सीखना था वह शिक्षा प्राप्त कर ली। आगे मुझे किसी भी शिक्षा को प्राप्त करने के लिये इस विश्वविद्यालय में आने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यहां के स्नातक हम बन गये। इच्छा-शक्ति के नियन्त्रण के द्वारा ही हम इस प्रकार के स्नातक बन सकते हैं, और किसी भी उपाय से यह सम्भव नहीं है।

हमारे जीवन के दो अंग स्वेच्छा और परेच्छा हैं, यदि हम इनको मिला पायें तो यह काम बनेगा। अतः 'स्व' और 'पर' के स्वरूप पर कुछ विचार आवश्यक है। यहां कुछ व्यावहारिक रूप (Practical aspect) से धर्म का निरूपण करेंगे। अब तक तो दार्शनिक दृष्टि बतलाते आये हैं,

अब कुछ कर्तव्य का निर्देश करेंगे। इच्छा-शक्ति का नियन्त्रण कैसे किया जाय इसके ऊपर संक्षेप में विचार करेंगे।

इच्छा-शक्ति और इच्छा का भेद पहले बता चुके हैं। इच्छा वह है जो हमारे ऊपर चढ़ती है, और इच्छा-शक्ति वह है जिसके ऊपर हम चढ़ते हैं। यह मोटे शब्दों में कह आये हैं। इसका मतलब क्या है? यदि हम इच्छा करते हैं तो वह हमारी इच्छा-शक्ति है, पर यदि हमारे अन्दर इच्छा उत्पन्न होती है तो समझना चाहिये कि हम उसके द्वारा नियन्त्रित हैं। कठोपनिषद् में बड़े सुन्दर शब्दों में इस बात को कहा गया है :

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्। (क० १/३/६)

यमराज नचिकेता को उपदेश करते हुए कहते हैं : जिसने विज्ञान (बुद्धि) को अपना सारथी बना लिया है, जिस प्रकार सारथी लगाम को हाथ में रखता है उसी प्रकार हमारी बुद्धि, हमारा ज्ञान, इच्छा को अपने हाथ में रखता है तो वह विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेता है। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' (गी० १५/६) भगवान् ने कहा है कि वहां से वापस लौटना नहीं पड़ता। यह एक दृष्टि है।

यदि विज्ञान को हम सारथी बना पाते हैं तो हमारा काम हो जाता है। अतः जब इच्छा उत्पन्न होती है और उसके द्वारा हम प्रेरित होते हैं तब समझना चाहिये कि यह इच्छा है। उससे बचने की चेष्टा करनी है। और यदि हम स्वयं इच्छा करते हैं तो वह इच्छा-शक्ति है। इच्छा-शक्ति हम सबके अन्दर है। लेकिन प्रयोग न होने के कारण वह बेचारी दब गई है। सिगमन्ड फ्रॉयड ने बड़े मनोवैज्ञानिक आविष्कार किये। उसका एक बड़े महत्व का आविष्कार यह है कि उसने हमारे सामने यह चीज रखी कि जिस इच्छा को हम जागृत अवस्था में पूर्ण नहीं कर पाते हैं वह स्वप्न के अन्दर चली जाती है। स्वप्न वस्तुतः क्या है? वह केवल हमारी जागृत में अपूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने का साधन है। यह एक बड़ा भारी दृष्टिकोण उसने हमारे सामने रखा। अनेक अनुभव उसने अपने भी बतलाये, दूसरे लोगों के

भी बतलाये, वे छोटे-छोटे अनुभवात्मक प्रयोग हैं, जिन्हें सब कर सकते हैं। यदि आप रात में अच्छी तरह से खाने के बाद पांच-सात पापड़ और कुछ सेवैंइयां भी खा लीजिये और आध घंटे बाद सो जाइये तो स्वप्न आता है कि मैं पानी पी रहा हूँ। आंख खुल जाती है और आप पानी पीने चले जाते हैं। वस्तुतः होता यह है कि जब आप सो जाते हैं तो आपके शरीर को प्यास की इच्छा होती है, इच्छा उत्पन्न होते ही तुरन्त यह विचार हुआ कि उठने से तो नींद टूट जायेगी। अतः तुरन्त आपके अचेतन मन ने कहा कि अरे! उठोगे तो नींद टूट जायेगी इसलिये यदि हम स्वप्न में ही पानी पीलें तो उठना भी न पड़े और नींद भी न टूटे। लेकिन काफी पापड़ खा चुके हैं इस लिये यह सम्भव नहीं है कि नींद के पानी से प्यास बुझ जाये। अतः आपको उठना पड़ता है यह सब हो रहा है सूक्ष्म जगत् में लेकिन वैज्ञानिक लोगों की दृष्टि में स्पष्ट हो जाता है। ये छोटे-छोटे अनुभव हैं।

बच्चों के स्वप्नों पर जब विचार किया जाता है तो वह और सुस्पष्ट हो जाते हैं। हम लोगों के स्वप्नों के लिये तो बड़े-बड़े मनोविश्लेषणों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि हमारे मानस जगत् के अन्दर इतनी ग्रन्थिग्रां हैं कि हम उनमें बहुत कुछ छिपा देते हैं। लेकिन छोटे बच्चों के मानस जीवन का जब अध्ययन किया जाता है तो इतना अधिक अन्तर्ग्रंथित न होने के कारण उनकी मानस-ग्रन्थियां खोलना बड़ा सरल होता है। अतः जब हम उनके स्वप्नों का विश्लेषण करते हैं तो सरलता से उन सिद्धान्तों का पता चल जाता है जिनसे संश्लिष्ट ग्रन्थियां खोलना सरल हो जाता है।

कुछ दिन पहले एक बच्चा हमसे कह रहा था कि स्वामी जी! मैंने रात को स्वप्न देखा कि मैं चाकलेट खा रहा हूँ। मेरी माता ने मुझे बहुत से चाकलेट दिये हैं। इस स्वप्न का कारण जानने के लिये हमने उनके घरवालों से पूछा कि कल शाम तुम कहां घूमने गये थे? उन्होंने कहा कि हमने लड़के के लिये जूते, कपड़े इत्यादि बहुत सी चीजें खरीदीं। इतनी चीजें खरीदी गईं फिर भी इसका मन नहीं भरा और यह कह रहा था कि चाकलेट खरीदो। समस्या हल हो गई। बड़ी सीधी सी समस्या थी। घरवालों ने उससे कह दिया था कि चाकलेट नहीं खरीदेंगे, बहुत सी अन्य चीजें खरीद चुके हैं।

उनका कहना भी ठीक था, पर बच्चे के मन में चाकलेटों की भूख थी। एक इच्छा उत्पन्न हो गई थी जिसे वह पूर्ण न कर सका तो उसको उसने स्वप्न में पूरा कर लिया। आप भी अपने स्वप्नों का विश्लेषण करेंगे तो कुछ स्वप्न ऐसे जरूर होंगे जिनका विश्लेषण कठिन होगा, लेकिन बहुत से ऐसे भी होंगे जो सरल होंगे, जिन इच्छाओं को हम अपनी जागृत अवस्था में पूरा नहीं कर सकते हैं उन्हें स्वप्न में पूरा कर लेते हैं।

यहां हो क्या रहा है? जरा इसके हृदय में जाइये। स्वप्न के अन्दर हम अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग करते हैं। जिस काम को हम पूरा नहीं कर सके उसको वहां पूरा करने का प्रयत्न करते हैं, याने हम अपनी इच्छा-शक्ति की पूर्णता के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। जागृत में उस इच्छा-शक्ति का प्रयोग क्यों नहीं कर सकते? क्योंकि वहां परेच्छा का बल है। वहां पर बालक चाकलेट नहीं ले सकता क्योंकि दुकानवाला वगैर पैसे के देगा नहीं। पैसे को वह प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि माता-पिता के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। स्वप्न के अन्दर यह सीमा आवश्यक नहीं है। इस सीमा के न होने के कारण ही वह अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके चाकलेट प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी प्रकार बड़े लोगों के जीवन में भी होता है। सम्भवतः आप चाहते हैं कि आपका अफसर यदि मर जाता तो आपको उस पद की प्राप्ति हो जाती। लेकिन जागृत में न तो आप उसको मार सकते हैं न कुछ कर सकते हैं। स्वप्न में आप देखते हैं कि वह बहुत बीमार पड़ा हुआ है और आप उसे देखने गये हैं। यहां भी अन्तःकरण की इच्छा-शक्ति काम कर रही है। पर स्वप्न जगत् में भी जब वह इच्छा-शक्ति कार्य करती है तो दबे हुए रूप में क्योंकि जिसको आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रतिबन्धक (Censor) कहते हैं वह वहां भी काम करता है।

अतः स्वप्न को जागृत में लाना है, स्वप्न में क्रिया करनेवाली इच्छा-शक्ति को जागृत में ले आना है, लेकिन यह तभी होगा जब इच्छाओं के प्रतिघात का अभाव स्वप्नकाल की तरह जागृत में हो सके। पहले हमारे वैदिक सिद्धान्तों के ऊपर आधुनिक लोग प्रायः आक्षेप किया करते थे कि ये लोग तो बराबर स्वप्न की ही बातें किया करते हैं। जहां कहीं बात आती है

स्वप्न का ही दृष्टान्त देते हैं। स्वप्न से ही तुम जागृत की सिद्धि क्यों करना चाहते हो, यह हमारे ऊपर लोगों का आक्षेप था। आज हमें प्रसन्नता होती है कि वही वैज्ञानिक सारे मानस-जीवन का अध्ययन करने के लिये स्वप्न को ही अपना केन्द्र बना चुके हैं। आज सारे मानस-जगत का अन्वेषण स्वप्न के अन्वेषण से प्रारम्भ होता है और स्वप्न के द्वारा वे लोग भी जागृत के नियमों को जान पाते हैं। अब तो मनोवैज्ञानिकों के ऊपर भी वही आक्षेप किया जा सकता है। स्वप्न को वेदान्तियों ने क्यों अपना मूल समझा? क्यों आज के मनोवैज्ञानिक जगत् ने इसको इतनी प्रतिष्ठा दे रखी है? क्योंकि स्वप्न के अन्दर पदार्थ परेच्छा से प्रेरित न होकर स्वेच्छा से प्रेरित है। इसलिये वहां स्वेच्छा का रूप समझना सरल हो जाता है। यदि हमको इच्छा-शक्ति का रूप समझना है तो हमें स्वप्न में जाना पड़ेगा। स्वप्न के अन्वेषण के द्वारा हमारे सामने इच्छा-शक्ति के कई रूप आते हैं। उनके नियन्त्रण का रास्ता भी तभी मालूम पड़ता है। इच्छा के दो रूप स्वेच्छा और परेच्छा पहले ही बता चुके हैं। तो नियन्त्रण के भी दो मार्ग हुए, या तो स्वेच्छा के वल से परेच्छा को वदलें या परेच्छा के अनुसार स्वेच्छा को वदलें।

स्वेच्छा को परेच्छा से बदलने को पनोवैज्ञानिक जगत् में मानसिक रोग कहा जाता है। दूसरे के दबाव के कारण अचेतन मन में आपकी वासना दब जाती है। वह आपको उत्थान की ओर नहीं ले जायेगी। यदि आप अपनी स्वेच्छा को परेच्छा के अनुसार बनाने की कोशिश करते हैं तो रोगी हो जाते हैं और कभी निरोग नहीं वन पाते। पर यदि आप परेच्छा को अपनी इच्छा के अनुसार बदलना चाहते हैं तो एक विलक्षण समस्या सामने आ जाती है। आप में ऐसी शक्ति भी नहीं है, और यह सम्भव भी नहीं है कि आप सब लोगों की इच्छाओं को अपने अनुसार बदल सकें। जब एक ही व्यक्ति की इच्छा बदलना कठिन है तो आप सबकी इच्छा को कैसे वदल सकते हैं?

तो इन दो मार्गों में जब स्वेच्छा को परेच्छा के अनुसार बदलते हैं तो हमारा अचेतन मन बीमार हो जाता है, यदि परेच्छा को स्वेच्छा के अनुसार बदलते हैं तो सामाजिक जीवन विशृंखलित हो जाता है। दोनों ही तरफ हमको असफलता नजर आती है।

यहां एक नया मार्ग हमारे सामने रखा गया है। यदि स्वेच्छा और परेच्छा, इन दोनों के मूल में जो इच्छा-शक्ति है उसको तुम पकड़ सको तो तुम्हारा काम बन सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं। परन्तु इच्छा स्वयं ठीक है या गलत, इसके लिये पहले हमको इच्छा-शक्ति के ऊपर ज्ञान-शक्ति के नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ेगी। भगवान् पतंजलि ने इसके लिये एक सीधा सा नियम बतला दिया है: वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम् (पा० यो० सू० २/३३) कि जिस बात को इच्छा तुम्हें करने को कहे, उसे उस समय न करो। बड़ी सीधी बात है, कोई कठिन बात नहीं। वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्, तुरन्त प्रतिपक्ष की भावना कर लो, इसका मतलब क्या है? मान लीजिये आप किसी होटल में चले गये। मान लीजिये कि आपके मन में आया बड़े सुन्दर समोसे बने हुए हैं, इनको खाने के लिये प्रवृत्ति करें। यह इच्छा आप के अन्दर उत्पन्न हो रही है तो उस समय उस इच्छा को आप हटा दीजिये। उस दिन तो चाहे आप एक मुट्ठी भर चने ही खाकर रह जाइये, लेकिन समोसे तो किसी भी हालत में न खाइये। विचार कीजिये कि यहां क्या हो रहा है। आपने अपनी इच्छा को दबाया किसी परेच्छा के द्वारा नहीं; आपके पास पैसा भी है, आप होटल में भी पहुंच गये हैं, समोसे भी बढ़िया बने हुए हैं, आपके कहने मात्र से आपके सामने भी आ जायेंगे, इसलिये कोई परेच्छा आप पर प्रतिबन्ध नहीं डाल रही है। न उसके खाने में कोई पाप ही है जो आप कहेंगे कि यह हमारे लिये Super Ego अंतर्यामी का दण्ड है। आप में ज्योंही इच्छा उत्पन्न हुई तुरन्त उसका विरोधी पदार्थ आपने सामने खड़ा कर लिया। नतीजा क्या होता है? धीरे-धीरे आपकी इच्छा इस बात को समझने लग जाती है कि भाई! जब यह इच्छा करेगा तब हम प्रवृत्ति करेंगे।

यहां बहुत से लोग प्रश्न करेंगे कि जब इच्छा-शक्ति को ही बढ़ाना है (और आगे हम भी इच्छा-शक्ति को बढ़ाने के कई उपाय बतलायेंगे) तो इस समय इच्छा को दबावें क्यों? इच्छा-शक्ति को बढ़ाकर यदि हम पाप कर्म भी करें तो क्या हानि है? याद रखने की बात यह है कि इच्छा-शक्ति वाला कभी पाप कर्म कर ही नहीं सकता। क्योंकि इच्छा पाप कर्म की प्रवृत्ति कराती है, इच्छा-शक्ति नहीं। श्रेय और प्रेय को हमने प्रारम्भ में ही इसी दृष्टि से बतलाया था। मनुष्य जब पाप कर्म को करता है तब उसका फल

उसके ऊपर आता है। तो वह दुःखी होता है। इसीलिये युधिष्ठिर ने बड़ी विचित्र बात कही थी।

युधिष्ठिर को जंगल में एक जगह प्यास लगी। उन्होंने अपने भाई से पानी लाने को कहा। भाई गया तो लेकिन पानी लेकर वापस नहीं आया एक एक करके चारों भाई गये और कोई भी जल नहीं ला सका तो अन्त में युधिष्ठिर स्वयं ही गये। पानी लेने के लिये जलाशय में उतरे तो एक यक्ष की आवाज आई कि मैं यहां का अधिपति हूँ, मेरी आज्ञा के बगैर तुम यहां से पानी नहीं पी सकते, नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। युधिष्ठिर खड़े हो गये और बोले भाई! तुम क्या चाहते हो? यक्ष ने कुछ प्रश्नों के उत्तर मांगे। उनमें एक प्रश्न था कि संसार में सबसे विलक्षण चीज क्या देखी जाती है? युधिष्ठिर ने कहा

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः
न पाप फलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः। (म० भा०)

लोग पाप का फल (दुःख) जब अपने ऊपर आता है तो उसकी इच्छा नहीं करते, लेकिन पाप करते हुए ऐसा मालूम होता है कि मानो प्रयत्नशील होकर चेष्टा करते हुए जबर्दस्ती पाप में प्रवृत्ति करते हैं। और पुण्य के फल (सुख) की तो इच्छा करते हैं, पर पुण्य की इच्छा नहीं करते। पुण्य करना नहीं चाहते।

मान लो एक आदमी झूठा एकाउन्ट सरकार को देता है। बाद में किसी कारण से पकड़ा जाता है तो यह कभी नहीं कहता कि मैंने ग़लत हिसाब दिया था। कहता है आजकल इतने टैक्स लगा दिये गये हैं कि हमको झूठ बोलना ही पड़ता है। तुम झूठ बोलते हो फिर रोते क्यों हो? तुमको पहले ही समझ लेना चाहिये था कि भाई! मुझे अपने धन की रक्षा करनी है चाहे मुझे जेल ही क्यों न जाना पड़े। होता क्या है, कि 'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति' चाहते हो कि हमें प्रतिष्ठा तो उसी की मिले जो सच्चे प्रकार का हिसाब रखता है, लेकिन सत्य बोलना न पड़े।

लोग कहते हैं आजकल पक्षपात का जीवन बहुत है, क्या किया जाय? हम कहते है उन्हें पक्षपात करने दो, तुम्हारा क्या लेते हैं? मार्क्स

ऑरेलियत ने एक सुन्दर बात कही थी, कि मान लो पड़ौसी बहुत बड़े आदमी हैं, तुम्हारे प्रेमी भी हैं, उन्होंने बहुत बड़ी पार्टी दी जिसमें दूर-दूर के आदमियों को बुलाया पर तुम्हें नहीं बुलाया तो तुम्हारे मन में दुःख होता कि मैं इसकी खुशामद करने नहीं जाता हूँ, इसलिये मुझे नहीं बुलाया है। ऑरेलियस इसका जवाब देते हुए कहते हैं कि तुम्हें दुःखी होने की कोई जरूरत नहीं है He has his honour and he has his dinner यानि जिसने उसकी खुशामद की उसने अपनी इज्जत को बेचा, उसने भोजन पाया, तुमने अपनी इज्जत को रखा तो तुम भोजन से अलग हो गये, भोजन तुमको नहीं मिला, तुम दुःखी क्यों होते हो, तुम ऐसा क्यों चाहते हो कि तुम अपनी इज्जत भी रख लो और भोजन भी पा लो !

बात यह है कि सत्यवादिता के विषय में हमको यह विश्वास नहीं है कि सत्यवादिता स्वयं एक कर्तव्य है। हम चाहते हैं कि हमको प्रतिष्ठा और यश तो पुण्य का मिले, लेकिन काम ऐसे करें जो पाप के होवें। यह बतलाया है कि पुण्य के द्वारा होने वाली प्रतिष्ठा और यश जब तक हमें प्रेरित करेंगे तब तक वास्तविक धर्मपालन संभव नहीं। जब एक प्रकार की मन में भावना कि हमने ठीक काम किया है, स्वयं अपने अन्दर उपादेय हो जाती है, जिसके लिये प्रयत्न करना अपेक्षित हो जाता है तब पुण्य कर्म में लग सकेंगे।

युधिष्ठिर ने यही बात बतलाई कि 'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति' पुण्य के द्वारा होने वाले फल की तो इच्छा करते हैं। पर 'पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः' पुण्य की इच्छा मनुष्य करता ही नहीं; और इसके विपरीत पाप के फल की इच्छा करते नहीं, उससे होने वाले अपमान, बदनामी और बुराइयों का अनुभव करने की चेष्टा नहीं करते, उनसे हम बचना चाहते हैं, लेकिन पाप की क्रियायें करते हैं।

हमको हमारा मन प्रेय मार्ग की तरफ ले जाना चाहता है। लेकिन वस्तुतः हम प्रेय मार्ग की ओर जाना नहीं चाहते। हम चाहते हैं श्रेय को। इसीलिये जब कभी का प्रेय फल हमारे ऊपर लौट कर आता है तब हम दुःखी

हो जाते हैं। क्रोध करने के बाद यहां तक कहते हैं कि, क्या बतलायें उस समय हमारे मुंह से न जाने क्यों यह बात निकल गई! इसके हृदय में क्या छिपा हुआ है? छिपी हुई चीज यही है कि हम चाहते नहीं हैं कि उस क्रोध का फल हमको मिले। क्रोध न करने का संयम रखे बिना ही जीव संयमी की शान्ति और प्रतिष्ठा पाना चाहता है।

मन स्वरूप से जड़ है। वह तो केवल तुम्हें प्रवृत्त करा देता है। मन के अन्दर इच्छा उत्पन्न हुई। उसने तुम्हें प्रवृत्त करा दिया। बहुत बार लोग कहते हैं कि मन ने पाप किया तो हमको क्यों फल भोगना पड़ता है? मन तो जड़ है, वह पाप नहीं करता, वह तो केवल तुम्हें पाप की तरफ प्रवृत्त कराता है। आगे पाप करने का काम तो तुम करते हो। जैसे किसी पंजीकृत आयव्यय लेखक (चार्टर्ड अकाउन्टैन्ट) को फीस देते हो और पूछते हो हम टैक्स की चोरी कैसे करें? वह केवल बतलाता है कि ऐसे तुम्हारी चोरी सफल होगी, पर आगे जाकर आप पकड़े जाते हैं, वह आयव्यय लेखक नहीं पकड़ा जाता। आप बाद में यह कह भी देते हैं, क्या बतायें, उसने मुझे ठीक मार्ग नहीं दिखाया! यह उसके मार्ग-दर्शन की बात नहीं है, उसने तो केवल प्रवृत्ति कराई, आगे चोरी करने का काम तो स्वयं आपने किया। इसका फल आपको ही भोगना पड़ेगा।

मन किस प्रकार जीव के अन्दर इच्छा उत्पन्न करता है, इसे पहले बता आये हैं। वासना, संस्कार मन के अन्दर इच्छा को उद्बुद्ध कराते हैं। इस इच्छा से जीव प्रवृत्त होता है। जीव अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग नहीं करता, इसलिये प्रेय के मार्ग में चला जाता है। फिर दुःखी हो जाता है। श्रेय के मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः जब कभी मन हमको प्रवृत्त कराये, हमारे सामने एक बात रखे तब हमें तुरन्त प्रतिपक्ष भावना करनी चाहिये। परेच्छा से नहीं, न इस कारण कि समाज या दूसरे लोग हमारे ऊपर दबाव डाल रहे हैं, बल्कि यह विचार करके कि यह मन ही हमारा दुश्मन है, यह हमें नीचे ले जाने की चेष्टा कर रहा है। यह हमें प्राचीन संस्कारों के अनुसार प्रवृत्त कराना चाहता है, हमें गुलाम बनाना चाहता है, हम इसको जीत के देखेंगे, इसको दबा के देखेंगे, इसको हरा के देखेंगे।

यदि हम मन के साथ इच्छा और परेच्छा का भाव लायेंगे, यदि हमारी इच्छा की अभिवृद्धि होने लगेगी, तो हमारी इच्छा-शक्ति बढ़ती चली जायेगी। जैसे-जैसे इच्छा-शक्ति बढ़ती चली जायेगी वैसे-वैसे हमारा मन कमज़ोर होता चला जायेगा। लेकिन बहुत बार मन जीत जायेगा। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि प्रतिपक्ष भावना करते ही आप मन को दबा लेंगे। मन बहुत प्रबल है। अनादि काल से आपने मन को राजा बना रखा है। यदि आप चाहें कि मन को एक दिन में गुलाम बना लेंगे तो कभी नहीं बना सकते हैं।

आपने कोई व्यवस्थापक रख छोड़ा है और बीस साल तक आप दूसरे काम को संभालते रहे और व्यवस्थापक के काम को नहीं देखा फिर आपको पता चला कि वह काम ठीक नहीं कर रहा है। अब यदि आप उस काम को अपने हाथ में लेते हैं तो आपकी दूकान बर्बाद हो सकती है। अतः धीरे-धीरे उस काम को दूकान में बैठकर देखना शुरू करते हैं। धीरे-धीरे मैनेजर से सारा काम समझ लेते हैं, उसके बाद साल छः महीने में जब परिस्थिति ठीक होती है तो उसको दूर कर देते हैं। जब एक बीस साल के मैनेजर को निकालने में आपको साल दो साल लग जाते हैं तो जिस मन को आपने अनादि काल से राजा बना रखा है और स्वयं उसकी गुलामी में घूमते रहे हैं उसे यदि आप एक दिन में निकाल देना चाहते हैं तो वह आपको नीचे गिरा देगा।

प्रायः साधक का ऐसा ही हाल होता है। जब वह एकाएक मन को रोकना चाहता है तो ठीक उस नाव की सी हालत हो जाती है जो बड़ी आंधी में चल रही हो और उस समय उसकी पाल खोल दी जाय। नाव न जाने कहां की कहां पहुँच जाती है। चतुर नाविक उस समय पाल खोलता नहीं केवल पतवार बांधे रखता है। जब हल्की हवा चल रही हो उस समय उसको खोलता है। क्यों कि उस समय नाव का नियन्त्रण हो सकता है। इसी प्रकार मन का नियन्त्रण करते समय भी हम देखें कि उसमें कोई भावना, इच्छा इतनी प्रबल तो नहीं है कि जिसे रोकना सम्भव नहीं, जिसको केवल हम जबर्दस्ती से रोक सकते हैं, केवल प्रतिपक्ष भावना से उसका निराकरण नहीं कर सकते हैं। यदि जबर्दस्ती उसका सामना करेंगे तो वह रोग हो

जाता है और अन्तःकरण के अन्दर जाकर छिप जाता है। इसलिये आवश्यकता है उस समय उस आंधी को निकल जाने देने की। उन इच्छाओं की शक्ति को निकल जाने देने के लिये शांत होकर, बैठ जाइये।

जिस समय देखते हैं कि मन के अन्दर इस समय इच्छा इतनी प्रबल नहीं हो रही है, उस समय अपनी इच्छा-शक्ति को तीव्र करिये, और उसके द्वारा मन का नियन्त्रण कीजिये। जैसे-जैसे आपका नियन्त्रण बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे मन का नियन्त्रण कम होता चला जायेगा। जब-जब मन हारे तब सदा अपने मन के अन्दर हर्ष का, प्रसन्नता का अनुभव कीजिये। इस दृष्टि से साधना करने पर मन के अन्दर कोई रोध न होने पायेगा, किसी प्रकार अचेतन मन में कोई ग्रन्थि नहीं बनने पायेगी। बल्कि आपके मन में एक जीत की भावना होगी। आप में यह भावना आनी चाहिये कि आप जीत रहे हैं, हमेशा प्रसन्नता बनी रहे, दुःख करने की जरूरत नहीं है। जैसे-जैसे आप मन का नियन्त्रण करें वैसे-वैसे प्रसन्नता का अनुभव करें। और यदि कभी मन जीत जाय तो हतोत्साह न हों। यह न समझलें कि आपने इतना प्रयत्न किया और अन्त में मन जीत गया। तो क्या हम कभी भी नहीं जीत सकेंगे ? बहुत बार साधक यही समझता है। वह कहता है कि मैंने बहुत प्रयत्न किया, लेकिन सदा असफलता ही सामने आयी, मालूम पड़ता है कि इस जीवन में मेरा कार्य बनेगा ही नहीं। यह बिल्कुल गलत धारणा है। हम धीरे-धीरे चलेंगे तो एक दिन अवश्य जीत जायेंगे। इस जीवन में ही जीत जायेंगे। हमको प्रत्येक बार हारने के साथ ही दृढ़ता पूर्वक खड़ा होना है, कि अगली बार इससे अच्छा प्रयत्न करेंगे। कभी भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य इसी तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य के अन्दर एक बड़ी सुन्दर बात लिखते हैं। विज्ञानमय कोष का विचार करते हुए कहते हैं बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः, कि बुद्धि का धर्म ही यह है कि वह सत्य पदार्थों के प्रति आग्रह रखती है और मिथ्या पदार्थ का परित्याग करती है। यह बुद्धि का लक्षण है कि यदि आपकी समझ में सच्ची चीज आ जाती है तो चाहे आप हजारों सालों से गलत चीज को मान रहे हों पर यह सच्ची बात आपके दिल में सचोट बैठ जाती

है। ऐसी बैठ जाती है कि उसको आप छोड़ नहीं पाते। ऐसा अनुभव आपने अपने जीवन में भी बहुत बार किया होगा कि आप कोई चीज मानते रहे हैं, अकस्मात् आपके सामने एक नया प्रकाश आया, एक नयी दृष्टि आई और इतने दिनों की मान्यता को आप एक मिनट में छोड़ देते हैं। ऐसा क्यों हुआ ? क्यों कि 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः' (तै० भा०) बुद्धि का धर्म ही यह है कि वह सत्य पदार्थ के प्रति आग्रह वाली होती है, मिथ्या पदार्थ के प्रति आग्रह नहीं करती। यह बुद्धि की विलक्षणता है।

यह परमेश्वर का सबसे बड़ा अनुग्रह है, सबसे बड़ी दया है कि उसने बुद्धि को ऐसा बनाया कि जब वह सत्य पदार्थ को पकड़ती है तो वहीं पर स्थिर हो जाती है, फिर वहां से हिलती या हटती नहीं। यदि ऐसा न होता, बुद्धि को जितने साल तक एक प्रकार का आग्रह रहा है उतने ही साल अनाग्रह पैदा करने में भी लगते, तो हमारे सामने एक बड़ी कठिन समस्या आ जाती, कि इतना दीर्घकाल हमारे हाथ में कभी आता ही नहीं। इसलिये यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि अति दीर्घकाल से हम मन से दबे हुए हैं तो उसे कैसे जीत सकते हैं। यह निश्चय रखिये, कि जहां आपने बुद्धि के हाथ में इच्छा-शक्ति दी, क्योंकि उसका धर्म अनाग्रह है, वह तुरन्त मन की लगाम पकड़ लेगी, वह मन की इच्छाओं को अपने नियन्त्रण में कर लेगी।

अतः यह नियम बताया कि वितर्क-बाध करना है तो उसके साथ प्रतिपक्ष-भावना करनी चाहिये। लेकिन यह तो तब हुआ कि जब मन इच्छा को उठाता है। जिस समय वह इच्छा को नहीं उठाता उस समय क्या करना है ? उस समय हमेशा विचार करना है, मन की तरफ दृष्टि रखनी है। यह एक दूसरा अभ्यास है। ये सारे अभ्यास कर्तव्यत्वेन बतला रहे हैं कि सदा मन की तरफ एक सूक्ष्म दृष्टि रखनी है। मन को ठीक उस प्रकार देखते रहना है, जिस प्रकार एक छोटा बालक जब इधर-उधर खेलता है तो आप अपना काम भी करते जाते हैं और एक सूक्ष्म दृष्टि बच्चे पर भी रखते हैं कि वह कहीं लुढ़क न जाये, कहीं कमरे से बाहर न निकल जाये, कहीं चाकू न पकड़ले। ठीक इसी प्रकार जिस समय मन इच्छाओं को उत्पन्न

नहीं कर रहा है उस समय अपनी सूक्ष्म दृष्टि मन की तरफ लगाये रखनी है। यदि वह थोड़ी भी इच्छा उत्पन्न करने की चेष्टा करता है तो आप वहीं उसको दबा देंगे। नहीं तो, यदि यह विचार जागृत नहीं रखा जायेगा, तो कालान्तर में आप देखेंगे कि मन ने अकस्मात् बवंडर खड़ा कर लिया है। इतनी बड़ी आंधी आ गई है कि आप उसको उस समय दबा नहीं पायेंगे। आप को दब जाना पड़ेगा। प्रवल इच्छा उत्पन्न होने पर आप को जवर्दस्ती नीचे दबना पड़ता है। उस समय हतोत्साह होने की जरूरत नहीं। यदि कभी आप समुद्र में स्नान करने के लिये जायें तो जिस प्रकार भारी लहर के सामने आते ही आप अपने सिर को नीचा कर लेते हैं और पानी को निकल जाने देते हैं, और लहर निकल जाने पर पुनः खड़े हो जाते हैं, वैसा ही अपने मन के साथ भी करना है।

भगवान् गौड़पादाचार्यों ने अपनी माण्डूक्य कारिका के अन्दर यहां तक बतलाया है कि यह प्रयास एक-एक बूंद करके समुद्र को सुखाने की तरह का है। यदि इतना धैर्य हमारे अन्दर है तो हम उसको सुखा सकेंगे। 'उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैक विन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः। (मा० का० ३/४१) यदि अपने मन की इच्छाओं को जीतना है, उसके ऊपर अपनी इच्छा-शक्ति का बलात्कार से प्रवाह करना है, तो एक टिट्टिभ पक्षी के दृष्टान्त की तरह करना होगा। वह पक्षी समुद्र के किनारे रहता है और वहीं अण्डे देता है। एक वार जव उसके अण्डे देने का समय आया तो उसकी पत्नी कहती है कि कोई अच्छी सी सुरक्षित जगह ढूंढ़ो जहां जाकर हम अण्डे दें। तो टिट्टिभ पक्षी बोला, अरे! यहीं अण्डे दे दो। वह कहने लगी यहां आकर अगर समुद्र अण्डे लेगया तो? तो पति वोला, तू जानती नहीं कि मैं टिट्टिभ पक्षी हूँ, समुद्र कैसे मेरे अण्डे ले जायगा? पत्नी ने अण्डे दे दिये। समुद्र इस बात को सुन रहा था। उसने उसका घमण्ड चूर करने के लिये तुरन्त अपनी लहरों को वढ़ाकर अण्डे अपने अन्दर छिपा लिये। टिट्टिभ पक्षी की पत्नी रोने लगी। तो पक्षी वोला, अरी! रोती क्यों है, मैं समुद्र को सुखा देता हूँ। वह सूख जायेगा तो अपने अण्डे निकाल लेंगे। वह हंसने लगी, तो बोला, तुम बात न करो काम में लग जाओ। तुरन्त पक्षी पानी के अन्दर डुबकी लगाता है और चोंच में पानी भरकर किनारे के बालू में लोट-पोट होने लगा, जिससे उसके परों में लगा हुआ पानी भी बालू में सूख जाय और चोंच का

पानी भी बालू में गिराकर पुनः समुद्र में डुबकी लगाता है और सोचता है, मैंने इतनी बालू समुद्र में अपने शरीर से लपेटकर डाल दी और इतना पानी इसका सुखा दिया तो यह खाली हो ही जायेगा। उसकी पत्नी थोड़ी देर तक उसको इस प्रकार करते हुए देखती रही और सोचने लगी यद्यपि यह समुद्र खाली होने वाला नहीं तथापि जैसा पति कर रहे हैं वैसा करना मेरा भी धर्म है। इसलिये वह भी अनुसरण करने लगी। थोड़ी देर बाद उधर से दूसरे टिट्टिभ पक्षी उड़ते हुए जा रहे थे तो इस विचित्र खेल को देखकर रुक गये। पूछा तुम लोग क्या कर रहे हो? तो किस्सा सुन कर वे भी वैसा ही करने लगे। उधर से नारद जी निकले तो उन्होंने यह सब देखा और गरुड़ को खबर दी। पक्षिराज गरुड़ ने जब अपनी प्रजा के ऊपर आपत्ति देखी तो वह भी समुद्र सुखाने को तय्यार हो गया, सोचने लगा बाद में भगवान डाटेंगे तो चार बातें सुन लूंगा। उनको अपने पंख खोलकर प्रलय की वायु बहाने को तत्पर देखकर समुद्र हाथ जोड़कर पक्षिराज के पास आया और बोला मैं अण्डे वापस लाता हूँ, मुझे न सुखाइये। उसने अण्डे वापस देदिये और पक्षिराज से प्रार्थना की कि उन पक्षियों को भी समझाइये कि इस समय तो मैंने जानबूझकर इन अण्डों को ले लिया था, कभी ऐसा भी होता है कि बिना जाने हुए भी मेरी लहरें अण्डों को ले जाती हैं। बाद में मुझे पता नहीं रहेगा तो ऐसी परिस्थिति में मैं अण्डे वापस देने के लिये कहां से लाऊंगा? राजा गरुड़ ने उन लोगों को भी समझा दिया कि ऐसा काम आगे से मत करना। तुम अपने अण्डे जहां देना चाहिये वहीं दिया करो। तो जिस प्रकार टिट्टिभ पक्षी ने अति अल्प काल में समुद्र को सुखाने का संकल्प कर लिया था, और प्रयत्न में सफल हुआ, याने अण्डे निकाल लाया, उसी प्रकार की स्थिति जीव की है। यह मत समझना कि हम सफलता प्राप्त नहीं करेंगे। जब यह जीव निश्चय कर लेता है कि मैं मन रूपी समुद्र को सुखा लूंगा, जब वह इच्छा-शक्ति का प्रयोग करने लगता है, तब यह नहीं सोचता कि मन का नियन्त्रण करने में कितनी देर लगेगी। सारे ही लोग जैसे पक्षी का साथ देने लगते हैं उसी प्रकार जीव का साथ बुद्धि देगी क्योंकि बुद्धि सदा जीव के साथ रहने वाली है और उसका धर्म अनाग्रह है। नतीजा क्या होगा कि देव ऋषि नारद की तरह कोई आ जाता है। नारद शब्द का अर्थ ही होता है कि, नारं ज्ञानं ददाति इति नारदः। ज्ञान का देने वाला कोई आ जाता है। प्रत्येक मनुष्य

में कुछ ऐसी इच्छायें होती है जिन्हें वह सरलता से नहीं जीत पाता। तो कोई न कोई ज्ञान देनेवाला या मार्ग दिखानेवाला उसे ऐसा मार्ग बता देता है कि वह उन इच्छाओं को भी जीत लेता है। प्रत्येक मनुष्य की कोई कमजोरी होती है, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि रहते हैं, किसी में कोई प्रधान होता है किसी में कोई। जब वह उनको जीत लेता है, अपनी प्रधान इच्छा को जीत लेता है, तो उसकी इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरी सभी इच्छाओं को भी जीत लेता है, उसको उपाय देने वाला गरुड़ के रूप में कोई न कोई आ जाता है, उस उपाय से वह सर्वथा उससे छूट जाता है। तब हमारे अन्दर यह शक्ति और समद्धि आ जाती है, ऐसी मदद मिल जाती है, जिससे हम मुकाबले में जीत जाते हैं।

प्रतिपक्ष भावना और विचार ये दो उपाय इच्छा-शक्ति को बढ़ाने के हैं। अब संक्षेप में दो एक और उपाय बतला देते हैं।

जीवन को क्रम-बद्ध बनाना भी इच्छा-शक्ति को दृढ़ करता है। हम जैसा मन में आया वैसा किया करते हैं। शास्त्र ने कहा है, ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत, धर्मार्थों चानुचिन्तयेत्। ब्राह्म मुहूर्त में उठ करके धर्म और अर्थ का चिन्तन करो। प्रातःकाल चार बजे उठना ही मन की इच्छाओं पर नियन्त्रण की सबसे बड़ी शिक्षा है। प्रातःकाल ४ बजे उठने का अभ्यास कीजियेगा। आप देखेंगे कि आपकी इच्छा-शक्ति में बड़ी प्रबलता आ जायेगी। यह बड़ी सरल सी चीज है, कठिन बात नहीं। पर यहां भी मनुष्य इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना नहीं चाहता।

जब हम लोगों से कहते हैं कि प्रातःकाल उठकर भजन किया करो तो कहते हैं महाराज! सवेरे तो उठ नहीं सकते, भगवान की प्राप्ति का कोई अन्य मार्ग बतलायें। क्या यह जरूरी है कि सबेरे ही उठा करें? तो हमें आश्चर्य होता है, कि तुम परमेश्वर को प्राप्त करने की इतनी भी कीमत नहीं चुकाना चाहते, चार बजे उठ नहीं सकते, और समझते हो कि उसकी प्राप्ति हमें हो जाये। हमें कुछ भी न करना पड़े। परमेश्वर आसमान से टपक जाये, और ऐसा टपके कि हमारी गोद में भी न टपके कि हमें चोट लग जाये। हमारी इस प्रकार की परिस्थिति है।

तो शास्त्र कहता है कि ब्राह्म मुहूर्त में उठकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करो। यह विचार करो कि आज दिन भर हमें यह कार्य करना है, इसके अन्दर यह धर्म का कार्य है और यह अर्थ का कार्य है। अर्थ का कार्य वह है जो जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक है। उसको हम इस क्रम से करेंगे। धर्म का कार्य यह है, इसको हम इस क्रम से करेंगे। उसी क्रम के अनुसार अपना दिन बितावें। इस दृष्टि से नहीं कि जो इच्छा आई वह कर लिया। इससे यह होगा कि जैसे-जैसे जीवन का क्रम बनता चला जायेगा हमारी इच्छा-शक्ति बढ़ती चली जायेगी।

इच्छा-शक्ति का और भी अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। विशेषकर प्राण-शक्ति के साथ इसका सम्बन्ध है। हम अपनी प्राण-शक्ति का बहुत अपव्यय करते हैं। इसलिये जब मन के ऊपर निरोध करने के लिये इच्छा-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है तो वह उपलब्ध नहीं होती। जैसे सामान्य रूप से यदि आप सदा बिजली खर्च अधिक करते चलेंगे तो अकस्मात् यदि आपके शहर में बिजली की ज्यादा जरूरत पड़ जायगी तो बिजली कम्पनी आपको न दे सकेगी। उसी प्रकार यदि आपका लड़का आपकी मोटर का हार्न ज्यादा बजाता है तो बिजली में तेजी नहीं रहेगी, क्योंकि आपने खर्च कर दी। यही हालत यहां भी है। आपने छोटी-छोटी चीजों में प्राण-शक्ति का अपव्यय कर दिया। आप सोचते हैं कि इन छोटी-छोटी चीजों से क्या होता है? उनसे आपकी इच्छा-शक्ति इतनी कमजोर हो जाती है कि जब आप उसको किसी बड़ी चीज के ऊपर लगाना चाहते हैं तो सफल नहीं हो पाते। इसलिये हम जीवन को नियमित रूप से व्यतीत करें, प्राण-शक्ति का संरक्षण करें, उसका अपव्यय न करें।

प्राण-शक्ति का सम्बन्ध वीर्य-शक्ति के साथ है। उसका क्षय न करें तो धीरे-धीरे हमारी इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि हम अपने मन के अधिपति बन जाते हैं। उस काल में परेच्छा और स्वेच्छा का पर्दा नहीं रह जाता। हम विश्व के सामने स्वेच्छा से वही करते हैं जो पहले परेच्छा से करते थे। नतीजा यह हो जाता है कि हमारी इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि यदि किसी काम में हम देखते हैं कि परेच्छा गलत है, समाज हमेशा ठीक नहीं हुआ करता, उसमें बहुत सी गलतियां रहती हैं, तो जिस

प्रकार एकान्त में स्वेच्छा से व्यवहार करते हैं उसी प्रकार हम समाज के सामने आते हैं। यदि परेच्छा से बाधित होकर हम जिन चीजों को गलत समझते हैं उन्हें भी करने लगते हैं तो यह इच्छा-शक्ति की कमजोरी है। यहां यह मत समझना कि जिसको समाज ठीक समझता है वही किया जाये बल्कि जो ठीक होवे उसको हम करें। इसलिये यह शक्ति भी हमारे अन्दर आ जाती है कि समाज किसी बात को यदि गलत भी समझता है तो हम उसकी चिन्ता नहीं करते। हम जिसको ठीक समझते हैं उसी को करते हैं। तो इस स्वेच्छा और परेच्छा के तादात्म्य को लाना है। स्व और पर का भेद मिटा देना है। इच्छा-शक्ति के द्वारा नियन्त्रित जीवन व्यतीत करना है।

यदि हम यह कर लेते हैं तो निश्चित ही न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन में, बल्कि सामूहिक, सामाजिक जीवन में भी सर्वत्र हम एक शान्ति की लहर को ला सकते हैं। इस दृष्टि को लेकर इच्छा-शक्ति को बढ़ा कर हम किस प्रकार उसे क्रिया-शक्ति में परिणत कर सकते हैं इस पर आगे विचार किया जायेगा।

कर्म और क्रिया-शक्ति

'शं नो मित्रः' के द्वारा व्यष्टि और समष्टि के आदर्श को बताकर उसके अन्दर ज्ञान-शक्ति की दृष्टि को लेकर, 'शं वरुणः' के द्वारा इच्छा-शक्ति के ऊपर विचार किया। अब भगवती श्रुति आगे कहती है 'शं नो भवत्वर्यमा'। अर्यमा शब्द की निष्पत्ति ऋ गतौ धातु से होती है। अतः यह हमें गीत या क्रिया का निर्देश करती है। 'शं नो भवत्वर्यमा' का अर्थ है हमारे क्रिया के अधिष्ठाता देवता भी हमारे प्रति कल्याणकारी हों। वे हमें कल्याण मार्ग का दर्शन करायें। यहां पर ज्ञान और इच्छा के बाद क्रिया आती है। जानाति, इच्छति, यतते, ज्ञान के द्वारा इच्छा और इच्छा के द्वारा यत्न याने क्रिया होती है। यदि इच्छा क्रिया-रूप में परिणत नहीं होती तो वह वस्तुतः बन्ध्या रह जाती है। जिस प्रकार यदि ज्ञान इच्छा-रूप में नहीं बदलता है तो वह कभी विज्ञान के रूप को धारण नहीं कर सकता है; ज्ञान के अन्दर विज्ञान-रूपता तभी आ सकती है, वह हमारे अनुभव से अभिन्न हुआ तभी प्रतीत हो सकता है, जब वह इच्छा-रूप में परिणत हो जाये; उसी प्रकार यदि इच्छा क्रिया के रूप में परिणत नहीं होती तो इच्छा को बन्ध्या माना गया है। वस्तुतः इच्छा-शक्ति का क्रिया-शक्ति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि इच्छा की पूर्णता है तो वह अवश्य ही हमें क्रिया में प्रवृत्त करायेगी।

यदि ज्ञान इच्छा में परिणत नहीं होता तो वह ज्ञान नहीं, केवल बौद्धिक विलास मात्र है। यदि वह ज्ञान हमारे अनुभव में आ चुका है तो अवश्य इच्छा-रूप में परिणत होगा। ठीक इसी प्रकार यदि इच्छा केवल एक मनोरथ मात्र नहीं है, बल्कि पूर्णता को प्राप्त हो गई है तो वह अवश्य क्रिया-रूप में परिणत होगी। लौकिक व्यवहार में भी जिस किसी भी विषय

की इच्छा हमारे अन्दर पूर्ण हो जाती है तत्प्रयुक्त क्रिया अनिवार्य होती है। यदि खाने की इच्छा अर्थात् भूख पूर्ण रूप से विद्यमान है तो यह कभी हो नहीं सकता कि खाने के लिये हम यत्न न करें। यदि खाने के लिये यत्न नहीं हो रहा है तो इसका निश्चित अर्थ है कि भूख पूरी नहीं लगी। प्रायः देखा जाता है कि छोटे-छोटे बच्चों से माता कहती है कि खाना खालो तो वे खाने में प्रवृत्त नहीं होते, पर कुछ देर वाद ही जव भूख पूर्ण हो जाती है तो स्वयमेव खेलना भी छोड़कर खाने के लिये आ जाते हैं। खाने के लिये जब तक भूख की कमी है, जब तक इच्छा में कमी या त्रुटि है, तब तक उसके लिये प्रेरणा की आवश्यकता पड़ती है। जब खाने या पीने की इच्छा पूर्णरूप से उद्बुद्ध हो जाती है, पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है तो उस काल में वह इच्छा क्रियारूप में अवश्य परिणत हो जाती है।

प्रायः जब हम कहते हैं कि हमारी इच्छा तो बहुत अच्छी है, पर क्या करें उसे हम क्रियारूप में परिणत नहीं कर पाते तो उसके अन्तःकरण में निहित बात यही है कि हमारी इच्छा पूर्णता को प्राप्त हुई नहीं होती है। इसीलिये वह क्रियारूप में आती नहीं है। इतना निश्चय रूप से समझना चाहिये कि यदि ज्ञान भी हो गया और वह इच्छारूप में परिणत भी हो गया लेकिन क्रियारूप से नहीं आया तो वह अन्तिम फल मोक्ष को उत्पन्न नहीं कर सकता है। शास्त्रों में तो यहां तक वतलाया है कि नरक की दीवालों के ऊपर वस्तुतः इच्छा की ही सफेदी की जाती है। अर्थात् जो अच्छी-अच्छी इच्छा ही करते रहते हैं उनको कभी क्रियारूप में परिणत नहीं करते हैं उनका नरक गमन निश्चित हो जाता है।

यद्यपि नरक का विचार यहां अपेक्षित नहीं है, पर मोटी दृष्टि से समझलो कि नर शब्द में अकच् प्रत्यय करने से नरक शब्द व्युत्पन्न होता है। नरक लोक अन्यत्र कहीं हो या नहीं, पर नर (मनुष्य) में जो अकच् याने अल्पार्थक, परिच्छिन्नता का भाव आता है वह कभी निवृत्त नहीं हो पाता, वही नरक है। केवल इच्छा ही रह जाती है तो अल्पार्थता के कारण जब परिच्छिन्न भाव निवृत्त नहीं हुआ तो वह नरक समान ही हो जाता है। आगे दूसरा नरक मिलता हो या न मिलता हो, ज्ञान के द्वारा, इच्छा के

द्वारा क्रिया होनी ही चाहिये तभी उसकी पूर्णता है अन्यथा वह बन्ध्या इच्छा मान ली जाती है। विवाह हो जाने पर यदि पुत्र उत्पन्न नहीं होता तो यह मान लेना पड़ता है कि विवाह की सफलता नहीं हुई। ठीक इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये कि ज्ञान और इच्छा दोनों का सम्बन्ध हो गया पर वह क्रियारूप में परिणत नहीं हुआ तो बन्ध्या ही रह गया।

परमेश्वर के अन्दर हम ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों की पूर्णता देखते हैं। यह जगत् क्या है ? गच्छतीति जगत्, जो निरन्तर गतिमान है, जो निरन्तर क्रिया कर रहा है वह जगत् है। इस जगत के आधार में परब्रह्म परमात्मा ही ज्ञानरूप से विद्यमान है। लेकिन उस परब्रह्म परमात्मा की माया-शक्ति को बतलाया है 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' कि उस परब्रह्म परमात्मा का बल उसकी इच्छा ही है। वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा अपने ऊपर ही विश्व का उन्मीलन करता है, विश्व को व्यक्त करता है। इस सारे ब्रह्माण्ड की क्रिया के मूल में परमेश्वर की इच्छा है। इच्छा के द्वारा ही यह सब कुछ होता है। इसलिये इच्छा जब तक क्रियारूप में परिणत नहीं होगी, जगत्-रूप में परिणत नहीं होगी तब तक परमेश्वर का पारमैश्वर्य भी सिद्ध नहीं हो सकता है। परमेश्वर को हम ईश्वर या शासन करने वाला कहते हैं। उसे ऐश्वर्य वाला कहते हैं, क्योंकि जगत्-रूप में उसकी इच्छा परिणत हो चुकी है। यदि जगत्-रूप से इच्छा की परिणति नहीं होवे, यदि जगत्-रूप से यह विश्व हमारे सामने न हो, तो परमेश्वर की ऐश्वर्यरूपता को भी हम सिद्ध नहीं कर सकते।

ठीक इसी प्रकार यदि हमारी इच्छा क्रियारूप में परिणत नहीं होती है तो हमारे अन्दर ऐश्वर्य का भाव नहीं आ सकता है। जिस ऐश्वर्य भाव के लिये हम निरन्तर प्रयत्न करते हैं ज्ञान और इच्छा के द्वारा जब वह क्रियारूप में परिणत होता है तभी वस्तुतः पूर्णता सिद्ध होती है। उसके बिना पूर्णता नहीं आ सकती है। तुम कहोगे कि क्रिया तो हम अब भी कर रहे हैं। तो फरक यह है कि तुम अभी कर्म कर रहे हो क्रिया नहीं। क्रिया के अन्दर कर्ता स्वतन्त्र होता है, कर्म के अन्दर कर्ता परतन्त्र होता है। हम अभी दूसरों के द्वारा

प्रवृत्त होकर, अपनी वासनाओं के द्वारा प्रवृत्त होकर आगे बढ़ रहे हैं। हम अपने शासक नहीं हैं। शिव और जीव में यही भेद है। शिव, 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (प्रत्यभिज्ञा हृदय सू०२) अपनी इच्छा से ही अपने ऊपर विश्व का उन्मीलन करता है। यद्यपि हम स्वप्न-जगत् का स्रष्टा अपने को मानते हैं, कहते हैं कि हमने स्वप्न-जगत् बनाया है, लेकिन वहां भी हमारी इच्छा ही कारण नहीं पड़ती है, जबर्दस्ती ऐसे स्वप्न भी देखने पड़ते हैं जिनको देखने की हमारी इच्छा नहीं होती। केवल जागृत में ही नहीं स्वप्न-जगत् में भी हम अपनी परतंत्रता का अनुभव करते हैं, अपनी परिच्छिन्नता का अनुभव करते हैं। जब तक 'स्वेच्छया स्वभित्तौ' अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल क्रिया नहीं करेंगे, क्रिया के अन्दर अपनी इच्छा जब तक कारण नहीं बनेगी, तब तक हमारी परतंत्रता रहेगी, हमारे जीव भाव की निवृत्ति नहीं हो सकती। भगवान्-सुरेश्वराचार्य तो यहां तक कह देते हैं कि 'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति' (मानसोल्लास ४।३४)। 'तदा' याने जब उसकी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की पूर्णता होगी; जब यह उस पारमैश्वर्य भाव को प्राप्त कर लेगा तब यह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता बन सकेगा, उसके पहले नहीं। इसके पहले न इसमें सर्वज्ञत्व आयेगा और न सर्व-कर्तृत्व आयेगा।

ज्ञान और क्रिया का सामञ्जस्य इच्छा के द्वारा तो अब भी हो रहा है, इच्छा-शक्ति के द्वारा नहीं। जब तक क्रिया रूप में इच्छा-शक्ति परिणत नहीं होगी तब तक इच्छा ही कर्म कराती रहेगी और हम मानते रहेंगे कि हमारी इच्छा-शक्ति शुद्ध होती जा रही है। तो यह मानना पड़ेगा कि इच्छा-शक्ति में शोधन नहीं हो रहा है, क्रिया के द्वारा ही इसका निर्णय हो सकता है अन्यथा नहीं।

यह एक दृष्टि है। इस दृष्टि को देखकर बहुत से लोग चौंकेंगे। क्योंकि हमारे सामने एक दूसरे प्रकार का आदर्श भी लोग रखते हैं। हम ज्ञान, और बहुत हुआ तो ज्ञान और इच्छा तक ही अपनी सीमा को बांधते रहे हैं आध्यात्मिक मार्ग में ज्ञान और भक्ति या योग का आदर्श ही सामने रखा जाता रहा है। उसको क्रियारूप में परिणत करने से हम घबराते रहे हैं।

हमने मान रखा है कि जितना-जितना हम परमेश्वरीय भाव को प्राप्त करेंगे उतना-उतना हम क्रिया से दूर होते चले जायेंगे। इन सबके मूल में एक छिपी हुई भावना है कि हम क्रिया से भय खाते हैं। यह भय हम इस कारण खाते हैं कि हमारे अन्दर परिच्छिन्नता का भाव है। अभी तक हमने परिच्छिन्नता द्वारा क्रिया करके बन्धन को प्राप्त किया है। जिस प्रकार दूध का जला हुआ छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है, उससे घबराता है कि हो न हो यह गरम होगा, उसी प्रकार हमारी स्थिति हो गई है। क्योंकि हम परेच्छा से ही कर्म करते रहे हैं, परेरित होकर, दूसरों के द्वारा ईरित होकर, अपनी वासनाओं और संस्कारों द्वारा बाध्य होकर हम निरन्तर क्रिया-शील रहे हैं, इसलिये हम क्रिया मात्र से भय खाना सीख गये हैं। हमारे अन्दर यह भावना हो गई है कि जब तक हम कर्म करेंगे हम परेरित होकर ही करेंगे, इसलिये क्रिया से हम को भय की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, जब हम किसी को कार्य करते देखते हैं तो तुरन्त अपने अन्दर यह अनुमान हो जाता है कि हो न हो इसके हृदय में कोई कामना, वासना या संस्कार है। संस्कार और वासना से प्रवृत्त होकर वह कार्य कर रहा है, स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं। स्वातन्त्र्य और क्रिया के सम्बन्ध को हम सर्वथा भूलते चले गये हैं।

यह एक बड़ी भारी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूल हुई है। यह भूल अन्यत्र भी सर्वत्र हुई है, पर भारतवर्ष में अधिकता से हुई है। इसीलिये हमारे यहां जो ज्ञानी और इच्छा-शक्ति वाले हुए हैं, उनके अन्दर हम प्रायः क्रिया का अभाव देखना चाहते रहे हैं। लेकिन हम देखते क्या हैं ? यद्यपि हम बुद्ध की मूर्ति की पूजा करते हैं, पर वह मूर्ति बड़े शान्त भाव से बैठे हुए बुद्ध की होती है। हम अपने मन के अन्दर इसी भाव से आदर्श की कल्पना करते हैं कि कहीं पर हम भी शान्त भाव से बैठे हुए इसी प्रकार से ध्यान करेंगे। मानो यही हमारा उद्देश्य हो। सारी निष्क्रियता, क्रियारहितता का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता चला जा रहा है। लेकिन हम बुद्ध के जीवन पर विचार नहीं करते। उसने अति अल्प उम्र में ही, ३२ वर्ष की उम्र में, ज्ञान प्राप्त किया था, उसका उन्होंने अपने मरण पर्यन्त प्रचार किया। यानी ८६वें वर्ष में उनकी मृत्यु हुई है, तब तक निरन्तर उसके प्रचार, प्रसार में क्रिया-

शील रहे हैं; क्रिया-रहित नहीं रहे। यद्यपि उपासना करते समय हम उनके ज्ञानकाल की मूर्ति का, उनके ध्यान और समाधिकाल का चिन्तन करते हैं, परन्तु उसके परवर्ती काल में जो इतनी बड़ी क्रिया का उद्भव हुआ उसे देखना भूल जाते हैं।

इसी प्रकार जब हम भगवान् शंकराचार्य का जीवन देखते हैं, तो उन्होंने अपने सारे जीवन में, जो अति अल्प काल था, क्योंकि ३२ वर्ष में उन्होंने जीवन का परित्याग कर दिया था, कितनी क्रिया की ? सारे भारतवर्ष में फैले हुए अवैदिक धर्मों का उन्मूलन करके फिर से सनातन धर्म को यहां पर संस्थापित किया। इतनी बड़ी क्रिया उनके जीवन में देखने में आती है। हम उनके सर्वकर्मसंन्यास का रहस्य उनके जीवन से ही प्राप्त कर सकते हैं। राम और कृष्ण के जीवन में भी क्रिया की पूर्णता मिलती है। इसलिये जब हम अपने महान् पुरुषों के आदर्शों को देखते हैं तो उनके जीवन में किसी प्रकार की निष्क्रियता की भावना को नहीं देखते। महापुरुषों का जीवन उनके उपदेशों की व्याख्या ही होता है। फिर यह निष्क्रियता की भावना हमारे अन्दर आ कैसे गई ? क्योंकि हम साधन और साधन के द्वारा प्राप्तव्य साध्य के भेद को भूल गये। जब तक हम इच्छा के द्वारा प्रवृत्त हो कर कर्म कर रहे हैं, तब तक अपनी इच्छा-शक्ति की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि कर्म के ऊपर अपने आक्रमण में सफल होने के लिये, हम अपनी क्रियाओं को कम करें। यह स्वाभाविक है, लेकिन यह उद्देश्य नहीं है। इच्छा और ज्ञान की जितनी पूर्णता होती जायेगी उतनी ही हमारे अन्दर क्रिया-शक्ति की वृद्धि होती चली जायेगी।

मनुष्य के अन्दर अनन्त शक्ति छिपी हुई है। इन अनन्त शक्तियों का उद्भव करना है। इनको लेकर आगे बढ़ना है। इन्हें कहीं बन्द करके रखने से कोई लाभ नहीं। जब परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा ही इस जगत् के निर्माण रूपी क्रिया के अन्दर निरन्तर लगा हुआ है तो यह समझना कि उस तत्त्व को प्राप्त करने वाले के अन्दर क्रिया का अभाव होगा, ग़लत है। कर्म का अभाव रहता है यह ठीक है। जगह-जगह पर शास्त्रों में नैष्कर्म्य भाव की प्राप्ति बताई है। नैष्कर्म्य—क्योंकि कर्म में हमें इच्छा प्रवृत्त कराती है। पर

जब हम इच्छा-शक्ति से, स्वतन्त्र होकर, क्रिया करते हैं तो उसके निरोध की आवश्यकता नहीं रहती। अभी तक हम परतंत्र भावना से कर्म करते रहे हैं। अब इस परतंत्र भावना को छोड़कर स्वतन्त्र भावना को लाना है। स्वतन्त्र होकर जब हम कार्य करेंगे तो वह क्रिया हमको भी आगे बढ़ा सकेगी। सबके लिये एक आदर्श उपस्थित कर सकेगी।

दो प्रकार की चीजें हम शुरू से बतला रहे हैं। व्यष्टि और समष्टि। व्यष्टि की समष्टि के प्रति गति ही क्रिया है। समष्टि का व्यष्टि के प्रति गमन का ही नाम ज्ञान है। दोनों के मूल में इच्छा छिपी हुई है। परब्रह्म परमात्मा इस सारे जगत् को प्रकट क्यों करते हैं? जीव को ज्ञान देने के लिये परमेश्वर ने यह सारा रूप धारण किया है। 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति,' किमर्थम्? सारे संसार को उसने अपनी भित्ति के ऊपर क्यों प्रकट किया है, यह सन्देह होता है। अपने ऐश्वर्य का ज्ञान करने के लिये, जीवरूप से यह समझने के लिये कि ईश्वर का रूप क्या है।

तो समष्टि की दृष्टि से, परमेश्वर की दृष्टि से, व्यष्टि के ऊपर प्रभाव का ही नाम ज्ञान है। वहां पर हम स्वतंत्र नहीं हैं। ज्ञान करने में जीव स्वतन्त्र नहीं है। ज्ञान कराने में परमेश्वर स्वतन्त्र है। जैसा पदार्थ हमारे सामने होगा वैसा ही ज्ञान होगा। भगवान शंकर भगवत्पादाचार्य इसलिये इस बात का स्पष्ट उद्‌घोष करते हैं कि 'वस्त्वधीना भवेद् विद्या (उपदेश साहस्री १/१३) कि विद्या या ज्ञान हमेशा वस्तु के अधीन है। 'प्रत्यक्षापि प्रमाण-विषय-वस्तु-ज्ञानवद् वस्तुतंत्रैव ब्रह्म विद्या' (ब्र० सू० भा० १/१।४)। यदि हमारे सामने घट है तो हमें घट का ही ज्ञान हो सकता है और सामने कपड़ा है तो कपड़े का ही ज्ञान हो सकता है। ठीक इसी प्रकार से सर्वत्र समझ लेना चाहिये। यदि समष्टि रूपी परमेश्वर की व्यष्टि के प्रति क्रिया का स्वरूप ज्ञान है, तो दूसरी तरफ व्यष्टि जब समष्टि के प्रति कर्म करता है 'कर्त्रधीना भवेद् विधिः,' (उपदेश साहस्री १।१३) तो विधि होकर वह कर्ता के अधीन हो जाती है। इसलिये यहां पर जीव या व्यष्टि समष्टि के प्रति जो अपने कर्तव्य को निभाता है वही क्रिया कहलाती है। लेकिन जब स्वतंत्र होकर निभायेगा तभी वह विधि हो सकेगी, तभी वह क्रिया हो सकेगी। अन्यथा उसके अन्दर न विधिता

रहेगी न क्रियारूपता रहेगी। व्यष्टि का समष्टि के प्रति दान ही क्रिया कहलाता है। लेकिन होना चाहियें वह दान। अपनी इच्छा से जो दिया जाता है उसी को दान कहा जाता है। जबर्दस्ती जो नष्ट हो जाय वह दान नहीं होता।

एक भड़भूंजन सब तरह की चीजों को भूंजा करती थी। भूंजते-भूंजते जब चीजें उड़कर इधर-उधर बिखर जाती थीं उनको वह फिर से इकट्ठा कर लेती थी। पर जो नाली के गन्दे पानी में पड़ जाती थीं उनको इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं था तो वह कह दिया करती थी 'इति श्री गोविन्दार्पण मस्तु' कि उस नाली में जो कुछ रह गया वह परब्रह्म परमात्मा को अर्पण है। तो इसका नाम दान नहीं है। यही हमारे अन्दर होता है। हम जब तक परतन्त्रता पूर्वक कोई कार्य करते हैं तब तक हमारा दान नहीं बन पड़ता है। दान तो तभी बन पायेगा जब हमारे पास जो चीज है उसे स्वतंत्रता पूर्वक देंगे।

इसी प्रकार जब व्यष्टि स्वतंत्रता पूर्वक क्रिया करेगा तभी वह सदाशिवार्पणमस्तु, कह सकेगा। अभी जब हम कहते हैं कि शिव के अर्पण है, तो अभी तो हमारी क्रिया हुई नहीं, हमने स्वतन्त्रता पूर्वक कुछ किया ही नहीं। जब हम कहते हैं कि गोविन्द के अर्पण है तो केवल मुख से कहते हैं, हृदय से कहते भी नहीं। वस्तुतः तो हमें कहने का अधिकार भी नहीं है क्योंकि हमने उस चीज को स्वतन्त्रता पूर्वक किया ही नहीं है। हम दूसरों के द्वारा, अपनी वासनाओं, संस्कारों और इच्छाओं द्वारा प्रवृत्त होकर करते हैं। व्यष्टि जो समष्टि को देता है उसी का नाम दान है, उसी का नाम क्रिया है। यदि उसमें कामना होगी तो कभी भी वह पूर्ण नहीं हो सकेगा।

हमारे यहां ध्यानस्थ का आदर्श केवल बुद्ध की मूर्ति ही नहीं है, बौद्ध धर्म में जो कुछ भी आदर्श हो, हम तो नटराज के पुजारी हैं। आपने भी शायद नटराज का चित्र कलात्मक दृष्टि से देखा होगा। सदाशिव जिस समय तीव्रतम नृत्य करने में संलग्न हैं उसी समय स्थिरता का भाव भी है,

उस स्थिरता के साथ उसमें पूर्ण क्रिया है। यह क्रिया के साथ सामरस्य हमारा आदर्श है।

हम भगवती की उपासना करते हैं, तो शक्ति की उपासना के समय, दुर्गा-पूजा के दिनों में, आप बंगाल में देखेंगे कि भगवती असुर का संहार कर रही है। उसके हाथों की नसें पूर्णरूप से क्रिया में लगी हुई हैं लेकिन मुख के ऊपर पूर्ण शान्ति दिखाई देगी। जब हम क्रिया करेंगे तो उस समय क्रिया के अन्दर भी पूर्ण शान्ति का अनुभव होगा। नटराज जब एक पैर पर खड़े हुए पूर्णरूप से नृत्य करते हैं तो उनके मुख के ऊपर की शान्ति ज्ञान का फल है, इच्छा का फल है। स्वतन्त्रता पूर्वक जब मनुष्य क्रिया करता है तो उसमें परिच्छिन्नता या थकावट का भाव नहीं आता। उसके हृदय में कभी यह सन्देह नहीं होता कि मैं जो कर रहा हूँ वह ठीक है या गलत। वह जो काम करता है वह ठीक ही करता है। इसलिये उसे सर्वकर्ता कहा गया है।

क्रिया-शक्ति की यह अनुभूति हमारे राष्ट्र से धीरे-धीरे निकलती चली गई। इसके कई कारण हुए। कुछ सामाजिक तथा अन्य भी बहुत से कारणों से हमने ज्ञान को क्रिया से अलग कर लिया। इस द्वैत को हम समाप्त नहीं कर पाये। और यही प्रमाद हमारे देश के पतन का एक बड़ा भारी कारण हुआ, और आज भी हमारे सामने यही समस्या है कि हम ज्ञान और क्रिया का समन्वय नहीं कर पा रहे हैं। जब तक इनका सामञ्जस्य उपस्थित नहीं होगा न हम व्यष्टि की दृष्टि से पूर्ण हो सकेंगे, न राष्ट्र की दृष्टि से, और न हमारी देन संसार के प्रति ही पूर्ण हो सकेगी।

आज हम एक बड़े भारी चौराहे पर खड़े हुए हैं। हमारे राष्ट्र के जीवन में, हमारे सामाजिक जीवन में वड़ा भारी परिवर्तन आ रहा है। धीरे-धीरे हमारे यहां कर्म की गति बढ़ती चली जा रही है। हमारा जीवन कर्ममय बनता चला जा रहा है। यदि हम चाहें कि हम आज से पांच-सौ वर्ष पूर्व की परिस्थिति में वापस चले जायें, और उसके लिये प्रयत्न और प्रयास भी करें तो सब निष्फल

होगा। हम ग्रामीण जीवन के अन्दर वापस नहीं जा सकते। इतिहास एक ऐसी घटना है जो सदा आगे बढ़ा करती है। उसे पीछे हटाने का साहस कोई नहीं कर सकता। जो हमारी आवश्यकतायें बन जाती हैं वे पीछे हट नहीं सकतीं। सारा विश्व एक उद्देश्य को लेकर ही गति करता है। उस उद्देश्य के परिवर्तन का हम साहस नहीं कर सकते। यदि हम चाहें, जैसा कि बहुत से लोग चाहते थे, और यह इच्छा महात्मा गांधी ने भी बहुत की थी, कि हम उस पुरानी ग्रामीण सभ्यता में वापस लौट चलें, जहां शान्ति है, जहां कर्म की कमी है, तो हम केवल चाह ही सकते हैं, यह इच्छा कभी पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि विश्व को चलाने वाला संकल्प हमारे सारे व्यक्तियों के संकल्प से महान् होता है। अतः प्रत्येक युग में आवश्यकता होती है नवीन सामंजस्य स्थापित करने की। वैज्ञानिक-प्रगति के अनुरूप ही हमें मानस-प्रगति भी करनी होगी।

अनेक बार हम मान लेते हैं कि कलियुग आगया है अत: कुछ किया ही नहीं जा सकता। प्राय: लोग कह दिया करते हैं कि आसुरी सम्पत्तियां बढ़ रही हैं। लेकिन यदि आसुरी सम्पत्तियां बढ़ती हैं तो उसका नियन्त्रण करने के लिये हमको दैवी सम्पत्तियों को बढ़ाना पड़ेगा। उल्टा नहीं, कि हम बिना किसी प्रकार से युद्ध किये हुए ही आसुरी सम्पत्तियों के सामने हार मान लें। अतः यह निश्चित है कि यदि आज विज्ञान उन्नति कर रहा है तो उसके अन्तस्तल में ईश्वर का संकल्प है। हमें दृष्टि यह बनानी है कि हम विज्ञान का सदुपयोग किस प्रकार कर सकें, किस प्रकार हम सामञ्जस्य करके एक नवीन आदर्श उपस्थित कर सकें? इतिहास में हम पीछे नहीं जा सकते, आगे ही बढ़ सकते हैं। इस आगे बढ़ने की दृष्टि को लेकर के चलना है, पीछे हटने की दृष्टि को लेकर नहीं। जितना कर्म बढ़ रहा है, उतना ही अधिक इसके ऊपर हमें विचार करना है। कर्म के परित्याग से काम नहीं चलेगा। हमें कर्म को क्रिया के रूप में परिणत करना है। जिस कर्म को हम परतन्त्र होकर कर रहे हैं उसे स्वतंत्र होकर करना है।

यह एक ऐसी देन है जिसे केवल वैदिक धर्म ही दे सकता है। संसार के और जितने भी मतमतान्तर और मजहब हैं उन सबने द्वैत उत्पन्न कर रखा

है। उनके यहां हमेशा जड़ और चेतन का भेद रहा है। इस जड़ और चेतन के भेद को हटाने वाला कोई है तो केवल वैदिक सिद्धान्त; 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१) का घोष कोई भी अन्य मत और मतान्तर नहीं दे सकता है। हमारा आदर्श है जड़ तथा चेतन के भेद का, जिसने सारा जीवन दो भागों में बांट लिया है, एक धर्म भाग और दूसरा अधर्म भाग, खण्डन करना। जब तक हम इस द्वैत का खण्डन नहीं करेंगे, जब तक यह हमारे जीवन से नहीं हटाया जा सकेगा, तब तक हम ज्ञान और क्रिया का इस दृष्टि से समन्वय नहीं कर पायेंगे।

इसका दुष्परिणाम यह होता है कि कर्म-काल में जड़ प्रधान हो जाता है। जड़ के अन्दर मन और अन्तःकरण भी आ जाते हैं। जब हम कर्म करते हैं तो उस समय हमारी दृष्टि जड़ात्मवादी हो जाती है। जिस समय हम ध्यान करते हैं उस समय हमारी दृष्टि चेतन-प्रधान हो जाती है। जब तक हम क्रिया-काल में भी चेतन-प्रधान दृष्टि को लेकर नहीं चल सकेंगे, जब तक हम क्रिया-काल के अन्दर भी अपनी जड़ दृष्टि को नहीं हटा सकेंगे, तब तक हमारे जीवन में द्वैत बना रहेगा। पदार्थों का साथ करते समय हम भूल जाते हैं कि इन पदार्थों की सत्ता किस पर आधारित है। वह आपकी इच्छा-शक्ति के ऊपर आधारित है, आपके ज्ञान के ऊपर आधारित है। इस विषय को जब तक हम अच्छी तरह देख नहीं लेते तब तक जड़ पदार्थों से भिन्नता बनी रहेगी।

इस द्वैत को हटाने के लिये बड़े प्रयास हो रहे हैं। इसी द्वैत के कारण आज से तीनसौ वर्ष पूर्व रसायन-शास्त्र को दो भागों में बांटा गया था। एक को इन-ऑर्गेनिक कैमिस्ट्री कहत थे और दूसरे को ऑर्गेनिक, याने एक को जड़ जगत का रसायन और दूसरे को चेतन जगत का रसायन कहते थे। कुछ समय के बाद यह भेद केवल एक काल्पनिक भेद ही रह गया। आज विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। लोग यहां तक आशा करते हैं कि जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण से वे चेतन पदार्थ को उत्पन्न कर लेंगे। यदि अभी नहीं किया हो, और भविष्य में भी ऐसा कर लिया तो कोई आश्चर्य नहीं, इससे हमारे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं आता। कुछ साल पूर्व एक बड़े भारी

वैज्ञानिक हमसे आकर कहने लगे कि बहुत सम्भव है कि हम टैस्ट ट्यूब में बच्चों को पैदा कर लेंगे फिर आपके जड़ और चेतन का भेद कहां रहेगा और धर्म की क्या दशा होगी ? हमने कहा कि तुम जो टैस्ट ट्यूब लोगे वह कांच की टैस्ट ट्यूब है, पर आज भी गर्भाशय टैस्ट ट्यूब ही तो है, जिसमें जब जीव उत्पन्न होता है तो दो जड़ जल-बिन्दुओं का सम्मिश्रण होता है और वहां पर चेतन की सत्ता आ जाती है। उसमें और तुम्हारे टैस्ट ट्यूब में क्या भेद है ? चेतन तो सर्वत्र विद्यमान है। जैसी परिस्थिति तुम उत्पन्न करोगे उसके अनुसार यदि तुम्हारे जड़ांश में उतना ही सत्त्वगुणांश आ जाता है जितना सत्वगुणांश अन्तःकरण में है तो वहां पर भी अन्तःकरण विशिष्ट चेतनता आ जाती है। हम तो चेतन को परिच्छिन्न नहीं मानते। यह समस्या तो उनके लिये उत्पन्न होती है जो जड़ और चेतन के भेदवादी हैं। उनके लिये यह बड़ी भारी समस्या हो सकती है जो यह मानते हैं कि परमेश्वर कहीं दूसरी जगह बैठा हुआ है, और वहां से जीवों का निर्माण करके उनके पैकेट बना-बना कर भेज रहा है। हमारी वैदिक दृष्टि में यह कोई समस्या है ही नहीं। हम तो यही स्वीकार करते हैं कि सर्वत्र उसी चेतन की ही सत्ता है। वही चेतन कहीं सत्ता-रूप से प्रतिफलित हो रहा है और कहीं ज्ञान-रूप से।

उसके ज्ञान-रूप से प्रतिफलित होने का कारण क्या है ? सूर्य प्रकाशित हो रहा है, यदि आप उसके सामने दर्पण रख देंगे तो दर्पण के अन्दर सूर्य जैसा है ठीक वैसा ही दिखाई दे जाता है। पर यदि दीवाल के ऊपर उसका प्रकाश पड़ता है तो सामान्य रूप से प्रकाश पड़ जाता है, वहां सूर्य की गोलाई नहीं दिखाई देती। यह भेद है जरूर पर यह भेद सूर्य के कारण नहीं है। सूर्य तो सर्वत्र एक जैसा ही प्रकाश दे रहा है पर सूर्य के प्रतिबिम्ब को पकड़ने वाले पदार्थ में भेद है। कांच में सफाई ज्यादा है इसलिये वह सूर्य की गोलाई को ग्रहण कर लेता है, पर सामान्य दीवाल में वह शक्ति नहीं है। यह भेद दीवाल और दर्पण को लेकर है। यद्यपि दोनों जड़ हैं, पर दोनों की शक्तियों में भेद है। इसी प्रकार सत्तारूप में परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान है। पर ज्ञान-रूप से उसको ग्रहण करने की शक्ति परिच्छिन्नता के साथ सात्त्विक गुण की विशेषता से आयेगी। आखिर अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन ही जीव है, यदि

आप उसे गर्भ में न करके टैस्ट ट्यूब में कर लेंगे तो कोई फर्क नहीं पड़ता। क्रिया में कोई भेद नहीं आना है। वेदों की यह दृष्टि है। जड़-चेतन का द्वैत जिस प्रकार रसायन-शास्त्र और जीव-विज्ञान में टूटने जा रहा है उसे हम तो हमेशा से बताते आये हैं। वेद का सदा यह उद्घोष रहा है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' यह सारा ही जगत ब्रह्मरूप है। ब्रह्म से भिन्न इसकी कोई सत्ता है ही नहीं। ब्रह्म से अलग होकर क्षणमात्र के लिये जगत् का एक परमाणु भी नहीं रह सकता है। उस परमाणु के अन्दर भी परब्रह्म परमात्म तत्त्व व्यापक है। इसलिये हमारे यहां जड़ और चेतन का भेद रहा ही नहीं। वैदिक धर्म ही केवल वह धर्म है जिसकी यह महान् दृष्टि रही है। उसने कभी जड़ और चेतन के भेद को स्वीकार नहीं किया। उसी के अन्दर यह शक्ति है कि वह ज्ञान और क्रिया के सामरस्य को लेकर जड़ और चेतन की एकता का प्रतिपादन करे, क्योंकि क्रिया जड़-प्रधान है और ज्ञान में चेतनता की प्रधानता है।

दुःख की बात है कि हम लोग इसके ऊपर विचार नहीं करते। इसके कई ऐतिहासिक कारण हुए। हमारे ऊपर बौद्ध धर्म और जैन धर्मों की छाया अति दीर्घकाल पर्यन्त रही, हमारी समकालीन सन्त परम्परा ने भी बहुत कुछ ऐसे आदर्श उपस्थित किये जिनसे हमारे धर्म के अन्दर कुछ ऐसी भावना आगई जिसे अंग्रेजी में Escapist भगोड़े का भाव कहते हैं, कि हम जगत् से दूर हो जायें, भाग जायें। हमने कभी यह विचार नहीं किया कि जगत् है क्या ? शास्त्र ने कहा था कि जगत् तो तुम्हारा मन है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' (ब्रह्म विन्दु उपनिषद २) यह वेदों का उद्घोष था कि तुम बंधे हुए हो अपने मन में, तुम्हारा परिच्छेदक है तुम्हारा अन्तःकरण। बाह्य परिस्थितियां तुम्हारी परिच्छेदक नहीं हैं। तुम जहां जाओगे वहां तुम अपने संसार को साथ लेकर जाओगे। तुम संसार को छोड़कर जा ही कहां सकते हो, यदि समाधि में भी प्रविष्ट हो जाओगे तो वहां पर भी कारण-रूप से तुम्हारी अविद्या बैठी रहेगी। जैसे ही तुम उठोगे वह व्यक्त हो जायेगी।

पञ्चदशी में आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने एक आदर्श सामने पेश किया। वह कहते हैं कि तुम समाधि से ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तुम सोचते हो

कि जब हम समाधि के अन्दर बैठेंगे तो अन्तःकरण की वृत्तियां हमें कष्ट नहीं देंगी, इसलिये हमें ज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी। यदि अन्तः-करण की प्रवृत्तियों के अभाव से ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती और तुम परमेश्वर में स्थित हो जाते तो प्रलयकाल में भी, जो, करोड़ों और अरबों वर्षों तक रहता है, अन्तःकरण की स्थिति नहीं रहती है, प्रलय के बाद उतने ही वर्षों तक महाप्रलय रहता है जितने वर्षों तक यह सृष्टि रहती है, तब तक अन्तःकरण की स्थिति नहीं थी, लेकिन फिर जब सृष्टि उद्बुद्ध हुई तो पुनः वही अन्तःकरण वापस आगया, वही कामनायें तुम्हारे अन्दर फिर आ गईं। क्या तुम प्रलयकाल के बराबर लम्बे समय तक समाधि लगा सकोगे? जब इतने लम्बे समय तक अन्तःकरण की प्रवृत्तियां न रहने पर भी हमारे अन्दर पूर्णता नहीं आ सकी तो यहां यदि हम दो, चार, दस, बीस साल, सौ साल या हजार साल भी समाधि लगायें तो क्या उससे पूर्णता आ सकेगी?

इसीलिये हमारा परिच्छेदक है हमारा अन्तःकरण, बाह्य जगत् नहीं। वेद के इस उद्घोष को हम भूल गये। इसे भूलकर हम भी अन्य परम्पराओं को मानने लग गये। हमारे अन्दर यह ग़लत भावना आ गई कि जगत् के कारण हमको दुःख होता है, कि दूसरे हमको दुःख देते हैं। क्या सुन्दर उद्घोष था—

'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा।' (अ. रा.) कहते हैं कि सुख और दुःख को देने वाली कोई दूसरी चीज नहीं है, कोई दूसरा देता है ऐसा सोचना कुबुद्धि है। सुख और दुःख का कारण तुम स्वयं हो। श्रुति ने इस आदर्श को हमारे सामने रखा था, इसको भूल जाने के कारण ही हम राष्ट्र-जीवन में भी पीछे हो गये और धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में भी पिछड़ गये। समष्टि-दृष्टि से ही नहीं व्यष्टि-दृष्टि से भी हमारा धार्मिक जीवन नष्ट हो गया।

अब पुनः यह आदर्श हमारे सामने रखना पड़ेगा कि ज्ञान और क्रिया की पूर्णता तभी हो सकती है जब हम यह समझलें कि जगत् से भाग करके,

पलायन करके हम अपने को नहीं बचा सकते। वेदान्तियों का आदर्श इससे भी आगे जाता है।

अभी तो हम यह समझा रहे हैं कि व्यष्टि समष्टि को देवे। किस लिये? अपनी पूर्णता के लिये। लेकिन आगे एक बात कहने जा रहे हैं, जिस पर अधिक विचार नहीं करेंगे, केवल संक्षेप में ध्वनिमात्र देते हैं। सिद्धान्त-लेश-संग्रह के अन्दर अप्पयदीक्षित ने बड़ा भारी विचार किया कि मुक्ति का स्वरूप क्या है। प्रायः सांख्यवाद से प्रभावित होने के कारण हमने मान रखा है कि हम मानो बन्धन में पड़े हुए हैं और संसार से अलग हो जायें तो मुक्त हो जायें। हम तो मुक्त हो जायेंगे और संसार के दूसरे जीव बन्धन में पड़े रहेंगे। यह भावना हमारे अन्तःकरण में इतना घर कर गई है कि हम आध्यात्मिक जीवन में भी दूसरे को धक्का देकर आगे बढ़ना, Elbow out करना चाहते हैं। जब आप बस में चढ़ना चाहते हैं तो क्या करते हैं, दूसरों को धक्का देकर पहले घुसना चाहते हैं, क्योंकि आप समझते हैं कि मेरा काम समय से हो जाये चाहे दूसरा पीछे रह जाये। ठीक यही भावना धार्मिक जीवन में भी आ जाती है। हम सोचते हैं कि जिस किसी प्रकार से हम मुक्त हो जायें। दूसरे चाहे बन्धन में रह जायें। यदि व्यक्तिगत रूप से प्रतीत्यसमुत्पाद हो गया तो मोक्ष हो गया। यह दृष्टि कहां से आती है? आत्मा की अनेकता को स्वीकार करने से। सांख्यवाद के प्रभाव में आकर हमने मान लिया कि हमारी आत्मा अलग है और दूसरों की आत्मा अलग है।

यह विचारधारा बुद्ध ने हमारे सामने रखी कि हमारी प्रतीति दूसरों की प्रतीति से अलग है। यदि हमने प्रतीत्य समुत्पाद कर लिया तो हमारा काम हो गया दूसरों के प्रतीत्य समुत्पाद से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। यह जरा सूक्ष्म बात है। विस्तार से नहीं बतलायेंगे। पर इस पर आप आगे मनन कीजियेगा। इस कमी को बौद्ध धर्म ने बाद में अनुभव किया और उन्होंने जब महायान सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया तब इस कमी को दूर करने की चेष्टा की और बोधिसत्व के आदर्श को लाये। जहां तक पूर्ववर्ती बौद्ध धर्म अर्थात् पाली आधारित हीनयान का सम्बन्ध है उसमें सर्वथा यह भाव नहीं आ पाया है। बुद्ध के अन्दर भी यह आदर्श कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है और

उसके बाद तुरन्त आने वाले अनुयायियों में भी जो हीनयान के समर्थक थे, यह चीज़ नहीं पायी जाती है।

संस्कृतमूलक महायान के अन्दर यह आई कहां से ? वस्तुतः इसका मूल तो था हमारे वैदिक धर्म का प्रभाव। महायान धर्म के प्रवर्तक रहे हैं ब्राह्मण लोग। यह जरा ऐतिहासिक विषय हो जायेगा। परवर्ती काल में बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर जब ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म में प्रवेश किया तो उन्होंने महायान की शाखा चलाई। इसीलिये उनके पूजापाठ की सारी पद्धति वेदमूलक हो जाती है। यदि आप तिब्बत में जायें तो देखेंगे कि वे उसी शिव-शक्ति की पूजा करते हैं। ठीक हमारे देवी देवताओं का नाम बदल करके वहां पूजन हो जाता है। पद्धति वही है। चन्दन, धूप, पुष्प चढ़ाते हैं, और ॐ मणि पद्मे हुँ, इत्यादि उन्हीं मन्त्रों का जप हो रहा है। वहां पर यह प्रतीति ही नहीं हो पाती कि यहां पर बुद्ध का प्रभाव है या हमारे वैदिक धर्म का। लेकिन जहां तक बुद्ध का साक्षात् सम्बन्ध था उनमें और उनके तुरन्त बाद आने वाले हीनयानी अनुयायियों में यह दृष्टि बिल्कुल नहीं आ पाई थी। बाद में वैदिक दृष्टि द्वारा अनुप्राणित होकर यह दृष्टि आई। इसीलिये महायान में भी केवल करुणा या भावुकता के बल पर ही इस आदर्श को रखा गया है। कोई ठोस आधार इसमें उन्हें नहीं मिल पाया।

हमारे यहां यह दृष्टि एक दार्शनिक आधार-शिला के ऊपर उपस्थित है। जिनका वेदान्त का संस्कार होगा वे इस बात को थोड़े संकेत से समझ जायेंगे। प्रत्येक जीव क्या है ? प्रत्येक जीव ब्रह्मरूप है, केवल अन्तःकरण की उपाधि के द्वारा ही वह जीवरूप को प्राप्त हो चुका है। अन्तःकरण विशिष्ट चेतन को हमारे यहां जीव कहा गया है। लेकिन अन्तःकरण उपलक्षित चेतन ब्रह्म है। एक सूर्य का प्रकाश यदि दस पानी के घड़ों में पड़ता है तो मानना पड़ेगा कि दसों घड़ों के अन्दर का प्रकाश सूर्य का ही प्रतिबिम्बित प्रकाश है। जब तक एक भी प्रतिबिम्ब पड़ रहा है तब तक सूर्य का नाम प्रतिबिम्बित सूर्य ही रहेगा, तब तक हम उसको केवल सूर्य नहीं कह सकेंगे। यदि आप उनमें एक घड़ा फोड़ दें तो केवल नौ प्रतिबिम्बित सूर्य रह गये लेकिन सूर्य में अभी भी बिम्बता है। यदि आप नौ घड़े भी फोड़ देते हैं तो

उसे अभी भी शुद्ध रूप की प्राप्ति नहीं हुई। जब तक सारे घड़े फूट न जायें तब तक आप नहीं कह सकते कि सूर्य का बिम्बभाव नष्ट हो गया।

ब्रह्म एक है। जब वही सारे अन्तःकरणों के द्वारा विशेषता को प्राप्त कर रहा है, सारे अन्तःकरणों में पड़ा जीवभाव को प्राप्त करता है, तो यदि एक का जीवभाव नष्ट हो जाता है तो केवल उतने अंश से ही हम ब्रह्म को मुक्त कह सकते हैं। वस्तुतः तब भी हम उसको शुद्ध ब्रह्म नहीं कह सकते क्योंकि दूसरे अन्तःकरण फिर भी विद्यमान हैं। यह एक अति सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि है जिसका विचार सिद्धान्त-लेश-संग्रह में है। जितना वह प्रतिबिम्ब का अंश था वह अवश्य बिम्ब के साथ मिल गया। उसके अन्दर यह भावना नहीं रह गई कि मैं बद्ध हूँ। उसे प्रतीति है कि मैं सूर्यरूप हूँ, लेकिन फिर भी वह सूर्य बिम्बरूप में विद्यमान है क्योंकि दूसरे प्रतिबिम्ब वहां पर अभी मौजूद हैं। उसी प्रकार जिस जीव का अन्तःकरण नष्ट हो गया वह ब्रह्मरूप को प्राप्त हो गया, लेकिन किस ब्रह्म रूप को ? जो ब्रह्म इस बात को जानता है कि मेरा प्रतिबिम्ब अभी दूसरी जगह विद्यमान है। इसलिये वहां निर्णय किया गया है कि ब्रह्म के अन्दर बिम्बभावना को ही शास्त्रीय दृष्टि से ईश्वरभाव कहा जाता है। वस्तुतः अगर जीव का अन्तःकरण नष्ट हो जाता है तब जीव मुक्त हो जाता है, उस समय उसकी स्थिति क्या होती है ? उसके अन्दर ईश्वरभाव आ जाता है। इसलिए वह सर्वथा स्वतंत्र हो जाता है। 'सर्वज्ञः सर्व कर्ता च तदा जीवो भविष्यति' (मानसोल्लास ४।३४)। उस समय उसके अन्दर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व आ जाता है। लेकिन सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व ही यह बतला रहा है कि दूसरी जगह उसके अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब चेतन विद्यमान है। इसलिये उसकी प्रवृत्ति क्या होती है ? सर्वथा, सब जगह पर उसी सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व का उद्बोध होवे। विचार करिये कि जब मुक्त के लिये भी इस आदर्श को हमारे शास्त्रों ने रखा है और सामान्य रूप से इसी को स्मृतियों ने बतलाया है 'दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्। शान्तोमुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत्'॥ कि जो मुक्त पुरुष है वह दूसरों की मुक्ति के लिये चेष्टा करे तो हम केवल महापुरुषों के ही

आदर्श को नहीं कर रहे हैं। हमारे यहां तो दार्शनिक दृष्टि भी ऐसी बनी हुई है। वेद की दर्शनशिला ही हमको कभी भी एक-मुक्तिवाद की तरफ प्रवृत्त नहीं कर सकती है। हमारा तो दर्शन सर्व-मुक्तिवाद है।

सर्वत्र मुक्ति के आदर्श को लेकर यदि हम चाहते हैं कि हम किसी चीज से दूर हट जायें तो दूर हटेंगे कहां से ? जहां जाओगे वहां सारा संसार तुम्हारे साथ विद्यमान है। इसीलिये जब मुक्तभाव के अन्दर भी क्रिया का अभाव सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्यों कि वहां पर भी दूसरी जगह प्रतिबिम्बत्व देखने के कारण जड़ और चेतन की क्रिया फिर भी विद्यमान हैं, तो साधारण साधक यदि चाहे कि मैं सर्वथा क्रिया से मुक्त हो जाऊं तो वह क्या कभी हो सकता है ? गीता में भगवान ने भी यही बात कही कि अर्जुन ! यदि तू समझता है कि मैं मुक्त भी हो गया हूँ तो भी तुझ को 'चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्' (गी० ३।२५) लोक संग्रह करना चाहिये। लोकसंग्रह का अर्थ है कि सारा संसार ठीक मार्ग में प्रवृत्त हो ऐसा प्रयास। इसमें स्वयं अपना दृष्टान्त देते हुए भगवान कहते हैं 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् (गी०३।२४) कि यदि एक मिनट भी मैं कर्म नहीं करूंगा तो यह सारा संसार परिच्छिन्नता को प्राप्त हो जायेगा। सारा संसार नष्ट हो जायेगा। मैं यदि इस जगत् को सत्ता और ज्ञान नहीं दूंगा तो यह जगत् रहेगा क्या ? जिस प्रकार सत्ता और ज्ञान देना मेरा काम है उसी प्रकार सत्ता और ज्ञान देना तुम्हारा भी काम है। यह क्रिया है। इस दृष्टि को अपनाकर हम ज्ञान और क्रिया में सामरस्य को कायम कर सकेंगे।

यह तो हुई सिद्ध की दृष्टि, या परमेश्वर की दृष्टि। व्यक्तिगत जीवन में क्या होना चाहिये ? जितना-जितना ज्ञान और इच्छाओं का शोधन होता है उतना-उतना उनके अन्दर क्रियारूप की परिणति आनी चाहिये। बहुत से आदमी इस डर से कि हम कोई गलती न कर लें हमेशा क्रिया से घबराते हैं। क्रिया से मनुष्य बहुत डरता है। वह चाहता है कि मैं ऐसा कार्य करू जो आदर्श हो, जिसमें कोई ग़लती न हो। पर क्या Perfect Act पूर्ण सर्वांगीण ठीक कार्य कभी संभव है ? जब तक आपके अन्दर ज्ञान और इच्छा की सीमा बनी हुई है तब तक यदि आप अपने गलत ज्ञानों से नहीं

घबराते हो, अपनी गलत इच्छाओं से भी नहीं घबराते, तो गलत क्रिया से ही इतना क्यों घबराते हो। इसका कारण केवल एक है। क्रिया हमारे बाह्य जगत् की चीज है। अतः क्रिया को हम रोक सकते हैं। बाह्य जगत् की चीज होने के कारण तुरन्त हमारे ऊपर उसका प्रतिफल आ जाता है। हमको उसका फल भोगना पड़ता है इसलिये हम क्रिया से डर जाते हैं। लेकिन व्यवहार में हम करते क्या हैं? जैसे डाक्टर दवाई देता है। यदि कोई डाक्टर इस निर्णय पर आ जाये कि मैं दवाई तभी दूंगा जब मुझे यह निश्चित ज्ञान हो जाये कि इससे अच्छी और कोई दवाई नहीं है, इसका रोग भी निश्चित रूप से सिद्ध हो जाय कि अमुक रोग ही है, और यह भी निश्चय हो जाय कि इस दवाई से आगे कोई नुकसान नहीं होगा, तो ये तीन शर्तें कभी पूरी न हो पायेंगी और वह डाक्टर कभी भी दवाई देने में समर्थ नहीं होगा। डाक्टर जानता है कि संभव है मेरे ज्ञान में ग़लती है, मैंने जो निदान (diagnosis) किया है, जैसे रोग को पहचाना है उसमें ग़लती हो सकती है, और यह भी सम्भव हो सकता है कि जिसको मैं ठीक औषधि मानता हूँ बीस वर्ष के अन्वेषण के बाद पता लगे कि इसमें ग़लती है, यह भी मैं जानता हूँ कि इससे अच्छी और कोई दवाई निकल सकती है, फिर भी इस काल में जितनी मेरी बुद्धि काम कर रही है उसके अनुसार मैंने पूर्ण रूप से विचार कर के निर्णय कर लिया है कि इसका रोग यह है और मेरे ज्ञान के अन्दर कोई ऐसी दवाई नहीं जो इससे अच्छी हो। मैं समझता हूँ कि यह दवाई नुकसान नहीं करेगी। इतना मानकर वह दवाई दे देता है। इससे कई रोगी ठीक हो जाते हैं और कभी ग़लत काम भी हो जाता है। लेकिन उसके लिये कभी कोई डाक्टर को पकड़ता नहीं। यही काम व्यापारी भी करता है। क्या वह निश्चित रूप से कह सकता है कि अमुक काम करूंगा तो इतना फायदा होगा? कभी नहीं कह सकता। वह तो अपने पूर्व के अनुभवों के आधार पर विचार करता है, फिर सौदा खरीद लेता है। हो सकता है कि उसके दूसरे दिन ही वित्त मंत्री का नया बजट पास हो जाय और उस विचारे को लाखों का घाटा लग जाये, लेकिन उसके लिये उसको कोई दोषी नहीं ठहरा सकता। क्योंकि उसके पास जितना

ज्ञान और इच्छा-शक्ति थी उसका उसने पूर्ण उपयोग इसलिये किया कि उसका कार्य पूर्ण हो जाये, आदर्श हो जाये, उसमें कोई कमी न रहे।

ठीक यही बात हमको हरेक क्रिया में लानी है। क्रिया से घबराने से काम नहीं चलेगा। हमारे अन्दर जितनी इच्छा-शक्ति आई है, जितना ज्ञान प्रस्फुटित हुआ है उतने अंश में हमें उसको प्रकट करना पड़ेगा। जब तक क्रियारूप में उसको प्रस्फुटित नहीं करेंगे तब तक उसका क्या पता लगेगा कि यह चीज ठीक है कि ग़लत। नैष्कर्म्य-सिद्धि के प्रारम्भ में आचार्य सुरेश्वर एक बड़ी सुन्दर बात लिखते हैं। उनसे प्रश्न पूछा जाता है कि आप नया ग्रन्थ क्यों लिख रहे हैं, वेदान्त पर तो पहले ही अनेक ग्रन्थ हैं। मालूम पड़ता है कि आपको यश की कामना हो गई है। उन्होंने कहा कि मेरे हृदय में कोई यश की कामना नहीं है, मैं कोई पूजा या सत्कार भी नहीं चाहता हूँ। मैं तो इस ग्रन्थ को केवल इसलिये लिख रहा हूँ कि इस ग्रन्थ में मेरा अनुभव निहित है, ब्रह्मवेत्ता लोग मेरे अनुभव को इस ग्रन्थ से देख सकेंगे और तब वे मुझे बतायेंगे कि मेरे अनुभव में कोई ग़लती है तो वह कैसे ठीक होगी। तो ग्रन्थ रचना के अन्दर क्या भाव है? किसी के ज्ञान का पता तब तक नहीं लग सकता जब तक वह क्रियारूप में परिणत न हो जाये। हमारे यहां यही होता रहा है। हमने ज्ञान और इच्छा को क्रियारूप में परिणत नही किया। इसलिये हमारे ज्ञान और इच्छा की कभी परीक्षा नहीं हो पाती। पता ही नहीं लग पाता कि वास्तव में हमारे ज्ञान और इच्छा के अन्दर पूर्णता है या नहीं।

तो ऐसी दृष्टि रखना कि ज्ञान और इच्छा को हम तब प्रकट करेंगे जब हम पूर्ण हो जायेंगे, ग़लत है। जितना-जितना ज्ञान और इच्छा परिष्कृत होती जाती है उतना-उतना ही हमको उसके साथ चलते जाना है। यहां सर्वत्र इच्छा का अर्थ इच्छा-शक्ति लीजियेगा वासना नहीं। परिष्कृत इच्छा शक्ति द्वारा जब हम अपने ज्ञान को क्रियारूप में परिणत करेंगे तभी उसकी परीक्षा हो सकेगी। तभी यह पता लग सकेगा कि वह ठीक है। यह भावना ग़लत है कि जब हमारे अन्दर पूर्णता आयेगी तभी हम अपनी क्रिया को प्रकट करेंगे। जैसे-जैसे हमको पता लगता जायेगा वैसे-वैसे यदि हम उसको क्रियारूप में प्रकट करते चलेंगे तो ही सकता है कि हमें पता लग जाय

कि हमारे चिन्तन में कुछ गलतियां हैं । वे दूसरे ब्रह्मवेत्ता हमें उन्हें बतायेंगे और हमारे अनुभव भी हमें बतायेंगे तो हम उनका परिष्कार करते चलेंगे। यह ठीक है, लेकिन यह नहीं कि उसके लिये हमारी क्रिया ही अवरुद्ध रह जाये।

इसे हमें अपने जीवन में लाना है। हम सामाजिक प्राणी हैं। इस बात को हम भूल नहीं सकते कि यदि हम क्रियाओं को प्रकट नहीं कर पाते तो उसकी भी एक प्रकार की भूख हमारे अन्दर रह जाती है। इस प्रकार मानसरोग हमें प्रताड़ित करते हैं। यदि हम अपने आपको क्रियारूप में प्रकट नहीं कर पाते तो भी हमारे मन के अन्दर एक ग्रन्थि पड़ जाती है।

मध्यकाल में, विदेश के अन्दर विशेषकर यूरोप में, एक ऐसी पद्धति चल पड़ी थी कि मनुष्य का अपने दुःख को प्रकट करना अच्छा नहीं समझा जाता था। नतीजा क्या हुआ ? वहां बच्चा मर जाता है लेकिन माता के लिये यह नियम नहीं कि वह जनता के सामने अपने दुःख को प्रकट करे। उसे बाहर से एक गंभीर रूप धारण करके बैठा रहना पड़ता है। इस कारण उसके अन्दर मानस ग्रन्थियां हो जाती हैं। हमारे भारतवर्ष में इस आदर्श को नहीं रखा गया, यद्यपि यहां उस आदर्श का एक बड़ा बुरा रूप यह हो गया कि यहां मान लिया गया कि दुःख प्रकट न करना, यह एक बुराई है। दुःख प्रकट करना भी बुरा नहीं है, और प्रकट न करना भी बुरा नहीं है। यदि तुम्हारे अन्दर दुःख है तो उसको क्रियारूप से प्रकट करो, रो लो। यह नहीं कि कहीं से भाड़े पर मातम करने वालों को बुलाकर रुलाओ। जिस प्रकार पाश्चात्य लोगों ने दुःख होने पर भी रोकना नियम बनाया यहां यह उसका विपरीत रूप हो गया कि दुःख न होने पर भी उसको प्रकट करना। ये दोनों बातें इच्छा-शक्ति के अनुपयोग के कारण होती हैं।

हम सामाजिक प्राणी हैं। जब तक हम क्रिया के द्वारा दूसरों के साथ अपने सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाते, अपने आपको प्रकट नहीं कर पाते तब तक हम संकुचित रहते हैं। मान लीजिये आप रेल में जा रहे हैं। आपका अपने पड़ोसी के प्रति हृदय में चाहे कितना ही प्रेम क्यों न हो, जब

तक आप क्रिया के द्वारा यह नहीं कहेंगे कि भाई ! तुम लम्बी टांग करलो मैं बैठ जाता हूँ, तब तक कभी भी उसके साथ स्नेह और सौहार्द नहीं बढ़ सकेगा। ये हमारी क्रियायें हैं। क्रिया का अर्थ यहां पर केवल भावात्मक क्रियायें ही नहीं, अभावात्मक क्रियायें भी होती हैं। प्रायः क्रिया शब्द से लोग भावात्मक क्रिया, कुछ करने को ही समझ लेते हैं। बहुत सी जगह न करना भी एक बड़ी भारी क्रिया बन जाती है। उस समय क्रिया को न करने के लिये भी बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ता है। उसके पीछे जो इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है वह भी बड़ा भयंकर होता है। प्राय: लोग कहते हैं कि जनक के अन्दर ज्ञान की कितनी बड़ी शक्ति थी ? उसका मन्त्री कह रहा है कि तुम्हारे राज्य के अन्दर बड़ी भारी आग लग गई है, तो जनक कहते हैं तुम लोग चलो आग को बुझाओ, मैं यहां सत्संग में बैठा हूँ। लोग प्रायः इसका सीधा सा अर्थ लगाते हैं कि उसकी ज्ञान की शक्ति इतनी अधिक थी कि वह समझता था कि चाहे सारा संसार जल जाये मैं तो यहां सत्संग में बैठा हूँ तो नहीं उठूंगा। लेकिन विचार करके देखिये तो बात ठीक इसके विपरीत है। वहां बैठना उसके लिये आवश्यक क्रिया है। यदि वह उठ कर चला जाता तो क्या होता ? जो लोग वहां आग बुझाने में लगे हुए होंगे वे सब उसकी तरफ आते, कोई जी हुज़ूर ! कहता, कोई अन्नदाता ! कहता। आग बुझाने के काम को छोड़कर उनका सारा ध्यान राजा की तरफ चला जाता। मुख्य काम आग बुझाने का ढीला पड़ जाता।

इसका प्रकट अनुभव हम को इलाहाबाद के कुम्भ मेले में हुआ। हमारे बड़े-बड़े नेता वहां की व्यवस्था को देखने के लिये पहुँचे। जितने बड़े-बड़े पुलिस के अधिकारी कार्यकर्ता थे वे अपना काम, व्यवस्था देखना, छोड़कर वहां सलाम लगाने के लिये चले गये और यहां व्यवस्था बिगड़ गई और सैकड़ों आदमी मर गये। उनकी इच्छा-शक्ति कहीं ज्यादा होती यदि उन लोगों ने क्रिया न की होती और चुपचाप दिल्ली में बैठे रहते। बहुत बार हमको मौन रखकर जो क्रिया करनी पड़ती है वह हम बोल करके नहीं कर सकते। प्रायः हम समझ लेते हैं कि बोलना क्रिया है और चुप रहना निष्क्रियता है। बहुत जगहों पर चुप रहना बहुत बड़ी क्रिया हो सकती है।

उससे बहुत बड़ा फल उत्पन्न हो जाता है। क्रिया का अभाव भी बड़ी भारी क्रिया हो जाती है।

मातायें तो जानती होंगी कि छोटा बच्चा बुरा काम कर रहा है, तो यदि मां उससे कह दे कि बेटा! ऐसा मत कर तो सम्भवतः उतना असर नहीं होगा जितना असर तब होगा जब वह एक मिनट के लिये कह दे कि जा, तेरे से नहीं बोलती। तब वह बड़े प्रेम से आकर कहता है, अरे मां! तो वह मुंह फेर लेती है। यद्यपि वह क्रिया नहीं कर रही है लेकिन उस मौन का जो असर होता है वह डांट का भी नहीं होता। तो क्रिया शब्द का अर्थ रात दिन दौड़ धूप करना नहीं है। बहुत बार न करना भी क्रिया है। एकांत स्थल में बैठा हुआ महात्मा किसी विषय का चिन्तन कर रहा है। संभवतः वह जितनी क्रिया कर रहा है उतनी नगर में रहने वाला नहीं कर पाता। नागरिक क्रियायें संकुचित हैं। जो विचारक है, सतगुरु है उसकी बाहर से कोई क्रिया नहीं दिखाई देती। बाहर से उसमें निष्क्रियरूपता दिखाई दे रही है। लेकिन भीतर चकनाचूर है। अन्दर क्रिया इतनी अधिक हो रही है कि उसका अंग प्रत्यङ्ग टूट रहा है। अतः यहां क्रिया का अर्थ भावात्मक और अभावात्मक क्रियायें दोनों लेना चाहिये।

क्रिया का लक्षण पहले ही बतला चुके हैं, कि इच्छा-शक्ति के द्वारा अपने ज्ञान को प्रकट करना, चाहे वह भावात्मक क्रिया से हो चाहे अभावात्मक क्रिया से। अपनी अनुभूति या ज्ञान को जब हम इच्छा-शक्ति के द्वारा नियन्त्रित करके बाहर लाते हैं चाहे वह मौन रूप से हो, चाहे व्याख्यान रूप से, चाहे किसी रोगी को दवाई देने के रूप से हो या किसी समय दवाई न देने के रूप से तब हम क्रिया कर रहे हैं — किसी हैजे के रोगी को पानी न पिलाना बड़ी भारी क्रिया है, पानी पिलायेंगे तो उसको नुक़सान हो जायेगा। उसी प्रकार ज्ञान को वासना का पानी पिलाने से नुक़सान होगा। पत्नी दो बूंद पानी के लिये रो रही है उस समय पानी देते हैं तो मानना पड़ेगा कि प्रिय पत्नीरूप इच्छा-शक्ति को आप वासनावारि पिलाकर क्रिया नहीं कर रहे हैं बल्कि वासनामय कर्म जाल में फंस गये।

सर्वतोभावेन अपनी स्वतन्त्रता को हाथ में रखकर, अपनी इच्छा-शक्ति

के ऊपर अपना पूरा नियन्त्रण रखते हुए, ज्ञान को प्रकट करने के साधन का नाम क्रिया है। वह भावात्मक भी हो सकती है अभावात्मक भी। हमारा आदर्श इस क्रिया की पूर्णता में है। ध्यान और जप भी इसीलिये हमारे यहां क्रिया माने जाते हैं। भगवान् भाष्यकार ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहते हैं 'उपासना नाम मानसी क्रिया (ब्र. सू. शा. भा. १/१/४)। मन से भी तो क्रिया ही होती है, इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि बुद्धि से जो होता है वह भी क्रिया है। क्रिया का मतलब केवल हाथ पैर हिलाना नहीं है। आप जो चिन्तन करते हैं, जो विचार करते हैं, जो ध्यान करते हैं, जो जप करते हैं, वह सब क्रिया है। प्रायः लोग समझते हैं कि ध्यान करने वाला कुछ नहीं करता। हम कहा करते हैं कि जरा दस मिनट बैठ कर तो देखो। दस मिनट यदि तुम ध्यान करने में समर्थ हो जाओ तो समझलो तुम्हारी बड़ी भारी सिद्धि है। स्वयं तो एक मिनट के लिये चित्त एकाग्र नहीं कर पाते और कहते हैं कि ध्यान करने का मतलब चुपचाप बैठ जाना है। यह ध्यान करना नहीं है। क्रिया का मतलब आजकल बहुत से लोग, विशेषतः जो कर्ममार्गी होते हैं, बाह्य क्रियाओं को ही ले लेते हैं। ये लोग एक ओर हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं जो क्रियामात्र को ही कर्म समझकर सर्वथा उसके अन्दर परतन्त्रता का ही अनुभव करते हैं। यह दूसरी गलती है। स्वतन्त्र भाव से, चाहे वह आन्तरिक हो चाहे बाह्य, जब हम अपने ज्ञान को प्रकट करते हैं तभी उसके अन्दर क्रियारूपता आती है।

बहुत से ऐसे महापुरुष हैं जो एकान्त गुफा में बैठकर अपने चिंतन के द्वारा जगद् को प्रभावित कर सकते हैं। वे भी क्रियाशील हैं। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे क्रिया नहीं कर रहे हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक कोई बड़ा काम नहीं करते हैं। लेकिन वे अपने चिन्तन के द्वारा जो नतीजा निकालकर आपको देते हैं उससे आपका कल्याण होता है। उस चिन्तन के पीछे कितनी स्थितियाँ जाती हैं, उनको कितना कठोर परिश्रम करना पड़ता है, ये सब विचारशील ही समझते हैं।

अतः ज्ञान, इच्छा और क्रिया के अन्दर सामरस्य लाना हमारे लिये जरूरी है। क्रिया प्रकट करने से घबराना नहीं चाहिये। आप अपने जीवन में

एक विलक्षण चीज अनुभव करते होंगे। जब कभी आप महाकाव्यों को पढ़ते होंगे तो देखते होंगे कि वहां वही बातें कही जाती हैं जो कई बार आपके मन में आईं लेकिन उन्हें आप प्रकट नहीं कर सके। आप उन्हें दबा गये। एक बार एक बड़े विचारक ने कहा था Our rejected thoughts are greatest epics. जिन बातों को हम कुछ नहीं समझ करके छोड़ देते हैं वही किसी बुद्धिमान के हाथ में आकर के बड़ी चीज बन जाती हैं। ऐसा क्यों होता है ? वह उसको क्रियारूप में परिणत करता है। हम घबराते रहते हैं, डरते रहते हैं, हममें एक संकोच बना रहता है। इसलिये संकोच बना रहता है कि हम अपनी इच्छा-शक्ति के मालिक नहीं बन पाये। अत: हमको उन्हें प्रकट करने में भय लगता है, सोचते हैं क्रिया के अन्दर सर्वतोभावेन पूर्णता आयेगी तब करेंगे।

इसके बदले में जितना-जितना हमारा परिष्कार होता जाये उतना-उतना हमको आगे बढ़ते चले जाना है। यही हमारी क्रिया की पूर्णता है। यह कब आयेगी ? इसके पीछे एक दार्शनिक दृष्टि है। यहां पर संक्षेप में बतला देते हैं। हमारे अन्दर एक भयंकर भूल आकर घर कर गई है कि हमने मोक्ष को एक सुदूर आदर्श मान रखा है। हमने मान रखा है कि वैकुण्ठ लोक में भगवान् बैठे हुए हैं और वहां जब हम जायेंगे तो पूर्ण हो जायेंगे। यह भावना गलत है। विशेषकर आजकल विकासवादियों ने (Evolutionary Theory) विकासवाद का सिद्धान्त हमारे सामने रखा तो हम पथ-भ्रान्त हो गये। हम सोचने लग गये हैं कि हम आगे बढ़ते-बढ़ते किसी एक स्थिति पर पहुँचेंगे तब हमारी मुक्ति होगी।

शास्त्र हमारे सामने दूसरा ही आदर्श रखता है। आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि संक्षेप शारीरक में कहते हैं कि आदर्श कहीं दूर नहीं है। हमारा आदर्श है 'यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते, (सं०शा० ३।२६३) कि यह मत समझना कि मुक्ति एक दिन आयेगी। जिन-जिन पदार्थों के ऊपर हमने अपना स्वातन्त्र्य उत्पन्न कर लिया, जिन-जिन पदार्थों से हमारी इच्छायें हट गईं, जिन-जिन पदार्थों के हम अधिपति हो गये, जो कुछ भी हमारी इच्छा-शक्ति के नियन्त्रण में आगया (विरज्यते में राग, कामना या इच्छा एक ही अर्थ वाले हैं) वहां से तुम मुक्त हो गये। फिर जब मुक्ति हो गई तो आगे क्या करना है ?

कहते हैं 'निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि' (सं०शा०३।३६३)। जब सब कामनायें नष्ट हो जायेंगी, जब सर्वथा तुम्हारी इच्छा नष्ट हो जायगी, जब सर्वथा तुम अपनी इच्छा-शक्ति के अधिपति हो जाओगे तब तुम ईश्वररूप हो जाओगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि उसी समय तुम्हारी मुक्ति होगी। तुम्हारी तो प्रतिक्षण मुक्ति होती जा रही है। जिस-जिस चीज से तुम्हारी इच्छा हटती जा रही है 'ततस्ततो विमुच्यते' उस-उस से मुक्त हो रहे हो। यह विलक्षण आदर्श हमारे सामने है।

यह हमारी दृष्टि नहीं है कि मुक्ति एक दिन होगी, परमेश्वर का दर्शन कभी एक दिन होगा ! भविष्य किसी ने देखा नहीं है। भविष्य हमारे सामने नहीं है। वार-वार श्रुतियों का उद्घोष है 'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (के० उ०२।५) श्रुति कहती है कि यहां पर तुमको ज्ञान हो गया तब तो ठीक है। 'न चेदिहावेदीत्' यदि यहां तुमको ज्ञान नहीं हुआ तो 'महती विनष्टिः' बड़ा भारी नुकसान है। प्रायः 'इह' शब्द का अर्थ कर लिया जाता है 'इह लोके', 'जीवित काले' कि इसी लोक में जब हम जीवित हैं। लेकिन आज हम एक विलक्षण बात आपको बतला रहे हैं और प्राचीन टीकाकारों ने इस पर बड़ा विचार किया है। वे कहते हैं जीवन और जीवनकाल का मतलब क्या है। हम अगर ७० वर्ष तक जियेंगे तो वह जीवनकाल है। वहां पर विचार करते हुए बताया कि जीवनकाल से भूत और भविष्य को न लो। जीवनकाल तो वर्तमान क्षण है। यदि जीवनकाल को पकड़ना चाहते हो तो यही क्षण ऐसा है जो तुम्हारे हाथ में है। भविष्य तो केवल तुम्हारी एक आशा मात्र है। तुम्हारा भूत भी तुम्हारा जीवन नहीं है वह तो केवल स्मृति मात्र है, ऐसा हुआ था, इसकी याद है। न भूत ही जीवन है, न भविष्य। वर्तमान क्षण ही जीवन है। इसलिये वर्तमान क्षण के अन्दर यदि तुम्हारी इच्छा-शक्ति पूर्ण है तो तुम्हारी मुक्ति पूरी हो गई। उस वर्तमान क्षण में तुम मुक्त हो, इसकी आशा न करो कि आगे मुक्ति होगी। धीरे-धीरे हम बढ़ते हुए आगे जा करके मुक्त होंगे, इस विकासवाद की गलती से अनेक तरह की गलत धारणायें आईं, यहां तक कहा जाने लगा कि आज हमारा मानव जीवन है, इसमें एक अतिमानव कहीं से आ जायेगा, एक नई जाति उत्पन्न हो जायेगी। ये सब विचारधारायें आपने सुनी होंगी। कोई

कहता है आगे जाकर अतिमानव रूपी एक जाति उत्पन्न होगी, वह हमें मुक्ति देगी, या वह मुक्त होगी, हम तो परिच्छिन्न हैं, परिच्छिन्न ही बने रहेंगे। ये सारी विकासवाद की धारणायें बहुत गलत हैं। इसलिये यह विकासवाद वस्तुत: विकासवाद नहीं है, हमको पीछे हटाने की चीज है। क्योंकि विकासवाद हमारे सामने सुदूर भविष्य में आदर्श रखता है। हम कहते हैं कि यदि हमारा यह क्षण सफल नहीं है, यदि इस क्षण में हम अपनी इच्छा-शक्ति को क्रियारूप में परिणत नहीं कर पाते, यदि इस क्षण को हमने नहीं सम्भाला तो आगे के क्षण संभलने वाले नहीं हैं। भविष्यवाद तो अकर्मण्यशीलों के दैववाद का ही अर्वाचीन रूप है। हमसे बार-बार कहा जाता है भविष्य के लिये बलिदान करो। अभी दु:ख सहो ताकि बच्चे सुखी हों। दूसरे मज़हब भी यही कहते हैं कि यहां कष्ट सहो तो आगे स्वर्ग मिलेगा पर शरीर तो यहाँ प्रत्यक्ष फल चाहता है। विलक्षण समस्या है, हमें मजहब के अन्धविश्वास से हटाकर नवीन अन्धविश्वासों में प्रवृत्त किया जाता है। हम क्यों परोक्ष भविष्य की संपत्ति पर अन्धविश्वास करके वर्तमान को दु:खी बनावें ?

अपनी सारी क्रियाओं में हमें यह दृष्टि रखनी है कि जब हम वह क्रिया करें, यह न सोचें कि कल यह करेंगे, यह न सोचें कि आगे के क्षण में यह करेंगे। यह क्षण तुम्हारा है। यदि इस क्षण को हम विजय करते हैं, अपनी ज्ञान और इच्छा-शक्ति के द्वारा अपनी क्रिया-शक्ति को प्रकट करते हैं तो हम विजयी हो गये, इस क्षण में हमारी मुक्ति हो गई; अग्रिम क्षण में आने वाला जो होगा वह उसका विचार करेगा। हमारे हाथ में केवल एक क्षण है। इस दृष्टि को लेकर जब हम चलेंगे तभी हमारी क्रिया-शक्ति पूर्ण हो पायेगी।

सुदूर भविष्य की मुक्ति को लेकर चलते हुए हमारे जीवन के अन्दर एक प्रकार की निर्ममता आ गई है। हमारी दूसरे के प्रति विचार करने की क्षमता घटती चली जा रही है। केवल हमारे अन्दर एक आशा बंधी हुई है कि एक दिन ऐसा हो जायेगा—वह एक दिन कभी आयेगा इसके बारे में कोई प्रमाण नहीं है। आशा को छोड़ना है, और आशा को छोड़कर प्रतिक्षण जीना है। प्रतिक्षण के अन्दर जीने वाला ही क्रिया-शक्ति की पूर्णता का

अनुभव कर सकता है, भविष्य में आशा रखने वाला नहीं। भविष्य की दृष्टि रखने वाला तो परिच्छिन्न है। जो सोचता है कि आगे ऐसा होगा वह क्या कभी अपरिच्छिन्नता का अनुभव कर सकता है? यदि इस क्षण में मैं ब्रह्म नहीं हूँ, यदि इस क्षण में मेरी अपरिच्छिन्नता नहीं है, तो क्या आशा है कि वह आगे आयेगी? इस जीवन में आजायेगी? दस साल बाद आजायेगी और दृढ़ज्ञान हो जायेगा? विचार करिये, हमें एक क्षण का पता नहीं है, हमारा श्वास जब बाहर जाता है तो हमको यह पता नहीं है कि यह श्वास अन्दर आयेगा या नहीं। पुराणों में यहां तक कहा गया है कि 'निःश्वासे नहि विश्वासः कदा रुद्धो भविष्यति' अतः सदा 'कर्तव्यो हरिचिन्तनम्'। इसलिये उस क्षण में भी परमेश्वर का चिन्तन कर लो। लोगों ने इसका मतलब यह समझ लिया कि मन ही मन यदि हरे राम, हरे राम करते चले जायें तो बाहर हमारा जीवन चाहे जैसा बने, हमारा काम सिद्ध हो जायेगा। पर शास्त्रकारों की दृष्टि यह नहीं थी। उस क्षण में परमेश्वर का चिन्तन करने का अर्थ है कि उस क्षण के परमेश्वर तुम बन जाओ। उस क्षण के अधिपति तुम बन जाओ। यदि प्रत्येक क्षण के तुम अधिपति बन गये तो तुम पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा हो। यदि किसी क्षण में चूक गये तो समझ लो उस क्षण में तुम परिच्छिन्न हो गये, उस क्षण में तुम बन्धन में आ गये थे, लेकिन अगले क्षण में बन्धन में नहीं आयेंगे। इस दृढ़ निश्चय के साथ प्रत्येक क्षण में जो मुक्ति का अनुभव है वही वस्तुतः सामरस्यावस्था है।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों शक्तियों की पूर्णता एक क्षण के अन्दर है। बहुत बार जब लोग वेदान्त पढ़ते हैं तो उनके मन में यह भावना आती है कि साधना करते-करते हम एक ऐसी स्थिति में पहुंच जायेंगे कि एक नई चीज हमारे सामने आ जायेगी, तब हम मुक्त हो जायेंगे। हम से प्रायः लोग प्रश्न किया करते हैं कि तब हमारी स्थिति क्या होगी, मुक्ति होने के बाद क्या होगा? हम कहते हैं कि मुक्ति होने के बाद जो रहेगा वह अपनी चिन्ता कर लेगा, तुम तो इस क्षण की चिन्ता करो। तुम्हारा बन्धन तो इस क्षण का है, तुम अगर इस क्षण से मुक्त नहीं हो सके तो तुम्हारी मुक्ति कहां हुई? आगे आनेवाला जो है, वह कोई दूसरा है, वह अपना चिन्तन करे, तुम इस क्षण का चिन्तन करो। हम कहते हैं

कि जीवन्मुक्ति नहीं, क्षणमुक्ति—हरेक क्षण के अन्दर मुक्ति का अनुभव करो, उसके मालिक बनो।

ज्ञान और इच्छा को इतना पूर्ण कर दो, क्रिया को इतना पूर्ण कर दो कि जो भी क्रिया तुम करोगे वह क्रिया-शक्ति के आधार पर स्वयं निर्णय करके करोगे। आपको निर्णायक क्रियाएँ करनी हैं। अभी आप क्रियाओं का निर्णय नहीं करते हैं, आप घटनाओं को घटाते नहीं हैं, आप स्वयं घटनाओं द्वारा घटित हो रहे हैं। इसका तात्पर्य क्या है? कि परिस्थितियां आपको मजबूर कर रही हैं। आप तो एक सूखे पत्ते के समान हैं, जिसको हवा जिधर चाहे उड़ाकर ले जाये। आपकी इच्छा की कोई कीमत ही नहीं है। यह भी कोई जीवन है? हम इसको जीवन मानने के लिये तैयार नहीं हैं। चाहे वह समाज हो चाहे राष्ट्र, उसे क्या अधिकार है कि वह हमें हिलाये? हम राष्ट्र को हिलायेंगे, हम समाज को हिलायेंगे, निर्णायक हम बनेंगे। प्रत्येक क्रिया का निर्णय हम करेंगे। यह तभी हो सकेगा जब हम वर्त्तमान की तरफ ध्यान देंगे, भविष्य की दृष्टि को छोड़ देंगे, प्रत्येक क्षण को पूर्ण करेंगे।

यहां मनुष्य के मन में एक संदेह आ सकता है जो कि ऐपीक्यूरियस ने उठाया था। इसीलिये इसको ऐपोक्यूरियन दृष्टि कहते हैं। वह भी यह दृष्टि सामने रखता था कि प्रत्येक क्षण में सुख के आदर्श को सामने रखो। इतने अंश में उसके दर्शन के साथ हमारे वैदिक सिद्धान्त की समानता हो सकती है। लेकिन एक बड़ा भेद भी है। वह यह कि, वह तो परिस्थिति के अनुसार अपने आप को बना लेने पर जोर देता था। जैसी परिस्थिति आवे उसमें सुख का अनुभव करो; पर हम यह नहीं कहते, हम तो कहते हैं कि परिस्थिति के निर्माता तुम बनो। तुम प्रत्येक क्षण का इस प्रकार निर्माण करो कि तुम परिस्थिति के द्वारा निर्मित न होकर उसके निर्णायक बनोगे। तुम तो ईश्वर हो। तुम ब्रह्म हो। तुम कैसे परिस्थितियों के द्वारा निर्णीत हो सकते हो। इसलिये प्रत्येक क्रिया में तुम्हारा निर्णय होना चाहिये। यह एक छोटी सी साधना है कि जब कोई भी क्रिया होवे तो उसके साथ-साथ अपने आप को कहो कि इस क्रिया को मैंने किया है, बुरा हो चाहे अच्छा हो, मैंने किया है और निर्णय करके किया है। और कभी भी ऐसा कार्य न करो

जिसमें यह कहना पड़े कि मैंने बाध्य होकर किया है। बाध्य होना छोड़ दो। बाध्य होना परिच्छिन्न होना है। स्वतन्त्र होकर क्रिया करोगे तो देखोगे कि क्रिया-शक्ति तुम्हारे अन्दर उद्बुद्ध होने लगेगी। तुम चेतन हो जड़ नहीं। तुम निर्णय करने वाले हो, तुम्हारा अन्तःकरण कैसे निर्णय करेगा, वह तो जड़ है। प्रत्येक क्रिया में इस दृष्टि को लेकर चलना है। तुम परिस्थितियों द्वारा बाधित न होओ, परिस्थितियों को तुम बाधित करो। तभी क्रिया-शक्ति की पूर्णता का उद्बोध होगा। और जब क्रिया-शक्ति की पूर्णता का उद्बोध होगा तभी ज्ञान, इच्छा, क्रिया का सामरस्य हो सकेगा। इस सामरस्यावस्था के द्वारा ही आनन्द की प्राप्ति है। उस आनन्द के स्वरूप पर आगे विचार करेंगे।

आनन्दवाद

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के उपनिषद् की व्याख्या करते हुए प्रथम मन्त्र के पूर्वार्ध पर कुछ विचार हो चुका। 'ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा, शं न इन्द्रो वृहस्पतिः'। इसमें अर्यमा के द्वारा किस प्रकार क्रिया-शक्ति का प्रतिपादन किया गया, यह संक्षेप में बता चुके हैं। वस्तुतः अर्यमा क्रिया-शक्ति का अधिष्ठाता देवता है। अर्यमा शब्द में दो शब्द हैं 'अर्य' और 'मा'। अर्य कहते हैं श्रेष्ठ को, ऋ गतौ धातु है; जिसके पास लोग जाया करते हैं उसको अर्य कहते हैं। इसीलिये अर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता है। श्रेष्ठता के मान या माप को अर्यमा कहते हैं। श्रेष्ठता का माप वस्तुतः मनुष्य की क्रिया ही है। मनुष्य का ज्ञान बड़ा श्रेष्ठ है, मनुष्य की इच्छा-शक्ति भी श्रद्धेय है, लेकिन जब तक वह ज्ञान और इच्छा क्रियारूप में परिणत नहीं होती तब तक मनुष्यता का माप नहीं होता। जिसके द्वारा मापा जाता है, जैसे आप गेहूँ इत्यादि पदार्थों को सेर भर के नाप से, दो सेर के नाप से, चार सेर के नाप से, नाप-नापकर के निकालते हैं, ठीक उसी प्रकार से श्रेष्ठता का माप किसके द्वारा है? वह मनुष्य की क्रिया के द्वारा होता है। ज्ञान और इच्छा का केवल व्यक्ति के अपने आप से सम्बन्ध है पर क्रिया एक ऐसी चीज है जो बाहर प्रकट, स्फुट और स्पष्ट है। क्रिया को देखकर ही मनुष्यता की माप कर सकते हैं, पता लगा सकते हैं कि वस्तुतः यहाँ पर मनुष्यता है या नहीं। ज्ञान और इच्छा को क्रिया के द्वारा मापा जाता है। मनुष्यों की क्रिया को ही देखकर हमको पता लगता है कि उसकी वस्तुतः क्या स्थिति है। ज्ञान और इच्छा का आन्तरिक अनुभव हो सकता है लेकिन उनका जब तक बाह्य जगत् के अन्दर प्रस्फुटन, बाह्य जगत् के अन्दर स्पन्दन, नहीं होता, जब तक वे क्रियारूप में परिणत नहीं हो जाते, तब तक उसका कोई मापदण्ड नहीं रहता है। इसीलिये 'शं नो भवतु अर्यमा' में माप क्रिया होने के कारण अर्यमा देवता को ही वस्तुतः

क्रिया का देवता माना गया है। इस क्रिया के ऊपर संक्षेप से विचार हो चुका है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का सामरस्य हमारा उद्देश्य है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के भेद से ही जगत् के अन्दर एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। जो जगत् एक अत्यन्त अभय का स्थान है वही भय का स्थान हो जाता है। जो जगत् चिन्ता रहित होना चाहिये वह चिन्ता का स्थान हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया, उपदेश के अन्त में जब जनक की स्थिति पूर्ण हो जाती है तो याज्ञवल्क्य कहते हैं। 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ. ४/२/४) जनक ! तू अभयावस्था को प्राप्त हो गया है। तू भयरहित हो गया है। समस्त ज्ञान, इच्छा और क्रिया की सामरस्यावस्था में ही भय की निवृत्ति हो सकती है; अन्यथा मनुष्य के अन्दर भय निरन्तर बैठा हुआ है, किसी न किसी चीज से वह निरन्तर भय खा रहा है, कभी समाज से कभी अपने आप से कभी अपनी आध्यात्मिक चिन्तन प्रणाली से, कभी आधिदैविक बाधाओं से, कभी आध्यात्मिक जगत् से, और कभी आधिभौतिक अन्यप्राणियों के द्वारा भय प्राप्त करता है। निरन्तर भय का ही प्रवाह जीवन मे चलने लगता है। छोटे बच्चे को जब हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं तो पाते हैं कि उसके हृदय में भी भय है। वह खड़े होने की कामना करता है, किसी पदार्थ को पकड़कर खड़ा होता है लेकिन जब हाथ से फिसलने लगता है तो रोने लगता है, उसको भय होता है कि मैं गिर जाऊंगा, और चोट खा जाऊंगा। इसी प्रकार यदि वह किसी विलक्षण व्यक्ति को देखता है, नये व्यक्ति को देखता है, तो देखते ही उसके चित्त के ऊपर एक प्रभाव पड़ता है। उसके चेहरे की तरफ ध्यान से देखिये। पहले वह अपनी आंखों को परिवर्तित करता है, फिर थोड़ी देर में रो पड़ता है, माँ की गोद में जाकर बैठ जाता है। उसको भय की प्राप्ति हो रही है। विलक्षणता देखते ही उसको भय होता है, डर लगता है। इतना ही नहीं, जो चीजें नहीं हैं उनको मानकर भी भय खाता है, यथा एकान्त में भय खाता है ! इस प्रकार उसका भय का स्वभाव बनता चला जाता है। इस भय के मूल में है क्या ? क्रिया के ऊपर उसका अपना नियन्त्रण नहीं है, स्वातन्त्र्य नहीं है, यही भय देता है गिरने का भय है, क्योंकि सोचता है मैं स्वतन्त्रता

पूर्वक खड़ा नहीं रह सकूंगा; नई शकल को देखते ही माता के पास दौड़ कर जाता है क्योंकि उसको भय है कि मैं इस नये व्यक्ति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं कायम कर सकूंगा, इसके साथ मैं स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार नहीं कर सकूंगा। यह स्वातन्त्र्यता के अभाव का ज्ञान, परतन्त्रता का भाव ही उसके वहां भय का कारण है। इसी प्रकार जीवन में, छुटपन में क्या होता है ? एक सज्जन बड़े अच्छे पद पर हैं, प्रोफेसर हैं। वह कहते थे, स्वामीजी ! न जाने क्यों मेरे मन में हमेशा हर बात का भय लगा रहता है ! जब उनके साथ घनिष्ठता हुई तब एक विचित्र चीज का पता लगा। उनके पिताजी का स्वभाव कुछ विलक्षण था। कभी वह लड़कों के साथ प्रेम करते थे और अकस्मात् प्रेम की जगह उनको डांटने लगते थे। जब ये छोटे थे तो पिताजी लड़के के साथ खेलते रहते थे, खेलते-खेलते अकस्मात् खेल के अन्दर ही बच्चे को डांट दिया करते थे। अपना-अपना स्वभाव हुआ करता है। जब लड़का कुछ और बड़ा हुआ तब भी यही स्थिति थी, पिता के साथ कुछ थोड़ी बहुत बात करे तो पहले तो पिता उसके साथ वादविवाद प्रारम्भ करें, थोड़ी देर में जब वादविवाद का वह जवाब न दे सके तो उसको डांटने लग जायें। नतीजा यह हुआ कि लड़के के मन में यह भावना बैठ गई कि संसार के व्यवहार में सभी अनिश्चित है। इस क्षण सुखी हैं अगले ही क्षण ये दुःखी हो जायेंगे, क्रुद्ध हो जायेंगे। इसलिये उसके मन में एक भय सा बैठ गया। जब लड़का बड़ा हो गया और समाज के व्यवहार में प्रवृत्त हुआ, अपने हमजोलियों के साथ गया, तब भी वही भय बना रहा। उसके मन में यह भावना बैठ गई कि किसी भी व्यक्ति के बारे में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अग्रिम क्षण में वह क्या करेगा। इसलिये उसके अन्दर हमेशा भय बना रहा। आगे जाकर वह पढ़ भी गया। अब बड़े भारी पद पर होने पर भी प्राध्यापक (प्रोफेसर) हो जाने पर भी उसके मन में यह भय बना हुआ था कि कहीं दूसरा आकर मेरी जगह को न ले ले। वह कहने लगा मैं इस बात को जानता हूँ कि मैं इस विषय का पूर्णरूप से ज्ञाता हूँ। मुझे कोई हटा नहीं सकता, लेकिन फिर भी मन का भय निवृत्त नहीं होता है। क्या किया जाय ? जब विचार किया, विश्लेषण किया, तो पता लगा कि अपने बचपन के अनुभवों में

परतन्त्रता के द्वारा उसमें भय व्याप्त हो गया था। वह भय निवृत्त नहीं हो पारहा था, उसे हटाने में वह समर्थ नहीं हो पारहा था। वहां भी पारतन्त्र्य का बोध है। क्रिया में जब कभी पारतन्त्र्य का बोध होता है तब मन के अन्दर भय आ जाता है। यह भय मनुष्य के लिये एक बड़ा भारी भूत है। यह उसे बिना मतलब डराता रहता है। यह भय आया कहाँ से ? श्रुति इस का स्रोत बतलाती है "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ. १/४/२/)। श्रुति कहती है जहां दूसरा होगा वहां भय होगा। द्वितीय ही भय का कारण होता है, अकेले से कभी भय नहीं हुआ करता। इसीलिये शास्त्र हमको अद्वैत का सन्देश देता है। जब तक हम अद्वैत की स्थिति में नहीं पहुँचेंगे, जब तक द्वैत रहेगा, जब तक दूसरा रहेगा, तब तक भय की निवृत्ति कभी हो ही नहीं सकती। इसीलिये याज्ञवल्क्य ब्रह्मात्मैक्यता का उपदेश देने के बाद, समस्त जगत् की एकता का निरूपण करने के बाद, ही यह कहने में समर्थ हो सके "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" (बृ. ४/२/४) कि जनक ! अब तू भय रहित हो गया। वैदिक आदर्श इसीलिये अभय का आदर्श है, अद्वैत का आदर्श है, और इसीलिये वैदिक आदर्श आनन्दवाद है।

दो प्रकार के वाद इस समय विश्व में अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये युद्ध कर रहे हैं। एक है दुःखवाद, दूसरा है भोगवाद। विचार करियेगा। प्रायः संसार के अन्दर जितने भी मज़हब और मत मतान्तर हैं सब दुःखवाद पर आधारित हैं, हमें यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि भारतवर्ष के अन्दर भी, कम से कम बुद्ध और जैन धर्म के बाद से जो परम्परा चली वह दुःखवाद के ऊपर ही आधारित रही; वह हमें डराती रही और हमारे मन के अन्दर एक भय पैदा करती रही। कभी वह नरकाग्नियों का बड़े-बड़े विस्तार से वर्णन करके हमको नरक से डराती रही और हमको हर प्रकार से भय ही देकर धर्म की तरफ प्रवृत्त किया जाने लगा। भयवाद ही दुःखवाद का मूल होता है। मध्यकालीन सन्तपरम्परा में भी हम इसी दुःखवाद को देखते हैं। हम जगत की तरफ दुःखवाद की दृष्टि लेकर चलते हैं कि जगत् एक बड़ी बुरी चीज है, यहां तक कि हमारा शरीर भी बड़ी बुरी चीज है। हमारे मन में भय बैठा हुआ है, हम हरेक से डरते हैं, आध्यात्मिक जगत में डरते हैं, आधिदैविक जगत् में डरते हैं, देवताओं से भय खाते हैं। एक हिन्दू यदि किसी कब्र के सामने से

निकलता है तो भय खाता है, सोचता है चलो दो आने की रेवड़ी इसको भी चढ़ा दो, क्या पता यही हमें हानि पहुंचादे या हमको किसी भय की प्राप्ति करा दे, किसी वृक्ष के सामने जाता है या और जहां कहीं जाता है वहां मत्था टेक देता है। ऐसा हम प्रायः कहते हैं कि हमारे यहां का धर्म धीरे-धीरे 'मत्था-टेक-धर्म' हो गया है। जहां जाओ वहां मत्था टेको। मत्था टेको, मत्था टेको, करते-करते हमारी यह स्थिति हो गई है कि हम केवल मत्था टेकना ही सीख पाते हैं और इसी को धर्म मानने लग गये हैं, इसी को श्रद्धा का रूप मानने लग गये हैं। हमने यह मान लिया है कि इसके द्वारा ही सारी समस्या हल हो जायगी। विचार करिये, मत्था उसके सामने टेकना चाहिये जिसके सामने मत्था टेकने के बाद और कहीं मत्था टेकना न पड़े। यदि हमने अपने सिर को झुकाया और फिर दूसरी जगह भी सिर झुकाना पड़ा तो सिर झुकाने का लाभ क्या हुआ ? एक कथा आती है। अकबर बादशाह के पास मांगने के लिये कोई फकीर गया। उसने देखा कि अकबर बादशाह भी मांग रहा है, या खुदा मेरे को राज्य दे ! तो वह वहां से वापस चला गया। यह सामान्य दृष्टान्त है, लेकिन इसके अन्तस्तल में निहित क्या है ? हिन्दू धर्म के अन्दर एक मत्थाटेक भावना आगई, और सर्वत्र हम अपने को नीचा करने लग गये। हमारा आदर्श है ब्रह्म. आनन्द और ईश्वर। आपके अन्दर ज्ञान-क्रिया-शक्ति उतनी ही प्रस्फुटित है, उतनी ही पूर्ण है, जितनी ईश्वर में है। हम तो परमेश्वर के सामने भी खड़े होने का साहस रखते हैं। श्रुति हमारे सामने आदर्श रखती थी 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' का। प्रारम्भ में ही हमने कहा था कि हमारे यहां श्रुतियों ने आदर्श तो परमेश्वर के साथ भी मित्रता का रखा था, गिड़गिड़ाने का नहीं। भाष्यकार शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'न भृत्यवद्याचे'। और बाद में हमारी यह स्थिति हो गई कि हम जहां भी जाते थे वहां गिड़गिड़ाने लग गए। हमारी आत्मिक भावना इतनी हीन हो गई, इतनी कमजोर हो गई कि उन सब का आच्छादन करने के लिये हमने एक बड़ा भारी बवण्डर खड़ा कर दिया कि व्यावहारिक जगत के अन्दर भय खाते रहो, पारमार्थिक जगत में तुम अभय रहो। यदि व्यवहार के अन्दर ही हमारा अभय नहीं आ पा रहा है, यदि व्यवहार में ही हम को आनन्द का अनुभव नहीं हो रहा है तो पारमार्थिक आनन्द का क्या विश्वास है ? हमसे यह कहा जा रहा है और हम दुःखवाद का यहां तक नतीजा होता चला जा रहा है

(विचार करिये, पहले तो यह धर्म में ही था आज राष्ट्र में भी आता चला जा रहा है) कि हमसे कहा जाता है (Tighten your belt) कि तुम अपनी कमर को कस लो, इस समय भूखे मर लो, इसलिये कि आगे आने वाली औलादें सुखी होंगी। क्या हमने देखा है कि आगे आने वाली औलादें सुखी होंगी या नहीं ? यदि इस क्षण में हम सुख की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं तो फिर आगे आने वाली औलाद सुखी होगी इसका क्या विश्वास हो सकता है ? इस जन्म से परजन्म में हम सुख को ढूंढने लग गये ! इतना ही नहीं इस जन्म से परजन्म में हम अभय को ढूंढ़ने लग गये ! इतना ही नहीं, अब यहां तक स्थिति आगई है कि हम आगे आने वाली पीढ़ियों का सुख और अभय सोचते हैं, स्वयं अपना नहीं सोच पाते ! हमारे सामने दुःख-वाद की एक परम्परा, दुःखवाद का एक नारा लगता चला जा रहा है। दुःख-वाद हमारे नस-नस में रीझ गया है। बड़े-बड़े सन्त कहते हैं, ये शरीर बड़ा गन्दा है, यह तो एक पीप का गोला है, महान् घृणित पदार्थ है। जब हम वेदों को देखते हैं तो विचित्र चीज पाते हैं। एतरेयोपनिषद में कहा जाता है कि भगवान् ने गौ, घोड़े इत्यादि अनेक शरीरों को बनाया तो देवताओं ने कहा कि 'नोयमलम्' ये हमारे निवास का स्थान नहीं हैं। अन्त में जब मानव शरीर का निर्माण करके लाया गया तो कहा 'सुकृतं पुरुषः' कि यह हमारे निवास का स्थान है। विचार करिये, हमारे शास्त्र कह रहे हैं "देहो देवालय प्रोक्त : (मैत्रेय्यु, २।२) इस शरीर को तो हमारे यहां देवता का घर माना गया है। हमारे यहां इसको पीप का गोला या घृणित पदार्थ नहीं कहा गया। विचार करिये। हम सोचते हैं कि यह शरीर हमें किसी पाप के फलस्वरूप प्राप्त हो गया है जो बड़ी बुरी चीज है, किसी तरह हम इसमें से निकल जायें। लोग कहते हैं, महाराज ! किसी तरह इस शरीर से छूट जायें तो हमारा काम बन जाय।

प्रार्थना के प्रारम्भ में वेद कहता है 'पश्येम: शरदः शतम्, शृणुयामः शरदः शतम्, (वा० यजु० ३६।२४) 'नन्दामः शरदः शतम् मोदामः शरदः शतम्'। (तै. अर. ४।४२।५) अथर्ववेद कहता है हम आनन्द करें हम प्रसन्न होवें, मोद से रहें, सुखी रहें, हम देखते रहें, सुनते रहें, शरद : शतम्, सौ वर्षों तक हम जीवित रहें। यहां तक हमारी विचारधारा थी। हम इस दृष्टि को, इस आनन्दवाद को सामने रखना चाहते थे। लेकिन फिर हम दुःखवाद

के चक्कर में क्यों पड़ गये ? वेदों ने हमारे सामने रखा था ईश्वर का आदर्श। ईश्वर के अन्दर सारे गुण सम्पन्न हैं। ईश्वर ज्ञान, क्रिया और शक्ति में स्वतन्त्र है, उसे केन्द्र बनाकर हमारे वैदिक धर्म और वेदान्त का निर्माण हुआ था।

उस धर्म को लेकर जब तक हम चलते रहे तब तक हमारे सामने आनन्द-वाद का आदर्श रहा कि ईश्वर आनन्दरूप है। लेकिन बुद्ध और जैन परम्पराओं के अन्दर ईश्वर का बहिष्कार कर दिया गया। जब ईश्वर को हटा दिया गया तो जीव केन्द्र बन गया। जीव के ऊपर जब दार्शनिक विचार करने लगे तो बुद्ध ने अनुभव किया कि उसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया का स्वातन्त्र्य नहीं है, पारतन्त्र्य है। इसलिये मान लिया कि परतंत्रता हीं जीव का सच्चा स्वरूप है एवं ज्ञान, क्रिया और इच्छा की परतन्त्रता होने के कारण यदि हम किसी प्रकार इस से छूट जायें तो स्वतन्त्र हो जायेंगे। छूट कर के तो श्मशान का साम्यवाद आ सकता है, श्मशान की स्वतन्त्रता आ सकती है, वह स्वातन्त्र्य नहीं है। परिस्थितियों के अन्दर ही स्वातन्त्र्य हुआ करता है। उनसे हट जाने से स्वातन्त्र्य नहीं हुआ करता। वेदों ने हमारे सामने अद्वैतवाद और आनन्दवाद का आदर्श रखा था, उससे हम च्युत हो गये।

इस दुःखवाद के प्रभाव को हटाने का प्रयास भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्यों ने अपने ग्रन्थों के अन्दर किया। बार-बार उन्होंने इस पर जोर दिया, लेकिन कुछ ऐतिहासिक कारण ऐसे हो गये कि मध्यकाल में पुनः हम दूसरों से आक्रान्त हो गए, मुसलमानों ने हमको दबा लिया। जो दुःखी होता है वह यही विचार करता है कि परमेश्वर दुःखी का है, इसीलिये हम भी कहने लग गये कि भाई ! पतितों के ही परमेश्वर हैं। इस बात के ऊपर जोर देते-देते हम पतित हो गये, हम निरन्तर यही कहने लग गये कि मैं मूरख खल, कामी। सारे वेदों में कहा जाता है तू ब्रह्मरूप है, कहीं यह नहीं कहा कि तू मूरख, खल कामी है, और हम लोगों से कहलवा देते हैं 'मैं मूरख खल कामी' यह नहीं कहलवाते हैं कि तू ब्रह्मरूप है, तू तो साक्षात् चिन्मात्र है, ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति से परिपूर्ण है, तेरे अन्दर तो वह सदाशिव और शक्ति विद्यमान है। इस दृष्टि को हम नहीं अपना पाये। इस आनन्दवाद को हम नहीं अपना

पाये। इस के कारण हमारे यहां ही नहीं, ईसाई, मुसलमान आदि जितने भी मजहब और मत मतान्तर हैं, उन सबके अन्दर इस दुःखवाद का ही परिचय मिलता चला जाता है। इसी प्रकार सब क्रिया-काण्डों के अन्दर दुःखवाद और भयवाद है। हम किसी भी काम को करने में भय खाते हैं। हम पूजा भी भय खाकर करते हैं, समझते हैं कि यदि पूजा नहीं करेंगे तो हमारा अनिष्ट हो जायगा। उसे हम स्वतन्त्र होकर नहीं करते। हम यज्ञ, पूजा, पाठ, ध्यान, जप इत्यादि जो कुछ भी करते हैं सब भय या दुःख से आक्रान्त हो कर करते हैं; इससे हमारे अन्दर आनन्द का उल्लास नहीं आ पाता है।

दूसरी दृष्टि दुःखवाद के विरोधी रूप में सब से पहले योरोप में उत्पन्न हुई जिसने (Renaissance and Reformation) सुधार व पुनर्निर्माण के साथ हमारे सामने दूसरा आदर्श रखा। वह भी गलत आदर्श है—भोगवाद का आदर्श। भारतवर्ष के अन्दर भी इस भोगवाद का प्रवेश हो चुका है। दुःखवाद से दूर होकर अब हम यह दृष्टि अपनाने लग गये हैं कि संसार के पदार्थों का भोग ही हमारे लिये सुख का कारण हो सकता है। यह दूसरी गलती है। भोग आनन्द नहीं है। 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः,' (भर्तृहरि-वै. श. ८)। हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि जब हम विषय भोगों की तरफ जाते हैं तो वे हमें आकृष्ट करते हैं. हमें खींचते हैं पर हम उनके मालिक बन के नहीं जाते हैं; वहां 'भोगा न भुक्ता' हम भोगों का भोग नहीं कर पाते हैं बल्कि 'वयमेव भुक्ताः' भोग ही हम लोगों का भोग कर लेता है, हम जीर्ण हो जाते हैं भोग कभी जीर्ण नहीं होते। नतीजा यह होता है कि हमारे दुःख की निवृत्ति नहीं होती। भोगवाद यह मानता है कि संसार के विषयों में सुख है, यह, दूसरी बड़ी भारी गलती है। जितना हम भोगवाद की तरफ बढ़ते जा रहे हैं उतना ही हमारी दृष्टि गलत होती चली जा रही है। हम वहां पर सुख ढूंढ़ने लग गये हैं जहां सुख है ही नहीं। दुःखवाद की प्रतिक्रिया, भोगवाद होना अवश्यम्भावी है। हमने दुःखवाद के ऊपर इतना अधिक जोर दिया था कि मनुष्य अन्त में सोचने लगा कि संसार दुःख ही दुःख रूप है, जैसा कि चार्वाक लोग कहा करते थे। पर मान लिया कि मछली खाने में कांटे गड़ने का डर है, लेकिन इसके भय से मछली खाना नहीं छोड़ा जा सकता। धान या और कोई भी उदाहरण

समझ लीजिये; यदि आप परवल का शाक खाते हैं तो उसमें कभी-कभी कड़े बीज आ जाते हैं जो मसूड़ों के अन्दर घुस जाते हैं उसके भय से परवल का शाक खाना नहीं छोड़ सकते। दुःखवाद ने दुःख के ऊपर इतना अधिक जोर दिया था कि उसकी प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी। उसकी प्रतिक्रिया हुई भोगवाद, तो कहने लगे, यदि सब दुःख ही दुःख है तो जितना सुख मिले उतना ही ले लो।

वस्तुतः दुःखवाद और भोगवाद में क्रिया और प्रतिक्रिया होने के कारण दोनों ही परित्याज्य हैं। दोनों को छोड़ना है। न भोग हमारा आदर्श है, न दुःख हमारा आदर्श है। हमारा आदर्श तो आनन्द है। इसलिये श्रुतियों ने एक बड़ा भारी उद्घोष किया कि इस संसार का मूल क्या है? यह क्यों उत्पन्न हुआ? जब इसके मूल का अन्वेषण करते हैं तो पाते हैं कि 'आनन्द ब्रह्मेतिव्यजानत्'। (तै. उ. ३।६।१) यह भार्गवी वारुणी विद्या है। तैत्तिरीयोपनिषद के तृतीयाध्याय में अन्तिम निर्णय किया कि आनन्द ब्रह्मेति व्यजानत्'। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप आनन्द है। श्रुत्यन्तर बतलाता है 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. उ. ३।९।२८) विज्ञान और आनन्द स्वरूप ही ब्रह्म है। 'आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते,' (तै. ३।६।१) आनन्द से ही ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द में रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही लीन होते हैं। इस सारे संसार के अन्दर है क्या? उस परम पुरुष ने स्वयं अपने आपको देखने के लिये ('स एकाकी न रेमे') विचार किया कि मैं अपने प्रतिबिम्ब के द्वारा स्वयं खेलूं। इसी दृष्टि को श्रीमद्-भागवत में भी महारास का आरम्भ करते समय 'रेमेरमेशो व्रज सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्व प्रतिबिम्ब विभ्रमः' (भा. १०।३३।१७) से बतलाया गया है। अपने प्रतिबिम्ब से खेलने के लिये, सृष्टि का निर्माण हुआ था, आनन्द के, उल्लास के लिये। यह सृष्टि बन्धन के लिये नहीं थी, लेकिन हम भ्रान्ति के कारण इसके अन्दर ज्ञान, क्रियारूपता का सामरस्य नहीं कर पाये। इसीलिये यह विश्व ब्रह्माण्ड हमारे लिये एक आनन्द का स्थल न रह कर एक बड़ा भारी बन्धन बन गया। यह आनन्दवाद का सन्देश हमारे सामने रखा गया। श्रुतियों में तो यहां तक कहा है कि जिस समय आत्मज्ञान हो जाता है उस समय वह आनन्द से विभोर हो जाता है। मध्यकालीन सन्त-

परम्पराओं के ग्रन्थों में तो विलक्षणता दीखती है। उनमें वह औपनिषद वेदान्त मिलता ही नहीं है। परवर्तीकाल के ग्रन्थों में ज्ञान होने के पहले संसार की वीभत्सता का बराबर वर्णन होता है। यदि आप वेदों को देखिये, उपनिषदों को देखिये तो कहीं संसार का वीभत्स वर्णन आपको नहीं मिलेगा। बड़े सुन्दर रूप में संसार के स्वरूप को बतलाया गया है कि संसार मिथ्या है, सदसद्विलक्षण है, इसका विचार करके उससे ऊपर जाओ और इसको बुरा बताने से कोई फायदा नहीं, यह तो जैसा है वैसा है, इसके स्वरूप को समझना आवश्यक है, इसके बन्धन से निवृत्ति होनी आवश्यक है, यह आवश्यक है कि आप ज्ञान, क्रिया और इच्छा के सामरस्य के द्वारा इसके अधिपति बनें, इसके ईश्वर बनें, इसके मालिक बनें। लेकिन इससे घबराना और डरना नहीं चाहिये। इसी आदर्श को लेकर श्रुति कहती है कि जिस समय मनुष्य को आत्मज्ञान होता है उस समय 'इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् एतत्सामगायन्नास्ते'। (तै.उ. ३।१०।५) तैत्तिरीयोपनिषद में ही कहा है कि वह बड़े आनन्द से सामवेद का गायन करता हुआ कहता है 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् अहमन्नादो हमन्नादो हमन्नादः' सारा जड़ और चेतन जगत तो मैं हूं, वह गाता है। इतना ही नहीं श्रुत्यन्तर बतलाता है कि 'आत्मक्रीडः आत्मरतिः' (मु. ३।१।४), कि अपने आप में ही रमण करता है, अपने आप में ही खेलता है। एक विशाल दृष्टि आनन्दवाद की हमारे सामने थी, इस का परित्याग करके हम दुःखवाद में चले गये। हमने संसार को दुःख रूप समझना शुरू किया तो उसकी प्रतिक्रिया हुई भोगवाद। हम पूर्व कह आये हैं कि वस्तुतः यदि भोगवाद और दुःखवाद इन दोनों का समन्वय हो सकता है तो केवल आनन्दवाद में।

आनन्दवाद का वैदिक आदर्श आज केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं, सारे संसार के लिये है। यदि संसार इस आनन्दवाद को अपनाता है तभी सुखी और शान्त हो सकता है। लेकिन आनन्द का आधार हमेशा अद्वैत रहेगा। जहां पर द्वैत रहेगा वहां पर आनन्द हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ. उ, १।४।२) जहां द्वैत की दृष्टि रहेगी वहां तो उसके बीज के अन्दर पड़ा हुआ है दुःख। दूसरे से जहां पर भय है, चिन्ता है, वहां आनन्द की आनन्द की अनुभूति हो कैसे सकती है ? आनन्द की

अनुभूति के लिये तो ऐक्य की आवश्यकता है। श्रुति स्पष्ट उद्घोष करती है 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईश. ७) मोह शोक की निवृत्ति तो तब होगी जब तुम सर्वत्र एकता का अनुभव करोगे, सर्वत्र उस एक तत्त्व को देखोगे। यही आनन्दवाद की दृष्टि वेद और उपनिषदों ने हमारे सामने रखी। इस को यदि हम अपना पायेंगे तो आज के युग के इन दोनों विरोधों का सामना कर पायेंगे, नहीं तो निश्चित समझिये कि यदि आज आनन्दवाद की दृष्टि को नहीं अपनाया—और विशेषकर के हम अपने धर्म के लिये कहते हैं, दूसरे धर्मों की बात हम नहीं कहते—यदि हमारे धर्म ने आनन्दवाद को नहीं अपनाया तो भोगवाद बढ़ता चला जायगा। अब तक दुःखवाद की दृष्टि को लेकर जो हम जी रहे थे उसमें हम जीवित नहीं थे। हमारे धर्म के अन्दर जो जीवन-शक्ति होनी चाहिये वह नहीं रह गई थी। इसीलिये जितना मनुष्य संसार से भयाक्रान्त होता था, संसार से उसको डराया जाता था, उतना ही वह अधिकाधिक संसार से दूर होता चला जाता था। संसार से दूर होने में ही हमने समझ लिया था कि हमको सुख की प्राप्ति हो सकेगी। और नतीजा क्या हुआ ? जिसको अंग्रेजी में कहा जाता है एक प्रकार का आत्मकेन्द्रित एवं अन्तर्हित ego-centric और introvert. ये दो प्रकार के दोष हमारे अन्दर आते चले जा रहे थे; हमारे अन्दर आत्मकेन्द्रितता आती चली जाती थी, हम अपने को ही संसार का केवल केन्द्र मानते चले जा रहे थे। हमारे अन्दर भ्रान्ति बढ़ती चली जा रही थी। अब भोगवाद उसका सामना करने को खड़ा हो चुका है। वे चाहे मुख से इस बात को कहें या न कहें हमारे समाज में, विशेषकर के हमारे पठित समाज में, भोगवाद को स्वीकार कर लिया गया है। यदि हम को धर्म के प्रतिष्ठापन की आवश्यकता है तो अब डरा करके नरक के भय से काम चलने वाला नहीं है। अब तो हमको आनन्दवाद की दृष्टि सामने रख कर ही चलना पड़ेगा। वह हमारी वास्तविक दृष्टि है, कोई नवीन दृष्टि नहीं है। हम उसे भूल गये थे, उस दृष्टि को वापस लाना है। हमारे अन्तःकरण में अनन्त शक्तियों का स्रोत है। हमें शास्त्रों में, विशेषतः उपनिषदों में और योगसूत्रों में मन की शक्तियों की असीमता को देखकर आश्चर्य होता है। उन सारी शक्तियों का उद्बोधन हम आज क्यों नहीं कर पा रहे हैं ? हमारे यहां धर्म की यह गति होगई थी कि वह केवल वार्तालिक और सामाजिक

मान्यताओं के रूप में रह गया था। वह हमको स्पन्दित नहीं कर रहा था, हमारे जीवन में नहीं आ रहा था। या तो दार्शनिक, बड़े-बड़े विचारक, बैठकर आपस में शास्त्रार्थ किया करते थे कि धर्म का यह रूप है या वह रूप है। एकत्ववाद ठीक है, द्वैतवाद ठीक है, त्रैतवाद ठीक है, विशिष्टाद्वैतवाद ठीक है, द्वैताद्वैतवाद ठीक है आदि बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुआ करते थे, उनके द्वारा जीवन में कोई स्पन्दन नहीं आ पाता था। दूसरी तरफ उन धर्मों का नतीजा यह होता था कि केवल कुछ आचार विशेषों को धर्म मान लिया गया था। हमारे जीवन में धर्म एक बहिरंग पक्ष हो गया था। हमारा धर्म केवल इतने में सीमित हो गया था कि हम क्या खावें क्या न खावें, किसके साथ शादी करें, किसके साथ शादी न करें। इतने में हमारा सारा धर्म संकुचित हो गया था। धर्म के द्वारा हमको जीवन मार्ग दिखाना चाहिये था चाहे समाजवाद हो, चाहे अर्थशास्त्र, चाहे मनोविज्ञान हो या जो कोई भी शास्त्र हो उसके अन्दर धर्म को मार्ग दर्शन करना चाहिये था। हमारा धर्म कितना वृहत् था कितना महान् था ? जब हम अपने धर्म को देखते हैं, शतपथ ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रन्थों को देखते हैं तो कोई भी ऐसी समस्या नहीं दिखती कि जिसके ऊपर हमारे ऋषियों ने विचार नहीं किया, या प्रकाश नहीं डाला। समाज की दृष्टि से तो इतना प्रकाश डाला था कि परवर्तीकाल में यह कहा जाने लगा था कि हिन्दू धर्म तो ऐसा हो गया है कि कोई भी मनुष्य धर्म की पुस्तक को देखे बिना श्वास भी नहीं ले सकता है ! जब इस प्रकार की बात लोग कहने लग गये तो इसके अन्तस्तल में निहित सत्यता को हम सर्वथा भूलते चले गये, यहां तक भूलते चले गये कि आज जब उस दृष्टि को सामने लाया जाता है तो हमारा मति-भ्रम हो जाता है। हमारा धर्म एक ऐसा सिद्धान्त है जो मार्ग-दर्शन करने वाला है। जब वह हम को प्रतिदिन के व्यवहार में, जीवन के प्रत्येक क्षण में मार्ग-दर्शन करेगा तभी वह धर्म बन सकेगा। धर्म के अन्दर द्वैत दृष्टि नहीं है। यह नहीं है कि केवल सवेरे और शाम धर्म का पालन होता है। हम क्या खाते हैं, किस को छूते हैं या हम थोड़ा बहुत आचार क्या करते हैं, विवाह शादी कैसे करते हैं केवल इतने मात्र में हमारा धर्म संकुचित हो गया, बाकी हमारा सारा जीवन दूसरा ही हो गया था, उसकी तरफ हमारी कोई दृष्टि भी नहीं थी। हमने यह एक बड़ी भारी द्वैत की दीवार खड़ी कर ली थी

जिसने धर्म को हमारे जीवन का स्पन्दन नहीं रख कर बहिरंग बना दिया था। आजकल हम यही देखते हैं। अभी कुछ दिन पहले हमको एक बड़े पण्डित ने एक ग्रन्थ दिया। उन्होंने उस ग्रन्थ में इस पर बड़ा विचार किया है कि आर्य समाजी लोग आपस में नमस्ते करते हैं, यह गलत है या ठीक ? हमने विचार किया कि इन्होंने परिश्रम बड़ा किया, लेकिन युग कहां से कहां को जा रहा है ? इनकी सारी शास्त्रार्थमत्ता और सारी विचारवत्ता इसी में केन्द्रित हो गई कि हम एक दूसरे को नमस्ते कह सकते हैं या नहीं ! 'ते' शब्द का अर्थ एक वचन में प्रयोग हो सकता है या बहुवचन में ! आज करोड़ों विधर्मी बनते जा रहे हैं। और जो नामतः नहीं भी बने हैं वे व्यवहार व मान्यताओं में बन चुके हैं। उनकी दार्शनिक जिज्ञासाओं को हम समझते ही नहीं तो शान्त क्या करेंगे ? विज्ञान ने अनेक दार्शनिक मान्यताओं को जड़ से उखाड़ फेंका है। हमारा कोड व निवेश हमें ही शान्ति नहीं देता पर हम आज भी १८वीं सदी ही में जीना चाहते हैं। यह केवल एक ही पण्डित की बात नहीं है। हम अनेक पण्डितों को जानते हैं जिनके शास्त्रार्थ आज के युग से बिल्कुल परवर्तिकाल में चले गये हैं, विचार की धारायें बिल्कुल कुण्ठित हो गई हैं। वे हमें इस युग के मार्ग का दर्शन नहीं दे पाती हैं। जब हम बड़े-बड़े दार्शनिक ग्रन्थों को देखते हैं तो पाते हैं कि जिस बुद्ध धर्म का भारतवर्ष से नाम हट गया उस की समालोचना करने के लिये बड़े-बड़े प्रयत्न किये जाते हैं, बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किये जाते हैं और जो वर्तमान समस्यायें हैं, जो वर्तमान दर्शन हमारे सामने आ रहे हैं, उनके ऊपर विचार किसी के मन में आते ही नहीं हैं। यह किसी के मन में नहीं आ जाता है कि भाई ! हेगल (Haegal) का भी एक सिद्धान्त है, उसका भी हमको जवाब देना है। यह हमारी दृष्टि बन ही नहीं पाती है, कारण क्या है ? इन सबका कारण यही है कि धर्म को हमने केवल दार्शनिकों के शास्त्रार्थ का विषय बना लिया या मान्यताओं का विषय बना लिया। कुछ चीजों को हमने मान लिया और उनके ऊपर आगे विचार करने की हमने आवश्यकता ही नहीं समझी। हम यह नहीं कहते हैं कि हमारी मान्यतायें गलत हैं, यह भी नहीं कहते हैं कि हमारी दार्शनिक विचार-धाराओं की कीमत ही नहीं है, लेकिन हम यह अवश्य कहते हैं कि यदि वह दर्शन हमको प्रतिदिन के व्यवहार में मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता, यदि प्रति क्षण हमको स्पन्दन नहीं कर सकता तो वह धर्म नहीं रहेगा, केवल एक

बहिरंग चीज रह जायेगी, और जितना-जितना हमारा ज्ञान विकसित होता चला जायगा, उतना ही हमारा धर्म संकुचित होता चला जायगा। धर्म या दर्शन या विज्ञान में स्थिरता (Staticism) तो नाशक ही है। आधार को स्थिर रखकर कालानुसार परिवर्तन ही विवर्त है। जगत् विवर्त है। अधिष्ठान को स्थिर रखना है। व्यवहार में भी धर्म का आधार स्थिर रहेगा पर प्रणाली में भेद आवश्यक है। वेदान्त की अनेक प्रक्रियाएं विरोधी नहीं हैं, समयानुसार वेदान्त को समझाने की युक्तियां हैं। विभिन्न स्मृतियां विरोधी नहीं हैं, समयानुसार वेदसिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप है।

हम धीरे-धीरे 'हम-भी-वादी' हो जायेंगे। जब दूसरे लोग अणुबम का आविष्कार कर लेंगे तब हम कहेंगे कि 'हम भी', हमारे वेदों में भी लिखा हुआ है, जब कहीं पर वायुयान का आविष्कार हो गया तो हम कहेंगे कि 'हम भी,' अरे ! हमारे यहाँ भी वायुयान था। जैसे-जैसे दूसरे देशों के अन्दर अन्वेषण होते जायेंगे, वे लोग नेतृत्व करेंगे, हम उनके पीछे चलते हुए कहेंगे, 'हम भी' तुम्हारे साथ हैं। अपनी पोशाक में हम 'हम-भी-वादी' हैं। छोटी से छोटी चीज में, चाहे वह पोशाक हो चाहे भाषा, सर्वत्र हमारे अन्दर नेतृत्व की भावना नहीं रह गयी है कि हम संसार का आगे मार्ग दर्शन करेंगे, हम तो किसी प्रकार से यह चाहते हैं कि दूसरों के पिछलग्गू होकर के चलें। आज हमारे सामने आदर्श क्या रखा जाता है ? हमसे कहा जाता है अमेरिका के जैसे बन जाओ, इंगलैण्ड के जैसे बन जाओ, अमुक देश के जैसे बन जाओ। हम क्यों बन जायें दूसरों के जैसे ? हम उनसे आगे जा सकते हैं, हम औद्योगिक प्रगति में भी उनसे आगे बढ़ सकते हैं, लेकिन हम 'हम' बने रहेंगे। हम न अमेरिका बनना चाहते हैं, न इंगलैण्ड बनना चाहते हैं, न रूस बनना चाहते हैं, हमारी अपनी व्यक्तिगत सत्ता है। हमारा अपना दृष्टिकोण है। हमारा अपना धर्म है। इसके अनुसार ही हम चलेंगे। तो वह वाद कौनसा है जिसको लेकर हम आगे चलेंगे ? यह आनन्दवाद है। इस वैदिक दृष्टि को लेकर के ही हम आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा नहीं।

यह आनन्दवाद कहां तक जाता है ? हमारे जितने सम्बन्ध हैं, संसार के अन्दर जहां कहीं हमको आनन्द की अनुभूति होती है वे सारे के सारे आनन्द किसके हैं ? श्रुतियां उद्घोष करती हैं कि एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि

मात्रामुपजीवन्ति' (बृ. उ. ४ । ३ । ३२) ये जितने भूत हैं, इनके जितने भी आनन्द हैं उन सब के मूल में कौन है ? सारे प्राणी तो केवल उसकी एक मात्रा, उसके एक लव से जीवित रहते हैं। जिस प्रकार वेदान्त का उद्घोष है कि जहां कहीं ज्ञान होता है वहां पर उस ज्ञानरूप से केवल ब्रह्म ही है। 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २ । १ । १)। ज्ञान ब्रह्म के सिवाय और कुछ है ही नहीं। जहां आप घट-ज्ञान पट-ज्ञान करते हैं, जहां पदार्थों का ज्ञान करते हैं, वहां पर भी ज्ञानरूप से ब्रह्म ही विद्यमान है, वहां पर भी आपको सविशेष ब्रह्म का ही ज्ञान हो रहा है। ठीक इसी प्रकार श्रुतियों का उद्घोष है कि जहां कहीं आनन्द का अनुभव होता है उन सब आनन्दों के अनुभव में 'मात्रामुपजीवन्ति' केवल उस ब्रह्मानन्द के ही परिच्छिन्न आनन्द का आपको भान हो रहा है। जितने भाव आनन्द के देने वाले हो सकते हैं, चाहे वह दास्यभाव हो, सख्यभाव हो, वात्सल्यभाव हो, माधुर्यभाव हो, जितने भी भाव हो सकते हैं, संसार में जितने सम्बन्धों से आपको सुख मिल सकता है, श्रुति कहती है उन सब सम्बन्धों के द्वारा तुमको सुख नहीं मिल रहा है। तुमको तो सुख मिल रहा है उस आनन्दरूप परमात्मा के कारण। यदि तुम उस आनन्दरूप परमात्मा को पा लोगे तभी तुम वास्तविक रूप से सुखी हो सकोगे, अन्यथा नहीं। हमारे यहां सांसारिक आनन्द की दृष्टि में यह नहीं कहा गया कि संसार के अन्दर आनन्द है ही नहीं, जैसे हमारे यहां यह कभी नहीं कहा गया कि संसार में ज्ञान है ही नहीं। हमारे यहां क्या दृष्टि रखी गई ? इसी तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्दर आगे जाकर के, संक्षेप में इसे तैत्तिरीयोपनिषद् का उपसंहार भी समझ लेना, आनन्द की मीमांसा की गई है। संसार के अन्दर अनेक ग्रन्थों को आप देख जाइये, संसार के सारे धर्म ग्रन्थ कहते जरूर हैं कि आनन्द वहां परमात्मा को प्राप्त करके मिलेगा। लेकिन वह आनन्द है क्या चीज, उस की मीमांसा क्या है ? जिसका अनुभव नहीं हो सकता, (Ineffable) कह ही नहीं सकते वह कैसा है, अकथ कही नहीं जाय, कह कर के हम किसी को उस में प्रवृत्त नहीं कर सकते हैं। इसलिये श्रुति ने वाच्यार्थरूप से आनन्द का उद्घोष किया।

यह संसार को एक नई देन है। लोग कहते हैं परमात्मा का आनन्द सर्वथा भिन्न है। श्रुति कहती है नहीं। आनन्द की हम मीमांसा करते

हैं, हम आनन्द का स्वरूप बतलाते हैं। श्रुति ने कहा 'युवा स्यात्' 'साधु युवाध्यायकः आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्' (तै. २/८/१) इन सारे विशेषणों के ऊपर बड़ा ध्यान रखियेगा। आनन्द का कहीं अनुभव हुआ हो, तब हम कह सकते हैं कि परमानन्द कैसा है। जब हम को घटज्ञान, पटज्ञान हुआ है, संसार के पदार्थों का ज्ञान हुआ है, तब हम कह सकते हैं कि ब्रह्मज्ञान, अपरिच्छिन्न ज्ञान कैसा हो सकता है, उसका कुछ नमूना हमको मिल सकता है। उसी प्रकार यदि हम कहते रहेंगे कि आनन्द सर्वथा अकथनीय है तो वह आनन्द तत्त्व कभी हमको आकृष्ट नहीं कर सकेगा। आनन्द का रूप बतलाते हुए श्रुति कोई अजीबोगरीब चीज नहीं बतलाती है। वह आनन्द का एक माप बतलाती है, कहती है कि इस माप से आनन्द को मापो। वह माप क्या है? तो पहले ही कहते हैं 'युवा स्यात्'। यदि पुरुष युवा होवे, जवान होवे। लोग कहते हैं, अरे! जवानी से डरो, जवानी बड़ी बुरी अवस्था है, इसमें मनुष्य पापी बन जाता है। श्रुति उसका दृष्टान्त दे रही है ब्रह्मानन्द बतलाने के लिये, कहती है 'युवा स्यात्' जवान होवे! जवान नहीं होगा तो वह क्या सुख को भोग सकता है? उसके अन्दर आनन्द की भावना क्या हो सकती है? इसलिये श्रुति कहती है 'युवा स्यात्'। जवानी भय की चीज नहीं है। परवर्ती ग्रन्थ कहते हैं कि जवानी तो एक बहुत बुरी चीज है, इसमें मनुष्य कुत्ता हो जाता है, बैल हो जाता है, लेकिन श्रुति कहती है 'युवा स्यात्'। जवान होवे, तब आनन्द का अनुभव करेगा। लेकिन श्रुति उससे आगे जाती है केवल 'युवा स्यात्' सुनकर के जवान लोग बड़े प्रसन्न हो जायेंगे, कि हम तो इसीलिये संसार के आनन्द की ओर दौड़ते हैं, लेकिन यह भोगवाद की दृष्टि है। श्रुति कहती है 'युवा स्यात्, साधु युवा' युवा होवे, लेकिन साधु युवा, अच्छे आचरण करने वाला हो। बुरे आचरण करने वाला पुरुष कभी सुखी नहीं हो सकता। क्या कारण है कि मनुष्य भोगवाद में पड़कर दुःखी होता है? इसीलिये कि ऐसे पदार्थों की तरफ भोग करने जाता है, जो उसके मन में भय और चिन्ता का प्रचार कर देते हैं। इसलिये वह भय और चिन्ता से आक्रान्त हुआ क्या भोग कर सकता है? इसलिये कहा साधु युवा, उसे साधु होना चाहिये, सच्चरित्र होना चाहिये। इतना ही नहीं उसे पढ़ा लिखा होना

चाहिये। मूर्ख क्या भोग भोगेगा ? ज्यादा से ज्यादा रसगुल्ला खाकर के समझ लेगा कि हमने संसार का आनन्द ले लिया। सूक्ष्म आनन्द, यथा कविता का आनन्द या उससे भी अधिक गायन इत्यादि का आनन्द, क्या स्थूल बुद्धि वाले ले सकते हैं ? स्थूल आनन्दों की दृष्टि श्रुति की नहीं है, इसलिये कहा 'युवा स्यात्' जवान होवे, लेकिन 'साधु युवा', चरित्रवान होवे। चरित्रवान ही भोग भोग सकता है, निश्चरित्र नहीं। इतना ही नहीं, 'अध्यायक' अध्ययन करने वाला होना चाहिये, उसके अन्दर ज्ञान होना चाहिये। यदि ज्ञान ही नहीं होगा तो वह क्या भोग भोग सकता है ? इतना ही नहीं कहते हैं 'आशिष्ठः'। जिसको आप अंग्रेजी में कहते हैं Optimist 'आशिष्ठ', आशावाला होना चाहिये। ऐसा नहीं कि जो हमेशा निराश ही बना हुआ है, हमेशा चिन्ताग्रस्त ही है। बहुत से जवान हमेशा यही सोचते रहते हैं मुझे अमुक काम मिल जाता तो अच्छा था। तुम स्वयं जो हो वह क्यों नहीं बनना चाहते ? हमेशा, कोई कहता है मैं मन्त्री बन जाऊं, कोई कहता है मैं संसत्सदस्य (MP) बन जाऊं, कोई कहता है मैं बड़ा भारी अफसर बन जाऊं, कोई चाहता है मैं बिड़ला जैसा बड़ा भारी व्यापारी बन जाऊं ! हम कहते हैं, सब क्यों बनना चाहते हो ? तुम खुद अपना आप क्यों नहीं बनना चाहते हो ? दूसरे की नकल क्यों करते हो।

जिस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में हमारा उद्घोष है कि हम भारतीय रहेंगे, उसी प्रकार हमारा उद्घोष व्यक्तिगत जीवन में भी यही है कि हम हमी रहेंगे, हम किसी की नकल बनकर रहना नहीं चाहते हैं। हम तो सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अपने ज्ञान, इच्छा, क्रिया के मालिक बन करके हम 'हम' रहेंगे, हम और कुछ नहीं बनना चाहते हैं। इसलिये कहा 'आशिष्ठ'। अपने चरित्र के अन्दर, अपने अन्दर पूर्ण आशा है, दूसरे की नकल करने की इच्छा नहीं। जो निराश व्यक्ति है वह कभी सुखी नहीं हो सकता। चाहे जितना धन होवे जो हमेशा यही सोचता रहता है, यदि कल घाटा पड़ गया तो ? 'आशिष्ठ'। जब आज तक मैं ठीक प्रकार से कार्य करता रहा हूँ तो घाटा पड़ कैसे जायेगा ? और यदि घाटा पड़ेगा तो भी वहां पर मैं स्वतन्त्र हूँ, स्वतन्त्र हो करके घाटा उठाऊंगा यह पहले बतला दिया था। भगवान सुरेश्वराचार्य तो वार्तिक में 'अतिशयक्षिप्रकारी' इसका अर्थ करते हैं। वस्तुतः आशिष्ठ ही उत्साह का अतिरेक होने के कारण शीघ्र कार्य करता है, प्रमाद या टाल नहीं करता।

अतः भाष्य और वार्तिक में कारण-कार्य भाव से अविरोध है। आज तो सभी चीजों को शुतुर्मुर्ग बनकर टालना ही हमारा आदर्श हो गया है क्योंकि निराशावाद का हमारी धमनियों में पूर्ण संचार हो चुका है। फिर सुख कहां ? इसलिये कहते हैं कि 'आशिष्ठः' ।

फिर कहते हैं 'द्रढ़िष्ठ' । दृढ़ भी होवे । बहुत से लोगों के निश्चय कैसे होते हैं ? 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' । जिनकी इच्छा-शक्ति बड़ी कमजोर होती है उनके केवल मनोरथ होते हैं। किसी ने आकर के एक बात कह दी तो उधर चल दिये, यहां से चले थे सत्संग करने के लिये, रास्ते में कोई मिला और बोला अरे ! चलो चलचित्र (Cinema), तो वहीं चल दिये। या चले थे सिनेमा देखने के लिये, रास्ते में कोई मिल गया और बोला अरे ! सप्रू हाऊस चलो, तो वहीं चल दिये। यह नहीं, 'द्रढ़िष्ठ' इच्छा-शक्ति के अन्दर पूर्ण बल होगा तभी मनुष्य आनन्द का भोग कर सकता है। जो लोग (Jelley Fish) इधर का धक्का आया इधर चले गये उधर का धक्का आ गया उधर चले गये, वे कभी भी संसार के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते हैं। वे तो हमेशा यही विचार करते रहते हैं कि यह न किया, वह न किया। इसलिये 'आशिष्ठ' के साथ में 'द्रढ़िष्ठ' निश्चय में दृढ़ता वाला होवे।

फिर श्रुति कहती है 'बलिष्ठः,' बलवाला होवे। बड़ी आशा भी है, बड़ी दृढ़ इच्छा-शक्ति भी है, लेकिन आज पेट में दर्द हो रहा है, कल सिर में दर्द हो रहा है, परसों आंख में खराबी आ रही है, आज सुनाई नहीं दे रहा है, आज पैर दर्द कर रहा है, तो क्या आनन्द का भोग कर सकेगा ? इसलिये श्रुति कहती है 'बलिष्ठ.' । हमने यह मान लिया कि शरीर के अन्दर कमजोरी आना कोई अच्छी चीज होगी। यह अच्छी चीज नहीं है। श्रुति हमारे सामने आदर्श रखती है 'बलिष्ठ' । रोज सवेरे उठ कर प्रातःकाल हम क्या प्रार्थना करते हैं, हमारे अंग कैसे रहें ? 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः, स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांस' (ऋ० वे० १८९/८) हम परमेश्वर की स्तुति तभी कर सकेंगे जब हमारे अंग स्थिर होंगे। स्थिरता का मतलब यह नहीं कि केवल आसन से बैठना, हमारे अंग जब बल वाले होंगे तभी हम उधर आगे बढ़ सकेंगे, अन्यथा नहीं। श्रुति कहती है कि इतने से भी आनन्द

भोग पूरा मत समझ लेना। यह आध्यात्मिक संपत्ति होने पर भी यदि आधिभौतिक संपत्ति न हुई तो भी आनन्द असंभव है। वैदिक संस्कृति में भौतिक संपत्ति को कभी भी बुरा नहीं माना गया। यह तो बुद्ध और मध्यकालीन सन्त परम्परा के दु:खवादी संस्कृति की देन है। 'तस्येयं पृथिवी सर्वा'। श्रुति कहती है कि इस सारी पृथ्वी, सारे भूमण्डल का एक अधिपति हो। वह पृथ्वी भी कैसी हो 'वित्तस्य पूर्णा स्यात्' सारी की सारी धन से भरी हुई हो। यह नहीं कि आज तो जनता के पास खाने को नहीं है, आज तो पीने को नहीं है। अबकी पानी नहीं बरसा, अबकी अनाज नहीं है, अबकी कपड़ा नहीं है। इन रोने वालों के राजा क्या आनन्द भोग सकेंगे? इसलिये श्रुति कहती है कि बलिष्ठ ही नहीं बल्कि सारी पृथ्वी का एकछत्र राजा होवे और सारी पृथ्वी 'वित्तस्य पूर्णा स्यात्' धन से भरी हुई होवे। 'स एको मानुषानन्दः' श्रुति कहती है यह आनन्द का एक माप हुआ।

आप लोगों ने अपना दशमलवमान (Decimal System) आजकल बना लिया है। यह नहीं समझना कि यह फ्रांस से आया है। हमारे तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्दर इसी दशमलव प्रक्रिया के अनुसार आनन्द की मीमांसा की गई है। जैसे आप एक मीटर से नापते हैं उसको मापदण्ड मानते हैं वैसे ही इसको तो एक नाप समझना। इस आनन्द के नाप से आप अपने को कभी जांच करके देखिये तो आप को पता लगेगा कि जो अपने को बड़े से बड़ा भोगवादी समझता है उसको जो आनन्द है वह कुछ भी नहीं है, इसीलिये तो श्रुति ने कहा कि 'एतस्य मात्रामुपजीवन्ति' (बृ. उ. ४/३/३२)। फुआरे के पास खड़े रह कर के उसके उड़े हुए शीकराणुओं से भी कभी प्यास बुझी है? संसार के विषय भोगों के द्वारा भी कभी तुम्हारी आनन्द की प्यास बुझ सकती है, कभी सुख की प्यास बुझ सकती है? अनन्त आनन्द को 'यो वै भूमा तत्सुखम्' उस भूमा आनन्द को, प्राप्त करके ही हमारी प्यास बुझेगी, उससे पहले नहीं। हमको आनन्द से घबराना नहीं है 'स एको मानुषानन्दः'। यह एक मानुषानन्द नामक नाप बतलाया।

उसके बाद श्रुति ने आनन्दों को सौ-सौ गुणा बढ़ाते हुए अन्त में जाकर के कहा कि एक के बाद बीस शून्य रख देना तो १०२० गुणा मनुष्य के

आनन्द से ज्यादा जो आनन्द है 'स एको ब्रह्मण आनन्दः', श्रुति कहती है, वह ब्रह्म का आनन्द है। बीस की संख्या इसलिये रखी गई है कि प्राचीन गिनती के अन्दर सबसे बड़ी गिनती हुआ करती थी परार्ध, जिसमें दश के आगे अठारह बिन्दु रखे जाते थे। हमारी प्राचीन परिगणना में, जो लोग उस विषय के ज्ञाता होंगे उनको पता होगा, दश के एक के आगे अठारह बिन्दु रखे जाते हैं तब उस संख्या का नाम संस्कृत में होता है परार्ध, और उसको पूर्ण संख्या माना गया है। यहां पर श्रुति ने उसको अनन्त बतलाने के लिये उसके सामने दो बिन्दु और रख दिये, कि इस मानुष आनन्द से जो अनन्त गुणा आनन्द है 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' वह ब्रह्म का आनन्द है।

यहां विचार करने की चीज तो केवल यह है कि श्रुति ने आनन्द को केवल एक विचारमात्र बनाकर नहीं छोड़ा, उसको पहले वाच्यार्थ के द्वारा घटाकर हमको यहां दिखला दिया जिससे हमको कोई चिह्न मिल सके, और साथ में श्रुति ने यह भी बतलाया कि मानुष आनन्द से श्रुति का विरोध नहीं है। यदि श्रुति किसी प्रकार से यह समझती कि सर्वथा यहां के आनन्दों में आनन्दरूपता है ही नहीं, तो वह कभी उसको गिनाती ही नहीं। विचार करिये, जिस चीज में जो चीज है ही नहीं, बालू में यदि तेल नहीं है तो चाहे आप दश के ऊपर क्या बीस के ऊपर भी बीस बिन्दी रख जाइये, तो भी कभी उसके अन्दर से एक बूंद तेल नहीं निकलेगा।

वस्तुतः यदि संसार के अन्दर आनन्द न होता तो श्रुति का यह नाप ही ग़लत सिद्ध हो जाता। इसीलिये हम तो इस जगत को भी एक आनन्द का स्थल मानते हैं। यह दूसरी बात है कि यहां का आनन्द परिच्छिन्न होने के कारण अल्प आनन्द है, हमारा आदर्श भूमानन्द है। लेकिन इस आनन्द को हमने कभी भी हेय नहीं समझा। इस आनन्द से हमको आगे जाना है, यह दूसरी बात है। मिथ्या का परित्याग करके, उसका बाधकर के उस पूर्णता में पहुंचना है, यह दूसरी बात है। लेकिन दूसरी दृष्टि हमने कभी नहीं अपनाई। जहां कहीं आनन्द की प्राप्ति है वहां आनन्द हमारे स्वप्रतिबिम्ब से हमारा स्वयं का ही रमण है। श्रुति बार-बार कहती है कि अपने आप से रमण करके आनन्द लेने के लिये सृष्टि हुई थी। आनन्द को परिच्छिन्न समझ करके ही अपरिच्छिन्नता का आनन्द प्राप्त होता है, इसीलिये वह

परब्रह्म परमात्मा परिच्छिन्न रूप बनता है। इस दृष्टि को लेकर जब हम चलेंगे, तभी आगे बढ़ सकेंगे।

आनन्द का भिन्न-भिन्न रूप भी श्रुति पहले तैत्तिरीयोपनिषद् में बड़े सुन्दर शब्दों में बतला आई है कि 'तस्य प्रियमेवशिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'। (तै.२।५।१) संसार के अन्दर कितने प्रकार के आनन्द हैं ? श्रुति उनका निरूपण करती है, कहती है कि 'प्रियमेव शिरः', जब किसी भी इष्टपत्नी पुत्रादि का दर्शन होता है उससे जो आनन्द होता है उसे 'प्रिय' नाम से कहा जाता है। वह उस आनन्द का शिर है। 'मोदो दक्षिणः पक्षः' प्रिय के लाभ से होने वाले हर्ष को मोद कहते हैं। यह उस आनन्द का दाहिना बाजू है। 'प्रमोद उत्तरः पक्षः' मोदप्रद पदार्थ के भोग से जो आनन्द होता है वह प्रमोद है। ये हैं आनन्द की श्रेणियाँ। श्रुति आगे कहती है 'आनन्द आत्मा'। आनन्द ही इसका आत्मा है, इसका स्वरूप है अर्थात् आनन्द अवयवी है एवं प्रिय, मोद और प्रमोद अवयव है। लेकिन इसके आगे जो श्रुति कहती है उसको भूलने से काम नहीं चलेगा 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'। श्रुति कहती है कि आनन्द को प्राप्त तब करोगे जब ब्रह्म के अधिष्ठान के ऊपर खड़े होओगे। जब तक परिच्छिन्नता के भाव में हो तब तक उस स्वरूपभूत आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकोगे। तब तक तो वही होगा, 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः'। हम तो परब्रह्म परमात्मस्वरूप हैं पर हम दरिद्र बन गये हैं, क्यों कि उस सामरस्यावस्था को हम नहीं समझ पाये हैं, जिसका पहले संक्षेप में निरूपण किया था। प्रतिक्षण जब तक हम ज्ञान, इच्छा और क्रिया का सामरस्य नहीं करेंगे तब तक इस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। श्रुतियों ने इस आनन्द के आदर्श को हमारे सामने रखा।

हमारा न दुःखवाद है, न भोगवाद, हमारा तो आनन्दवाद है। उस आनन्द की प्राप्ति के लिये हमको निरन्तर परिश्रम करना है, निरन्तर आगे जाना है। लेकिन यह होगा कैसे ? कब हम इस आनन्दवाद के अन्दर आगे बढ़ पायेंगे ? पहले ही बतला दिया कि जब प्रिय, मोद और प्रमोद की प्राप्ति करेंगे तब ! श्रुति कहती है कि तुम अन्यत्र प्रियता को ढूंढ रहे हो, इसीलिये तो 'प्रियं त्वा रोत्स्यतीति'। तुम समझते हो हमारी पत्नी प्रिय है, हमारा

पुत्र प्रिय है, हमारा धन प्रिय है। 'प्रिय त्वां रोत्स्यतीति'। जिसको तुम प्रिय समझोगे वह रुलाकर के तुम से एक दिन अलग हो जायगा; या तो तुम अलग हो जाओगे या वह तुम से अलग हो जायगा। इसलिये प्रिय किसको समझो? श्रुति कहती है "प्रियमेव शिरः",। आनन्द रूप तो तू है 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', बृ० २।४।५। आनन्दवाद के अन्दर, प्रत्येक आनन्द के अन्दर, प्रत्येक क्षण के अन्दर हो क्या रहा है? आप वहां आत्मरूप से विद्यमान हैं। 'तस्य प्रियमेवशिरः'। जब आप अपने अन्दर अपने आप से ही प्रेम करते हैं, 'आत्मरति, आत्मक्रीड़' शब्दों पर ख्याल रखियेगा, अपने आप से रमण करते हैं, जिस प्रतिक्षण के अन्दर आप दृश्य-दृष्टा भाव को बनाते हैं, जब आप उपभोक्ता और उपभोग्य भाव को बनाते हैं, तो उपभोग्य तो आप बने हुए हैं पर अपने आत्मतत्त्व को भूलकर उपभोग्य को अन्य समझ लेते हैं, इसी लिये बन्धन होता है। बड़े-बड़े विलक्षण दृष्टान्तों के द्वारा इसको आचार्यों ने बतलाया है। जहां कहीं हमको भोग की प्राप्ति होती है वहां भोग का आनन्द वस्तुतः हमारे अन्दर है, जब जीभ है तब हमको खाने का आनन्द है, यदि जीभ नहीं है तो कोई पदार्थ हमको सुख नहीं दे सकता। इससे मालूम पड़ता है कि खाने के आनन्द का आधार जीभ है। यदि पदार्थ न भी होवे और जीभ के अन्दर स्वाद आ जावे तो भी आपको आनन्द का अनुभव हो जायगा। आप समझते हैं कि रसगुल्ले में आनन्द है या दूसरे पदार्थों में आनन्द है। वह आनन्द तो आपके अन्दर है। आप पदार्थों को आनन्द दे रहे हैं। इसलिये कहा 'तस्य प्रियमेव शिरः', प्रिय ही शिर है। जब आप यह समझ लेंगे कि मैं स्वयं ही पदार्थों को प्रिय समझ करके उनको आनन्द प्रदान कर रहा हूं, आनन्द तो वस्तुतः हमारे अन्दर है; तब प्रतिक्षण आप के अन्दर आनन्द का स्रोत होगा। 'तस्य प्रियमेव शिरः,' इसी को शिर माना है। अपने आत्मा के अन्दर जो प्रियता का अनुभव प्रतिक्षण होगा वह आपके आनन्द का स्रोत होगा।

आगे कहा, 'मोदो दक्षिण पक्षः', प्रतिक्षण में क्या हो रहा है? आप पदार्थ का बाहर विस्फोट करते हैं, बाहर उसको उत्पन्न करते हैं, उसको बाहर देखते हैं। वह देखना क्या है, 'मोदो दक्षिणः पक्षः'; वह पदार्थ आपके सामने है, इसलिये वह आपका है यह निश्चित बात है। ऐसा जब आप जानते हैं तो यह ज्ञान मात्र ही 'मोदो दक्षिणः पक्षः' है।

लोग कहते हैं कि संसार में दुःख है। वे कभी विचार नहीं करते कि संसार में दुःख है कहां? संसार तो आनन्द से उत्पन्न हुआ, इसके अन्दर दुःख हो कैसे सकता है? पहले बतला आये हैं कि संसार सत्य से उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह संसार कभी असत्य नहीं हो सकता। यह संसार असत्य है, क्योंकि हमने इसको असत्य बना दिया। यह जैसा है नहीं उसको हमने वैसा समझ लिया। इसी प्रकार हम कहते हैं संसार जड़ है। विचार कर के हम लोगों ने देखा था कि संसार में जड़रूपता कहीं सिद्ध ही नहीं होती। संसार जड़ क्यों बन जाता है? क्योंकि उसको हमने जड़ बना दिया है। इसी प्रकार यह संसार तो आनन्द से उत्पन्न होने के कारण आनन्द से भरा हुआ एक स्थल है, लेकिन हमने इसको अपनी भ्रान्ति के कारण दुःख रूप बना लिया है। इसी दृष्टि को लेकर शास्त्रकारों ने बतलाया कि 'मोदो दक्षिणः पक्षः'। प्रत्येक क्षण में आपके सामने जब पदार्थ आता है तो वह पदार्थ आपके लिये मोद का कारण बन जाता है। क्योंकि आप जानते हैं कि उस पदार्थ के सामने आप अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा खड़े हैं। छोटे से छोटे अनुभव को लीजिये; जिसको आप दुःख-रूपता का कारण मानते हैं उसको लीजिये—शरीर के अन्दर फोड़ा हुआ, फोड़े में आपको अनुभव हो रहा है कि यह बड़ा भारी पीला रंग है, कभी आपने यह भी ख्याल करने की चेष्टा की कि जो फूला हुआ फोड़ा होता है उसका कितना सुन्दर मोती का सा रंग होता है? कभी ध्यान देकर देखिये, क्षण भर के लिये उस वेदना को भूल जाइये, उस वेदना से दृष्टि हटाकर उसके अन्दर मोती की दृष्टि कर लीजिये, देखिये कैसा विलक्षण आनन्द आपको आ सकता है। लेकिन कब? यदि आप पूर्व-क्षण और पर-क्षण की आशाओं को ले आयेंगे, स्मृतियों और आशाओं को मिला लेंगे तो कभी इस आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते हैं। तब तो हमेशा बन्धन का ही अनुभव करेंगे। काल ही तो बांधने वाला है। आपको महा काल की शरण लेनी है, काल की शरण नहीं। उस एक क्षण को पकड़ना है अन्य क्षणों को नहीं। जब उस एक क्षण को पकड़ते हैं तो क्या होता है 'मोदो दक्षिणः पक्षः'। दूसरे ही क्षण क्या होता है वह पदार्थ, वह ज्ञान हमेशा के लिये आपका हो गया है। आप उसके अधिपति हो गये। आपने जिस पदार्थ को देख लिया उस पदार्थ का ज्ञान आपका हो गया। उस ज्ञान को आपसे कभी कोई नहीं छीन सकता, परमेश्वर भी नहीं छीन सकता।

वस्तुतः तो आप स्वयं ही परमेश्वर हैं, लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि उस ज्ञान की, उस अनुभूति की, वह जो अनुभव रूप से आपका हो गया, आपको प्राप्ति हो गई तो 'प्रमोद उत्तरः पक्षः'। आपने उसको सर्वथा भोग लिया। जब मोद हो गया, प्रमोद हो गया तो अन्त में क्या आता है 'आनन्द आत्मा'। वह आपके स्वरूप से अभिन्न हो गया। स्वरूप से अभिन्न हो जाना ही तो आनन्द है। जब हमको पदार्थ का भोग होता है तो प्रमोद है क्योंकि भोक्ता और भोग्य का द्वैत सर्वथा नष्ट नहीं हो पाता। इसे द्वैताद्वैत या गंगासागर न्याय से समझना चाहिये। जब हम उस पदार्थ से अभिन्न हो गये, जब हम उस पदार्थ से सर्वथा एकता को प्राप्त कर गये, तब जो स्थिति आती है उसको आनन्द कहते हैं। 'आनन्द आत्मा', लेकिन कब ? जब 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', जब आपने अपनी ज्ञान, इच्छा और क्रियाओं का ऐक्य कर लिया, और आप पदार्थों एवं घटनाओं को घटानेवाले बन गये, तब। जब तक आप घटित होते रहेंगे, जब तक कभी आपकी क्रिया-शक्ति कुण्ठित होती है, कभी इच्छा-शक्ति कुण्ठित होती है, कभी ज्ञान-शक्ति कुण्ठित होती है, जब तक इनके अन्दर कुण्ठन का भाव बना रहेगा, जब तक भूत अलग से आपको डराते रहेंगे—भूत से मतलब यहां पर पेड़ों पर रहनेवाला भूत नहीं बल्कि आपकी भूत क्रियायें, भूत स्मृतियां हैं—वे जब तक आपके सिर पर चढ़ती रहेंगी, भविष्य में क्या होगा, इस चिन्ता से जब तक आप ग्रस्त बने रहेंगे, भय और आशा के बीच जब तक आप एक लम्ब (Pendulum) की तरह घूमते रहेंगे तब तक कभी उस आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं।

इस आनन्दवाद का दूसरा दृष्टिकोण लीजिये। व्यक्ति के दृष्टिकोण से अब तक आनन्दवाद के आदर्श को हमने रखा। आप कहियेगा कि शास्त्रों में अनेक जगह पर यह भी कहा है, कि मनुष्य संसार के पदार्थों से दूर रहे। भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद ने बड़े सुन्दर ढंग से धन्याष्टक में अन्तिम दो श्लोकों द्वारा इसके रहस्य का उद्घाटन किया है। वे कहते हैं कि संसार में दो स्थिति होती हैं। एक स्थिति के अन्दर मनुष्य परित्याग करता है। उस समय उसकी दृष्टि क्या होती है ?

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी।
विषमिव विषयान्यं मन्यमानो दुरन्तान् जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति॥

(शंकर धन्याष्टक ६)। जब तक मुक्तिभाव को प्राप्त करने के लिये वह साधना

कर रहा है उस समय वह परित्याग करता है, विषयमात्र को विषमिव समझ कर छोड़ता है। आनन्दवाद की दृष्टि को अपनाकर चलियेगा। आपने किसी को तैरते हुए देखा होगा या स्वयं तैरे होंगे, जब आप तैरते हैं तो क्या करते हैं? आप अपने हाथ को आगे की तरफ ले जाकर के पीछे की तरफ ले जाते हैं। जब तक आप अपने हाथ को पीछे की तरफ नहीं करेंगे, तब तक कभी आप तैर करके आगे नहीं जा सकते, यदि आगे की तरफ ही हाथ करते चले जायेंगे तो आप पीछे हटेंगे। आप कहेंगे कि हमने दिल्ली में कभी तैरना देखा ही नहीं है। तो जाने दो तैरने को, आप चलते तो रोज हैं, कभी विचार किया है कि चलते समय आप क्या करते हैं? आप जब उठकर के चलने लगें तो आप देखेंगे कि आप पंजे को जब पीछे की तरफ धक्का देते हैं तब आप आगे बढ़ पाते हैं, अगर आप पंजे को पीछे की तरफ धक्का न देवें तो आप कभी आगे नहीं बढ़ सकते हैं। इसी सिद्धान्त के ऊपर स्फुट यान (Jet Plane) इत्यादि भी उड़ते हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त बड़ा सरल है। जितना आप पीछे की तरफ टक्कर मारेंगे उतना ही आप आगे की तरफ बढ़ सकेंगे। रबड़ के गेंद को जितना आप नीचे मारेंगे उतना ही वह ऊपर जायगा। ठीक उसी प्रकार साधन काल के अन्दर यह आवश्यक है कि हम पदार्थों से कुछ दूर होवें। क्यों दूर होवें? क्योंकि हमने पदार्थों के साथ एक गलत सम्बन्ध बना लिया है, पदार्थों के साथ हम एक गलत ढंग से सम्बन्ध वाले हो गये हैं। पदार्थ हमारे मालिक बन बैठे हैं। चूँकि पदार्थ हमारे मालिक बन बैठे हैं, इसलिये हमको जरा दूर होने की जरूरत पड़ती है. शक्ति प्राप्त करने के लिये, ताकि बाद में हम पदार्थों के अधिपति होकर बैठें। दुःखवाद तो कहता है कि तुम हमेशा पदार्थों के गुलाम ही रहोगे, उनसे भागकर के ही शान्ति पाओगे। आनन्दवाद कहता है नहीं, हमको उनसे दूर होना जरूरी है केवल इसलिये कि हमारी शक्ति बढ़ जाये। मुष्टियुद्ध (Boxing) में पीछे हटकर ही प्रबल प्रहार करना संभव है। सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति' ताकि हम सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होकर के इनके शासक बन सकें हमारी दृष्टि सर्वथा विलक्षण है। जिस प्रकार लड़का स्कूल में पढ़ता है, केवल पढ़ने के लिये नहीं, पढ़कर के फिर आगे बढ़ने के लिये, व्यापार करने के लिये बच्चे को शिक्षा की जरूरत होती है। उसी समय यदि आप उसको काम में लगाने की चेष्टा करें, तो उन सारे पदार्थों

का अध्ययन किये बिना वह आगे नहीं बढ़ सकेगा। इसलिये प्रारम्भ में आवश्यक होता है कि वह थोड़ा बहुत अपने अन्दर ज्ञान प्राप्त करे। इसी प्रकार साधनकाल में भी समझना चाहिये। 'जयतु परमहंसो मुक्तिभावं समेति', लेकिन यदि मुक्तिभाव को प्राप्त कर लिया, तो उससे क्या हुआ ? तब कहते हैं, 'सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपिकल्पद्रुमाः गांगं वारि समस्त वारि निवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः। वाचः प्राकृतसंस्कृतं श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी सर्वावस्थितिरस्तु वस्तु विषये ज्ञाते परब्रह्मणि'। (धन्याष्टक १०) उस समय उसकी स्थिति यह है कि जिसको अब तक वह जगत् समझ रहा था वही नन्दनवन हो गया है। बंगला भाषा में एक कहावत है 'जे छीलो धोखार टाटी शेई होलो माजार कुटी' कि यह संसार एक बड़ी भारी धोके की टट्टी बनकर हमारे सामने था वही आनन्द का स्थान हो गया। जहां कहीं हमारी दृष्टि जाती है, जहां कहीं हम वृक्ष देखते हैं वहां कल्पवृक्ष देखते हैं, सारा संसार हमारी इच्छाओं को पूर्ण करने का स्थल बन गया। विचित्र चीज देखिये। कहां हम संसार के अन्दर सारे पदार्थों के द्वारा भयाक्रान्त थे, चिन्ता से आक्रान्त थे, सभी हमको द्वितीय होने के कारण भय दे रहे थे, आज हम से अद्वितीय होकर, हमारे साथ एकता को प्राप्त कर, वे सारे के सारे हमारी इच्छा को पूर्ण करने वाले बनते चले जा रहे हैं। हम जो क्रिया करते हैं, वह पुण्य-क्रिया ही है, क्योंकि पुण्य हमेशा छुड़ानेवाला होता है, पाप हमेशा बन्धन में डालनेवाला होता है, ऐसे व्यक्ति से कभी कोई क्रिया हो ही नहीं सकती जिसे वह बन्धन में पड़कर के करे। सर्वथा स्वतन्त्र भाव से क्रिया करनेवाला होने के कारण उसका प्रतिक्षण आनन्द का हो जाता है। साधनकाल में जो हमको थोड़ा पीछे जाना पड़ता है, जो हमको थोड़ा सा अन्दर की तरफ़ को जाना पड़ता है वह केवल आगे बढ़ने के लिये। यह नहीं समझ लेना कि हमें केवल पीछे ही पीछे हटते चले जाना है। प्रायः लोग यही करते हैं। देखने में आता है कि छोटे-छोटे साधनों के अन्दर भी हम पीछे हटना शुरू करते हैं तो पीछे ही हटते चले जाते हैं।

प्रबोधानन्द सरस्वती बड़े भारी वेदान्ती थे, और प्रयाग में रहा करते थे। मीरा ने चाहा कि मैं उनसे जाकर मिलूं। मीरा वहां पहुंची और खबर भेजी कि मैं आपसे मिलना चाहती हूं। प्रबोधानन्द जी ने वापस ख़बर भेजी कि मैं संन्यासी हूं स्त्री से नहीं मिलता। यह ठीक है कि यदि स्त्री किसी

के मन को भ्रांति में डालती है तो उसे जीतने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ समय के लिये, वह उससे अलग हो जाय। मीरा ने विचार किया कि ये इतने आगे बढ़े हुए साधक हैं इन को अब इस चीज की आवश्यकता तो है नहीं। लेकिन अभी तक इनका भय दूर नहीं हुआ। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' मेरे साथ ये द्वैत की दृष्टि रखते हैं। वापस खवर भेजी, कि आप तो कहते हैं संसार में एक ब्रह्म है तो फिर उस ब्रह्म के अतिरिक्त है क्या, जिससे आप भय खा रहे हैं, 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते' (श्वेता० ५/१०) स्त्री पुरुष का भेद है किसके अन्दर ? वह तो देहदृष्ट्या है; देह को लेकर के यदि इस भेद को आप मानते हैं तो क्या आप देह से भय खा रहे हैं ? प्रबोधानन्द जी इस चीज को समझ गये। यद्यपि मीरा एक स्त्री थी लेकिन उसने उस अनुभूति को किया था, उस अनुभूति के फलस्वरूप वह यह कह सकी। प्रबोधानन्द जी नीचे आगये वे अपनी गलती को समझ गये।

अतः हमको साधना काल में पीछे हटना है तगड़ा बनने के लिये। कभी आपने दो मेढ़ों को लड़ते हुए देखा है ? जब दो मेढ़े आपस में लड़ते हैं, या दो सांड़ आपस में लड़ते हैं तो एक सांड़ क्या करता है ? वहुत पीछे की तरफ जाता है। क्यों ? यह नहीं समझ लेना कि वह डर के जा रहा है। उसकी आंख सामने वाले के ऊपर है। क्यों कि वह जानता है कि जितना पीछे जाकर के आगे मार करेगा उतना ही वह दुश्मन को मार सकेगा। इसी प्रकार साधनकाल में हम जरूर पीछे जाते हैं, लेकिन पीछे जाना हमारा आदर्श नहीं है, आदर्श तो आगे मार करना है। पीछे हटने से काम नहीं चलेगा। यह आनन्दवाद की दृष्टि है। इसके अन्दर भोगवाद की गलती नहीं है। भोगवाद हमको विषय के बन्धन में डालता है और हमको वह शक्ति प्राप्त करने नहीं देता जिससे हम पदार्थों के अधिपति बन सकें। यह भोगवाद की गलती है, दुःखवाद की गलती है कि हमको ऐसा भय दिला देता है कि हम उससे पीछे ही हटते चले जाते हैं। हम यह नहीं जानते कि यह हमारा उल्लास है, हमारा खेल है। हमारे खेलने के लिये यह संसार वनाया गया है, भय को उत्पन्न करने के लिये नहीं। श्रुति तो इसको बगीचा 'आरामं अस्य' कहती है। दुःखवाद और भोगवाद दोनों की जो कमियां हैं, उन्हें दूर करने से ही आनन्दवाद की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है।

दुःखवादी की तरह साधन काल के अन्दर हम जरूर पीछे जाते हैं, लेकिन आनन्द की दृष्टि को लेकर चलते हैं केवल मरने के बाद किसी आनन्द को प्राप्त करने के लिये नहीं, यहां प्रतिक्षण उस आनन्द का अनुभव करने के लिये, हमारी दृष्टि आनन्दवाद की है। यही हमारा आदर्श है। यह सब हमने व्यष्टि दृष्टि से कहा।

समष्टि दृष्टि से इस आनन्दवाद का क्या आदर्श है? हमारे सामने तीन प्रकार के दुःख आते हैं। अति संक्षेप में बताएंगे—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। ये तीन प्रकार के दुःख हमारे सामने हैं। इनसे आंख हटाने से काम नहीं चलेगा। हमारा मन हमको दुःख देता है, हमारा शरीर हमको दुःख देता है और दूसरे प्राणी हमको दुख देते हैं, चाहे वह शेर हो, चाहे कुत्ता हो, चाहे मनुष्य हो। हमको इन तीन प्रकार के दुःखों की प्राप्ति हो रही है।

इस दृष्टि के द्वारा हम अपने मन को विजय कर लेते हैं। ज्ञान, इच्छा और क्रिया हमारे हाथ में हो जाती हैं तो उसका पहला फल है कि आध्यात्मिक दुःख कभी हमको हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिक दुःख हमारे पास तक नहीं फटक सकते। इसका समष्टि रूप क्या हो जाता है? जिस प्रकार से मेरे शरीर के अन्दर दुःख आ जाता है, उसी प्रकार जहां-जहां शरीर है वहां दुःख आसकता है। उन दुःखों की निवृत्ति के लिये आनन्दवाद ही आगे बढ़ता है। इसीलिये आनन्दवादी भय नहीं खाता। आध्यात्मिक दुःखों को दूर करके वह आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से भी भय नहीं खाता है, बल्कि उनके ऊपर अपना शासन करता है। उनका नियन्त्रण करता है। इसीलिये समष्टि जगत के अन्दर उसके आनन्द का उल्लास चलता रहता है। वह जहां जाता है वहां आनन्द को फैलाता है, केवल अपनी विचारधारा के द्वारा नहीं, केवल अपने मन के द्वारा नहीं, उसका देह, मन, इन्द्रियाँ जो कुछ हैं वह सब आनन्द से लबालब रहता है, तालाब के तट के ऊपर बैठनेवाला व्यक्ति क्या कभी प्यासा रह सकता है? जिसके अन्दर आनन्द हिलोरें मार रहा है, और आनन्द को वह अपने अन्दर रख नहीं पा रहा है, उस आनन्द को अपने से बाहर फूट-फूट कर निकलता हुआ देखता है, यदि वह चाहता भी है कि मैं इस आनन्द को अन्दर

रोकलूं तो रोक नहीं सकता है। वह चाहता है कि यह सारा आनन्द सर्वत्र फैल जाय, क्योंकि सर्वत्र वह अद्वैत दृष्टि को लेकर चलता है। इसलिये चाहे हम समाज की दृष्टि से देखें, समाज में जहां कहीं हमको दुःख प्रतीत होता है, जहां कहीं हमको पीड़ा प्रतीत होती है, उसको निवृत्त करने के लिये आनन्दवादी सर्वथा तैयार रहता है। जिस व्यक्ति के जीवन में, मानस जीवन में हो चाहे भौतिक जीवन में, वह दुःख देखता है, जिस समाज में दुःख देखता है, जिस राष्ट्र में दुःख देखता है, उस दुःख को हटाकर आनन्द वाद की दृष्टि का वहां प्रसार करता है। केवल व्यष्टि जीवन में ही वह आनन्द को नहीं पाता, समष्टि जीवन में आनन्द पाता है। लेकिन वहां भी परतन्त्र होकर नहीं, उस प्रकार नहीं जिस प्रकार कि एक समाजवादी कहता है कि दुनियां का उपकार करना चाहिये। क्यों करना चाहिये ? हम मानव हैं इसलिये।

आनन्दवाद की दृष्टि बहुत बड़ी दृष्टि है। हम मानववादी नहीं। प्रायः लोग कहा करते हैं, मनुष्य को पहले मानव तो बनने दो। हम कहते हैं हम न आपको मानव बनाना चाहते हैं, न हम आपको दानव बनाना चाहते हैं, न हम आपको पशु बनाना चाहते हैं, हम आपको कुछ नहीं बनाना चाहते हैं, हम तो आपको स्वयं अपना आप बनाना चाहते हैं। आप से बड़ी कोई चीज संसार में है नहीं। आप स्वयं उस परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप हैं। आप से महान् है क्या जो आप बनेंगे ? आप दूसरे बनते चले गये हैं इसलिये ही तो दुःखी हो गये हैं। कभी आप मन के चक्कर में पड़कर मन बन जाते हैं, कभी बुद्धि के चक्कर में पड़कर बुद्धि बन जाते हैं, कभी शरीर बन जाते हैं। संसार के अन्दर जितने 'वाद' आये हैं, वे सब आपको बनाने के लिये आये हैं। बनना छुड़वाने के लिये वेद का सिद्धान्त है। वेद का सिद्धान्त आपको कुछ बनने देना नहीं चाहता, जो कुछ आप बन गये हैं, वहां से हटा देना चाहता है।

एक महात्मा थे उन्होंने अपने शिष्य से कहा बेटा ! कभी कुछ बनना नहीं। घूमते हुए वे लोग एक बगीचे में पहुंचे। उस बगीचे के अन्दर महात्मा लेट गये। शिष्य से कहा तू भी लेट जा। शिष्य ने कहा महाराज ! राजा का बगीचा मालूम पड़ता है। कहीं कोई आगया तो ? महात्मा ने कहा, चिन्ता

नहीं, कुछ बनना नहीं, फिर तेरा कोई कुछ नहीं कर सकता। दोनों लेट गये। थोड़ी देर में राजा आये। देखा एक महात्मा पड़ा सो रहा है। उससे कहा, यहां कैसे सो गया? महात्मा उठ खड़े हुए, चल दिये। सोचा, यह कोई पागल है, महात्मा है, जा रहा होगा, जाने दो। अन्दर गये तो देखा दूसरा जवान पड़ा हुआ है। उसको भी जगाया, कहा, तू यहां पड़ा हुआ क्यों है? तो हड़बड़ा के उठके बोलता है कि, 'मैं तो महात्मा हूं'। राजा कहने लगे 'महात्मा बना है, और दूसरों के घर में जाकर छि के सोता है। तू तो कोई चोर मालूम पड़ता है, महात्मा नहीं'। दो चार डण्डे मारे। आगे गया तो जाकर देखता है कि उसके गुरुजी जा रहे थे। कहा 'गुरु जी, आपने कहा था कुछ नहीं बनना, मैं कुछ नहीं बना, देखिये डण्डे खाकर आया हूँ'। कहने लगे तू जरूर कुछ बना होगा, बता तूने क्या कहा? बोला, मैंने केवल यह कहा कि मैं महात्मा हूँ। कहने लगे—तू महात्मा बना, इसीलिये डण्डे पड़े।

संसार में आप चाहे जितने महान् बन जाइये, जब तक आप बनेंगे, तब तक आप तापत्रय की निवृत्ति कभी नहीं कर सकेंगे। इसलिये वैदिक दृष्टि से हम आपको कुछ भी बनाना नहीं चाहते। जो कुछ आप बन गये हैं उस सब से हटाकर हम आपको स्वयं अपने आपा के अन्दर रहने की बात कह रहे हैं। आप ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सर्वत्र मालिक हैं, हमेशा मे मालिक रहे हैं, वस्तुतः इस क्षण भी मालिक हैं, लेकिन आप जबर्दस्ती उसके बन्धन में बंध गये हैं। उन बन्धनों को छोड़ना आदर्श है। उन बन्धनों में बंधना आदर्श नहीं है। नए-नए बन्धनों के अन्दर बांधने के लिये वेद आपको सन्देश नहीं दे रहा है। वेद यह नहीं कह रहा है कि लोहे की शृंखलाओं को तोड़कर सोने की शृंखलाओं को पहन लो। शृंखला तो शृंखला है, चाहे वह सोने की हो चाहे लोहे की। इसलिये वेद आदेश देता है कि सारी शृंखलाओं को तोड़ो। तुम स्वयं अपने अधिपति बनो। तुम स्वयं ईश्वर बनो। तुमको और कुछ नहीं बनना है। तुम जो कुछ बने हो वहां से हटकर के खुद अपने आपे में बन जाओ। तुम हो कौन? आनन्द! तुम्हारे अन्दर निरन्तर आनन्द की अभिलाषा है। तुम्हारे कारण संसार में आनन्द है। तुम्हारे कारण संसार में ज्ञान है। तुम्हारे कारण संसार में सत्ता है। सत्ता, ज्ञान और आनन्द रूप के अन्दर स्थित हो जाओ। यही महा कुछ प्रतिष्ठा वेद का आदर्श है।

व्यष्टि एवं समष्टि दृष्टि से, जब इस व्याख्यान शृंखला को प्रारम्भ किया था, उस समय बतलाया था कि 'शं नो मित्रः', हमारा आदर्श है मित्र का, 'शं वरुणः, हमारा आदर्श है सर्व पापों की निवृत्ति का, और 'शं नो भवतु अर्यमा', हमारा आदर्श है उसको प्रकट करने का। इसके अन्दर तीनों अंग बतलाये। मित्र के द्वारा ज्ञान-शक्ति का प्राकट्य बतलाया, इसी प्रकार से इच्छा शक्ति के प्राकट्य को वरुण के द्वारा बतलाया, और अर्यमा के द्वारा उसी के नापरूप, क्रिया को बतलाया। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये तीनों कैसी होवें ? शम् होवें, कल्याणकारी होवें। जब ये कल्याणकारी हो जायेंगी तो ज्ञान, इच्छा, क्रिया का पूर्ण सामरस्य हो जायगा। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का एक त्रिकोण है। इसकी यदि सामरस्यावस्था आपने प्राप्त करली, यदि प्रतिक्षण के अन्दर इसका अनुभव आपने कर लिया, तो आपके लिये मुक्त होना नहीं है, आप यहीं मुक्त हैं। श्रुति तो यहां तक कहती है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ. ४।४।६) उसके प्राण उत्क्रमण करके जायेंगे कहां ? श्रुति कहती है—तुमको कहीं जाना नहीं है। विचार करिये, संसार के सब धर्म आपको कहीं पहुंचाकर के आनन्द देना चाहते हैं। वैदिक धर्म आपको आनन्द देना चाहता है यहां, इसी क्षण। लेकिन कब ? यदि सामरस्यावस्था को प्राप्त करके आप अपने अधिपति बन सकेंगे, तब। जब तक आप अपने आधिपत्य को स्वतः प्राप्त नहीं करेंगे, जब तक आप परतन्त्र रहेंगे, परेरित रहेंगे, दूसरों के ज्ञान, इच्छा और क्रियाओं के द्वारा चलते रहेंगे, तब तक आप गुलाम रहेंगे। गुलाम कभी भी सुखी नहीं हो सकता, कभी भी आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता। चाहे आप नरक से डरिये, चाहे आप राज्य से डरिये, चाहे आप समाज से डरिये, जब तक आप उसको अपने से भिन्न समझोगे, तब तक आपका डरना हट नहीं सकता; और जब तक डरना हटेगा नहीं तब तक आप कभी भी सुख को प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रारम्भ में ही बतलाया था ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सामरस्य को प्राप्त करना है। जिसको ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है, उसको इच्छा-शक्ति की दृढ़ता के द्वारा क्रियारूप में परिणत करना है, तभी पूर्णता होगी। साथ ही बतलाया था कि आपका जीवन अद्वैत का जीवन है। आप एक टुकड़े नहीं हैं, जो आप अलग होकर के स्वतन्त्र हो जायेंगे। आप इस विशाल सृष्टि

के—केवल मानव सृष्टि के ही नहीं—इस विशाल सृष्टि के, अणु-अणु और परमाणु के अन्दर व्यापक हैं। आप ही सर्वत्र खेल रहे हैं, आपने ये सारी सृष्टि अपने खेल के लिये बनाई है, लेकिन भ्रान्ति के द्वारा आपने समझ लिया है कि कोई दूसरा इसको आप से खेलने के लिये बना रहा है। इस खेल को समझना, बस यही जीवन का उद्देश्य है।

तो वह सारी परम्परा प्रारम्भ कहां से हुई, हम मानव कैसे बनें ? यही प्रश्न था। लेकिन हमने आपको क्या बतलाया ? आप कहेंगे कि अभी आप कह गये कि हम न आपको मानव बनाना चाहते हैं, न दानव बनाना चाहते हैं। तो मानव शब्द का अर्थ अब बतला करके समाप्त कर देते हैं। मा नव, 'मा' कहते हैं संस्कृत में नहीं, यथा 'मा रोदीः' मत रो; और 'नव' शब्द का अर्थ होता है नया। जो कुछ तुम नये बने हो वह सब छोड़ दो; मा नव-नवीन न बनो; जो तुम्हारा वह आदि संकल्प था 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एक मेवाद्वितीयम', (छा० ६/२/१) जो तुमने सृष्टि के आदिकाल में संकल्प किया था कि मैं संसार खेल के लिये बना रहा हूँ, ये सारी नवीनताएं जो अपने अन्दर ले आये हो, इन सब को छोड़कर के फिर उस खेल में प्रतिष्ठित हो जाओ। 'सर्वं नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते' (वृ० १/४/३) वही मा नव है। जब तक आप वह नहीं बन जायेंगे, जब तक आप नवीन बनते रहेंगे, कुछ बनते रहेंगे, तब तक कुछ नहीं होगा। तो हम मानव कैसे बनें ? ज्ञान, इच्छा क्रिया के सामरस्य के द्वारा ही हम मा नव, जितनी हमारी नवीनता हैं उनको छोड़कर के सर्वथा स्वतन्त्र बन जायेंगे। यही हमारा आदर्श है। यही आपके सामने इस व्याख्यानमाला के अन्दर कुछ संक्षेप से रखा गया।

